बी. एल. आई. आई. सीरीज : २६

याकिनी-महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीत

योगबिन्दु

अनुवाद एवं व्याख्या

जैनभारती महत्तरा साध्वी मृगावतीश्रीजी महाराज की शिष्या

साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी म.सा.

संपादक

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

आचार्य हरिभद्रसूरि (वि.सं. ७५७-८२७) ने सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का जैन दर्शन में समन्वय करके अविरोध दर्शाया है जो वस्तुतः अनेकान्तवाद का सही अर्थों में पालन है । उनकी यह शैली योगबिन्दु में अत्यंत उत्कृष्टता के साथ दृष्टिगत होती है। भारत में अनेकविध योग की परंपराएँ प्रचलित हैं उन सभी के मार्ग एवं सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं किन्तु गन्तव्य सबका एक ही है वह है- मोक्ष।

मोक्ष की प्राप्ति हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार का पुरुषार्थ किया जाता है अतः मार्ग भिन्न होते हुए भी सभी का गन्तव्य एक ही होने के कारण अविरोध है। यह उनकी सहज अभिव्यक्तिकी अनुपम उपलब्धि है।

हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या का दुरुह कार्य महत्तरा साध्वी मृगावतीश्रीजी म. की विदूषी शिष्या साध्वी सुव्रताश्रीजी ने सरल एवं सुबोध भाषा में प्रस्तुत किया है। विषय को सहज करने के लिए आगम, आगमेतर, जैन-जैनेतर साहित्य एवं आध्यात्मिक ग्रंथों से गाथाएँ, श्लोक एवं पंक्तियाँ उद्धृत की है जिससे योग और सिद्धान्त जैसे जटिल एवं अनुभवगम्य विषय को अत्यंत सरल कर दिया है।

प्रस्तुत ग्रंथ को सर्वाङ्गीण बनाने हेतु डॉ. जितेन्द्र बी. शाह ने योगबिन्दु का संपादन एवं प्रस्तावना लिखने में अपनी विद्वत्ता का बहुत सुन्दर परिचय दिया है। उन्होंने ग्रंथगत समस्त ज्ञानराशि को संक्षिप्त, सुव्यवस्थित और सुबोध रूप में विद्वद् जगत् के समक्ष रखा है। जैन योग शास्त्र के मूल स्वरूप के अवबोध हेतु इस सुन्दर कृति को वाचकों का स्नेह प्राप्त होगा।

बी. एल. आई. आई. सीरीज : २६

याकिनी-महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीतः

योगबिन्दुः

अनुवाद एवं व्याख्याः

साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी म.सा.

संपादकः

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय विद्या संस्थान
वल्लभस्मारक, दिल्ली - ११० ०३६

याकिनी-महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीतः

योगबिन्दुः

●

अनुवाद एवं व्याख्या

साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी म.सा.

●

संपादक

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह

●

प्रकाशक

प्रो. गयाचरण त्रिपाठी

निदेशक

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय विद्या संस्थान

विजय वल्लभ स्मारक, जी. टी. करनाल रोड, अलीपुर, दिल्ली - ११० ०३६

फोन : (०११) २७२०२०६५

blinstitute1984@gmail.com

●

© B. L. Institute of Indology

●

प्रथम संस्करण

वर्ष २०१७

●

प्रति : १०००

●

मूल्य : रु. ६००/-

●

ISBN : 978-81-208-4186-4

●

मुद्रक

बालाराम ओफसेट

अहमदाबाद ३८०००४

मो. ९८९८०३४८९९

प्रकाशकीय

तत्त्वदर्शन के उत्कृष्ट मनीषी आचार्य श्री हरिभद्रसूरि (आठवीं शती) जैसे बहुश्रुत, बहुविद् और अनेक विषयों पर लगभग शताधिक ग्रन्थों के यशस्वी प्रणेता के द्वारा विरचित, जैन दर्शन और मान्यताओं की दृष्टि से योग का विवेचन करने वाला, **'योगबिन्दु'** नामक यह ग्रन्थ विद्वानों में अत्यन्त समादृत है। परम आदरणीया, भक्त-श्रावकगण वन्दनीया, पूज्य **साध्वी सुव्रताश्री जी** महाराज सा. के द्वारा प्रणीत इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगग्रन्थ के सरल और सरस हिन्दी में अत्यन्त मनोयोग एवं परिश्रमपूर्वक किये गये इस अनुवाद को प्रकाशित करते हुए यह संस्थान अत्यन्त आनन्द और गौरव का अनुभव कर रहा है। श्री हरिभद्रसूरि द्वारा संस्कृत-प्राकृत में विरचित योग विषयक चार ग्रन्थों में इसका विशेष महनीय स्थान है। इसमें भी वही प्रौढता है जो उनके अन्य संस्कृत योगग्रन्थ **'योगदृष्टि समुच्चय'** में परिलक्षित होती है।

इस अनुवाद को सर्वांगीण बनाने के लिए हमारे संस्थान के उपाध्यक्ष और अहमदाबाद स्थित एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी के मान्य निदेशक प्रो. जितेन्द्र बी. शाह ने एक विस्तृत प्रस्तावना लिख कर ग्रन्थगत समस्त ज्ञान-राशि को संक्षिप्त, सुव्यवस्थित और सुबोध रूप में प्रस्तुत कर दिया है जो पाठकों के लिए ग्रन्थ में सुगम प्रवेश हेतु मार्ग तो तैयार करता ही है, साथ ही जो स्वयं में भी स्वतन्त्र रूप से जैन योगशास्त्र के मूल स्वरूप के अवबोध हेतु एक सुन्दर आलेख है।

जैन परम्परा में उपलब्ध योग विषयक कृतियों में आचार्य हरिभद्रसूरि की यह कृति संभवतः सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें पातञ्जल योगशास्त्र के कुछ सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए भी जैन तत्त्व-दृष्टि और आचारशास्त्रीय मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही मूलतः योग का प्रतिपादन है। आचार्य हरिभद्रसूरि की दृष्टि से योग का अर्थ है मोक्ष, अर्थात् आत्मा का अपने मूल स्वरूप से संयोग जिसकी प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चरित्र रूपी रत्नत्रय के आधार पर अनुष्ठेय क्रियाओं द्वारा होती है। इनमें भी आचार पक्ष पर प्रमुख बल दिया गया है। केवल चित्तवृत्तियों के निरोध से जन्य समाधि इसमें प्रमुख नहीं, अपितु साधन मात्र है। निरोध सभी कायिक, मानसिक एवं वाचिक वृत्तियों का अभीष्ट है। वस्तुतः 'योगबिन्दु' में योग के व्याज से समस्त जैन दर्शन ही समाहित कर लिया गया

है। पातञ्जल अष्टांग योग के स्थान पर योगदृष्टि समुच्चय ग्रंथ में मित्रा आदि आठ दृष्टियों पर बल है, ध्यान की विस्तृत व्याख्या में उसके आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल स्वरूपों की चर्चा है। तथापि हरिभद्र जब भी जैनेतर किसी अन्य चिन्तन परम्परा से सहमत नहीं होते तो अत्यन्त सहजता और मृदुता के साथ उसकी कमी दिखाते हुए आगे चल देते हैं, यहाँ तक कि उनकी समन्वयात्मक दृष्टि मोक्ष प्राप्ति के योग-मार्ग में देवोपासना और जप आदि के महत्त्व को भी स्वीकार करती हुई चलती है। वे प्रारम्भिक द्वितीय-तृतीय श्लोक में कह भी देते हैं कि सभी योग-शास्त्रों में वास्तव में तत्त्वत: कोई विरोध नहीं है (*सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वत:*), क्योंकि सभी का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष ही हैं (*मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न तत: क्वचित्*)।

योग आध्यात्मिक जगत् में सम्पूर्ण मानव जाति को भारत की एक अनुपम भेंट है। इस चिन्तन और साधना-धारा के उद्‌भव का काल निर्धारण करना असंभव है, प्रागैतिहासिक काल से इसकी परम्परा चली आ रही है और आज भी अक्षुण्ण है। जब अन्य मानव जातियाँ अपने-अपने देवी-देवताओं या पितरों की समूर्त या अमूर्त उपासना करके संतुष्ट हो रही थीं तब भारतीय चिन्तक इस खोज में लगे थे कि 'मैं' कौन हूँ, मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है और मेरा निर्माता कौन है?' इसी प्रयास में उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाया कि 'मैं' अर्थात् आत्मा या स्व-तत्त्व एक शुद्ध-बुद्ध चैतन्य तत्त्व है जिसका ज्ञान और जिसकी स्वानुभूति समस्त आन्तरिक और बाह्य चित्तवृत्तियों के निग्रह से हो सकती है। कार्मिक मल और बाह्य जगत् से अत्यधिक लगाव और जुड़ाव विविध चित्तवृत्तियों को जन्म देता है जिनके उपशमन के पश्चात् ही चिन्तन की धारा अन्तर्मुखी हो सकती है और अपने शुद्ध 'स्व' को पहचान सकती है। भारत की समस्त दार्शनिक शाखाओं ने योग को स्वीकार किया और किसी न किसी रूप में उसे अपनी साधना में आत्मसात् किया। कई धाराओं में 'स्व' के वास्तविक स्वरूप का बोध और उसका साक्षात्कार ही जीवन का परम लक्ष्य बन गया।

आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व के तात्त्विक ऐक्य में विश्वास करने वाली धाराओं के लिये आत्मसाक्षात्कार ही परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार है जिसके बाद पुनर्जन्म समाप्त है- '*न स पुनरावर्तते*'। यही कारण था कि केवल वनवासी तपस्वी मुनि ही नहीं, अपितु कालिदास के रघुवंशी राजा भी '*योगेनान्ते तनुत्यजाम्*' में विश्वास रखते थे। योग एक साधना पद्धति भी है और परमात्म-तत्त्व से यह जुड़ाव-लगाव, या 'योग' उसका लक्ष्य भी। योग एक साधन भी है और स्वयं का साध्य भी। साधन और समुद्देश्य दोनों योग में एकस्वरूप हैं - इसी में जीवन की इतिकर्त्तव्यता है। इसी दृष्टि से भारतीय जनमानस ने एक ऐसे शिव स्वरूप परम-तत्त्व की परिकल्पना की है जो स्वत: 'योगीश्वर' होते हुए भी निरन्तर योगसाधना में लीन रहते हुए समाधिस्थ होकर स्वात्म में आत्मसाक्षात्कार करता रहता है - '*आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या*' (मृच्छकटिकम्, नान्दी)।

यह अपूर्व कृति इतने सुन्दर अनुवाद के साथ प्रकाशन हेतु अपनी ही इस संस्था को, जिसकी स्थापना उनकी ही गुरुमाता पूज्य श्री मृगावती महाराज सा. ने की थी, प्रकाशन हेतु भेंट करने के लिए, उनकी इस अहैतुकी कृपा के लिये हम उनके चरणों में शत शत नमन करते हैं और आशा करते हैं कि इसे पढ़कर साधक श्रमण-श्रावक मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होंगे।

हम प्रो. जितेन्द्र भाई शाह के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने न केवल ग्रन्थ का सम्पादन किया और उसकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना लिखी, अपितु जिन्होंने समर्थ होते हुए भी अपने संस्थान द्वारा इसे प्रकाशित न करके इसे बी. एल. इन्स्टीट्यूट को प्रकाशन हेतु देकर हमें उपकृत किया।

२१.१२.२०१७

गयाचरण त्रिपाठी
निदेशक
भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय विद्या संस्थान
दिल्ली

★ ★ ★

आर्थिक सौजन्य

- ★ लाला शादीलाल, प्रद्युम्नकुमार, सतीश, सुधीर, माता सुदर्शना जैन, रायसाहब परिवार अम्बालावाले हाल लुधियाना
- ★ लाला खुशीराम, शांतिदास, माता तिलक सुन्दरी धर्मदेव, चन्दनबाला नौलखा परिवार जीरावाले हाल लुधियाना
- ★ श्री शादीलाल प्रफूलचन्द्र अनिलकुमार जैन कसूरवाले हाल लुधियाना
- ★ श्री दीनानाथ प्रेमचन्द विक्रम जैन कसूरवाले हाल लुधियाना
- ★ श्री नगीनचन्द्र सुशीलावन्ती जैन परिवार, M/S. एवरेस्ट बेवरिज एण्ड फूड इन्डस्ट्रीस, मेरठ
- ★ श्री लक्ष्मणदास धर्मपाल विनोदकुमार जैन पट्टीवाले हाल लुधियाना
- ★ एक गुरुभक्त की ओर से
- ★ श्रीमती गुलशन जवाहरलाल जैन, पारसमणि जैन प्रितमपुरा, दिल्ली

शुभाशंसा

आजकल बहुप्रचलित शब्दों में से – 'योग' शब्द एक है । 'योग' शब्द की अनेकों परिभाषाएँ हैं, और योग शब्द से अनेरे भिन्न-भिन्न साधना प्रणालिकाएं भी प्रसिद्ध है । मगर जैन परंपरा में योग शब्द की परिभाषा है – जो आत्मा से परमात्मा का संयोग सिद्ध बना दे, जो संसारी आत्मा को सिद्धावस्था तक पहुँचा दे और अशुद्ध आत्मा को पूर्ण विशुद्ध बना दे, विभाव स्थिति से दूर कर जो स्वभाव में स्थिरता, रमणता करवा दे, उस प्रक्रिया का नाम है योग । योग शब्द का अर्थ एवं योग प्रक्रियायों को सूचित करते हुए स्वयं '**योगबिन्दु**' ग्रंथ के रचनाकार याकिनी महत्तरा सूनु साहित्यकार **आचार्यश्री हरिभद्रसूरिजी महाराज साहेब** ने कहा है –

अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद् योगः, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ ३१ ॥

जो वृत्तियां, प्रवृत्तियां मोक्ष यानि शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अचल, अक्षय, अपुनरावृत्ति रूप स्थान से आत्मा को जोड़ दे उसे योग जानें । वह योग पांच सोपानात्मक है – १. अध्यात्म, २. भावना, ३. ध्यान, ४. समता, ५. वृत्तिसंक्षय । और ये पांचों योग उत्तरोत्तर एक से बढ़कर एक है ।

वृत्तिसंक्षय तो कर्मसंक्षय के लिए अंतिम सोपान है । इस पुस्तक में इसी योग का बहुत ही सुंदर विवरण, विवेचन है । रचनाकार पूज्य श्री जी के लिए यह विवरण भले ही बिन्दु स्वरूप होगी मगर यदि इस बिंदु को पी लेते हैं तो साधना के अमृतसिंधु का पान ही साबित होगा हर एक साध्य के लिए; ऐसा मैं मानता हूँ ।

इस योगबिन्दु ग्रंथ का हिंदी भाषा में अनुवाद करने का जो सत्प्रयास **साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी महाराज** ने किया, वह बहुत ही अच्छा कार्य है, योगाभ्यासियों और योग के इच्छुक आराधकों, साधकों के लिए यह उचित देन हैं । मैं उन्हें आगे भी इसी प्रकार से श्रेष्ठ ग्रंथों के अनुवाद के लिए रत देखना, सुनना चाहता हूँ । इस कार्य के लिए मेरी ओर से शुभाशंसा !

विजय धर्मधुरंधर सूरि

पंजाब देशोद्धारक, न्यायाम्बोनिधि, नवयुग निर्माता जैनाचार्य १००८ श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वरजी महाराज
(प्रसिद्ध नाम श्री आत्मारामजी महाराज सा.)

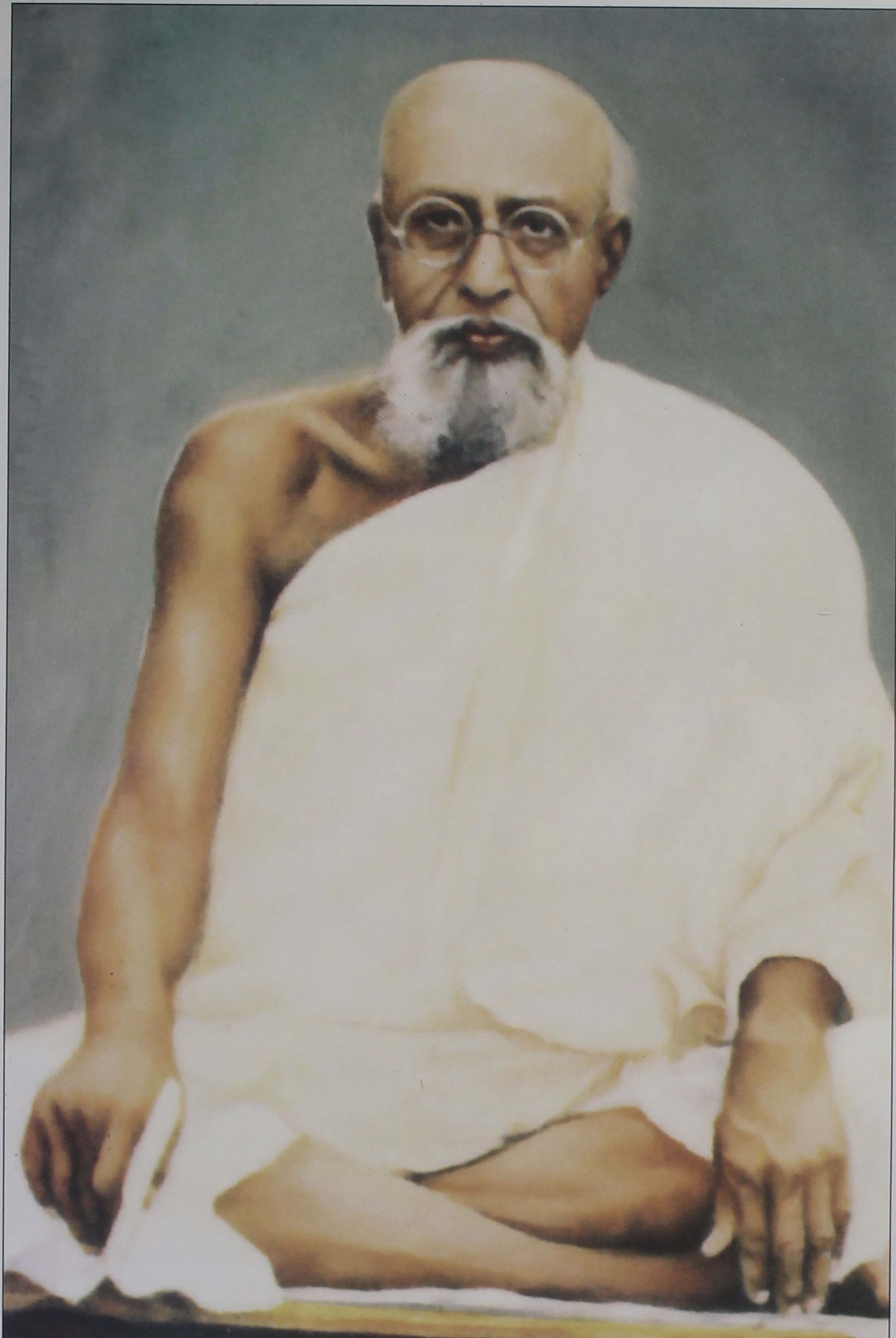

पंजाब केसरी, अज्ञानतिमिर तरणी, कलिकाल कल्पतरु युगवीर जैनाचार्य श्रीमद्
विजयवल्लभ सूरीश्वरजी महाराज सा.

जिनशासन रत्न, शान्तमूर्ति, राष्ट्रसंत आचार्य श्रीमद्
विजय समुद्रसूरीश्वरजी महाराज सा.

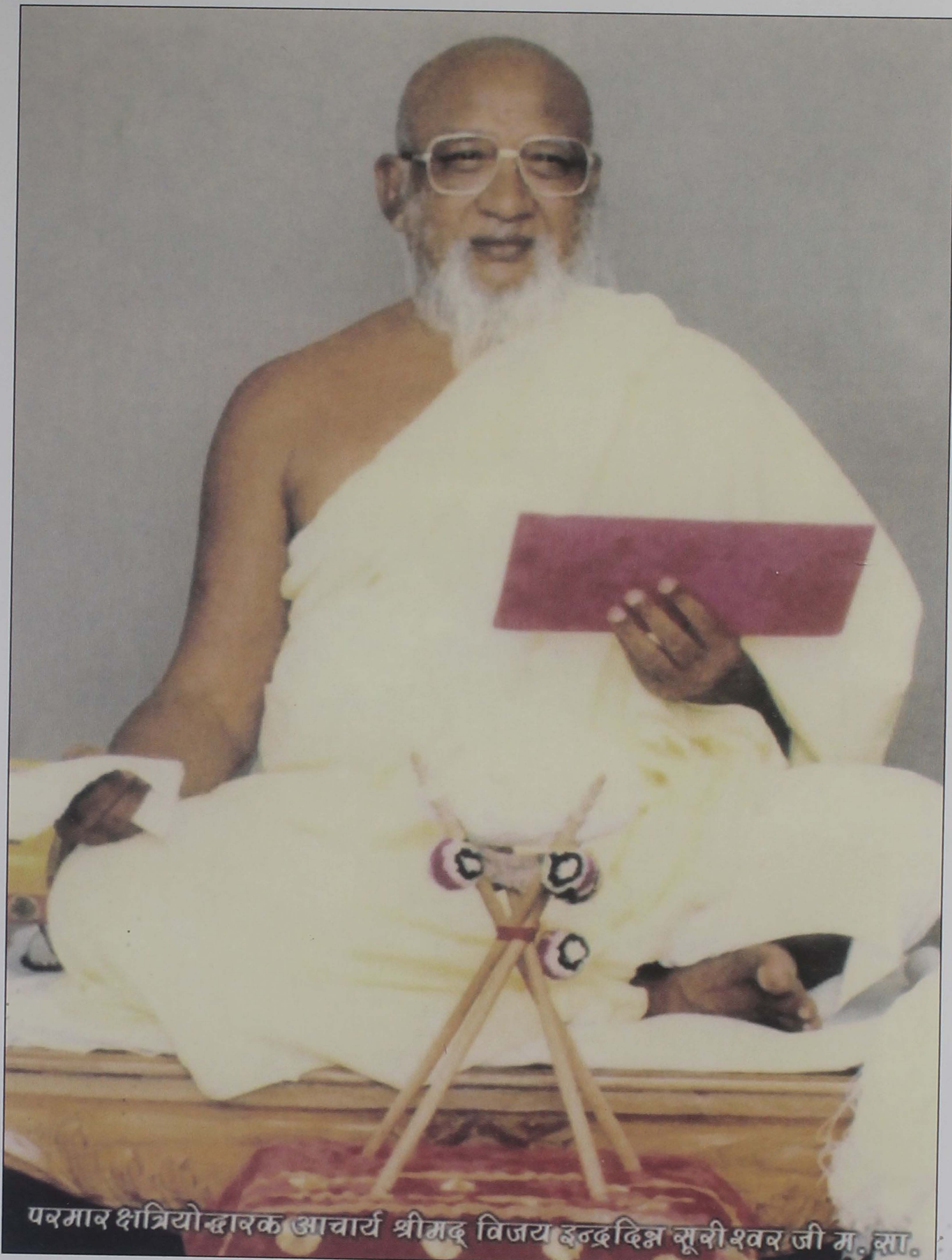

परमार क्षत्रियोद्धारक, चारित्र चूड़ामणि,जैन दिवाकर
आचार्य श्रीमद् विजयेन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज सा.

परम पूज्य कोंकण देश दीपक, गुरुदेव आचार्य श्रीमद्
विजयरत्नाकरसूरीश्वरजी महाराज साहेब ।

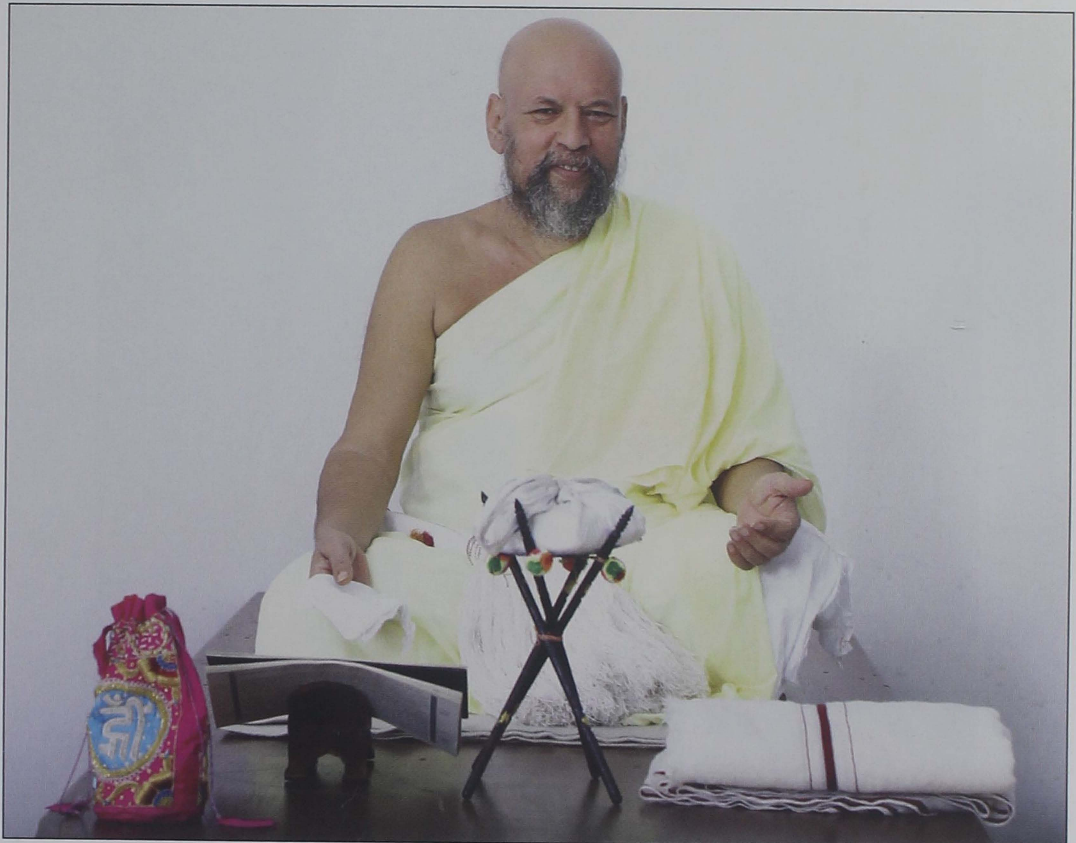

वर्तमान गच्छाधिपति पू. गुरुदेव आचार्य श्रीमद् विजय धर्मधुरंधर सूरीश्वरजी महाराज सा.

पू. सुज्येष्ठाश्रीजी म., जीवन शिल्पी मातागुरु पू. शीलवतीश्रीजी म., पू.मृगावतीश्रीजी म.

विजयवल्लभस्मारक प्रणेता, कांगड़ा तीर्थोद्धारक,
जैन भारती महत्तरा साध्वी पू. मृगावतीश्रीजी महाराज सा.

समर्पण

"देह छतां जेहनी दशा वर्ते देहातीत" देहातीत अवस्था का वर्णन प्रवचनों में बहुत सुना जाना समझा है। पढ़ा भी है लेकिन जब समय आता है हम निष्फल हो जाते हैं। जैन भारती महत्तरा साध्वी मृगावतीश्री जी महाराज की ऐसी दशा उनकी कठिन से कठिन शारीरिक पीड़ा के समय हमने अपनी नज़रों से देखी है, अनुभव की है। शरीर की अस्वस्थता में भी उन्हें सदा स्वस्थ पाया है। जब नींद न आये तब आनंदघनजी के पद को रटते थे और मस्ती का अनुभव करते थे। वह पद हैं :-

"अब हम अमर भये न मरेगें
या कारण मिथ्यात्व दियो तज
क्यूं कर देह धरेंगे अब हम अमर भये न मरेगें"

जिनकी समाधि स्थल पर भी उनका प्रियपद "**अब हम अमर भये न मरेगें**" लिखा गया है।

पू. मृगावती म.सा. की समाधि पर मुम्बई चौपाटी श्रीसंघ के मुख्य ट्रस्टी श्री सुधाकरभाई ने ट्रस्टियों को भावभरी विनती करके लिखवाया है "**एनुं नाम सन्त जो लावे भवनो अन्त**"

पू. मृगावती म.सा. के लिए सहारनपुर में भृगुसंहिता वालों ने कहा था "यह जीवात्मा मोक्ष की खोज में फिर रहा है। इनका पूर्वजन्म पंजाब में "स्यालकोट" शहर में हुआ था"।

उन्होंने आकाश जैसे विशाल, सागर जैसे गम्भीर, पृथ्वी जैसे सहनशील, स्फटिक जैसे निर्मल, निखालस, फलों से लदे हुए वृक्ष की तरह विनम्र, समता, शांति, सौम्यता, सौजन्यता "सर्व जीव करुं शासन रसी" आदि सद्‌गुणों के कारण जैन-जैनेतर छोटे-बड़े, जवान-वृद्ध, नये-पुराने विचारों वाले बुजुर्गों का भी मन जीत लिया था। समाज के अन्दर फैली हुई कुप्रथाओं, कुरुढ़ियो, अन्धविश्वासों, बाह्याडम्बरों को खत्म करके सादा जीवन उच्च विचारों का एवं जैनधर्म के शुद्ध तत्त्वों – सम्यक् दर्शन का उपदेश देकर शुद्ध श्रद्धा का प्रचार किया। इस तरह गुरु आत्मवल्लभ के

नक्शेकदम चलकर जिनशासन पर कुर्बान हो गये। अनासक्त योगियों जैसी जल में कमलवत् वृत्ति प्रवृत्ति अद्भुत जीवन पद्धति एवं अद्भुत गुणश्रेणी इसी बात को पुष्ट करती है वे जल्दी तरने वाले आत्मा थे।

पू. मृगावतीश्री जी महाराज ने अपने विद्यागुरु पू. पंडितवर्य बेचरदासजी की प्रेरणा पाकर मुझे प. पू. आचार्यश्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज के उत्कृष्टकोटि के "योगबिन्दु" ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद करने की प्रेरणा एवं आर्शीवाद देकर यह कार्य प्रारंभ करवाया। आज आपके चरणों में नत मस्तक हो कर कोटि-कोटि वंदना करती हूँ। हे मेरे गुरु महाराज ! ऐसा सुनहरा अवसर प्रदान करके आपने मेरे उपर अनन्त अनन्त उपकार किया है जिसके लिये मैं सदा आपकी ऋणी हूँ। सविनय कृतज्ञता पूर्वक यह ग्रंथ आपके करकमलों में समर्पण करके आपका और पू. पंडितजी का भी आभार प्रकट करती हूँ।

हमने पूर्वजन्म में सच्चे हीरे मोतियों का दान दिया होगा। पूर्वजन्म का हमारा पुण्यपुंज उदय होगा जो हमें सत्तयुग के सन्तों का समागम हुआ। अन्तर आत्मा चाहती है हमारे सभी के जीवनशिल्पी दादी गुरु प. पू. शीलवतीश्रीजी महाराज, स्थितप्रज्ञ पू.मृगावतीश्रीजी महाराज एवं सेवा, साधना एवं समर्पण की साक्षात् मूर्ति पू. गुरु बहन सुज्येष्ठाश्रीजी महाराज तीनों का सदा सदा पावन सानिध्य-छत्रछाया भवोभव में मिलता रहे। जिन्होंने जीना भी सिखाया, मरना भी सिखाया, वीतराग प्रभु के सच्चे पथ पर चलना भी सिखाया। मैं प्रतिदिन प्रार्थना करती हूँ हे प्रभु ! जब तक मेरी आत्मा मुक्त न हो मुझे पू.मृगावतीश्री जी महाराजजी के चरणों में वीतराग प्रभु की दीक्षा उदय में आए।

इन्हीं शुभ भावनाओं के साथ तीनों को पुनः पुनः कोटि कोटि सविनय वंदन।

साध्वी सुव्रताश्री

★ ★ ★

प्रस्तावना

आचार्य हरिभद्रसूरि की समदर्शिता :

भारतीय परंपरा में आचार्य हरिभद्रसूरि को समदर्शी के रूप में जाना जाता है। आचार्य हरिभद्रसूरि (वि. सं. ७५७-८२७) के जीवन एवं लेखन के विषय में पर्याप्त लिखा गया है। अतः यहाँ विस्तार से लिखना आवश्यक नहीं है। उन्होंने जैनागमों पर अनेक टीकाएँ लिखी, जैनागमों के विविध विषयों को लेकर अनेक प्रकरण, कथाग्रन्थ, दर्शन, योग, ज्योतिष एवं स्तुति ग्रंथ प्राकृत एवं संस्कृत दोनो भाषाओं में लिखे। योगदृष्टि समुच्चय एवं योगबिन्दु, योगशतक एवं योगविंशिका जैसे महत्त्वपूर्ण जैनयोग ग्रंथों की रचना की है। प्रस्तुत योगबिन्दु ग्रंथ जैनयोग का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें अन्य दर्शनों के साथ तुलना एवं समन्वयात्मकभाव दृष्टि गोचर होती है। इसमें उनके विचारों में उदारता दिखाई देती है। आचार्य हरिभद्रसूरि रचित अनेक ग्रंथों में अन्यान्य शास्त्रों, दर्शनों एवं धर्मों की प्रचुर मात्रा में चर्चा प्राप्त होती है। जहाँ-जहाँ आचार्यश्री ने अन्य शास्त्रों से उनके वचनों को उद्धृत किया है सभी जगह उन्होंने बहुत ही बहुमान एवं सन्मानपूर्वक ही उद्धृत किया है। यदि किसी दर्शन के मत का या सिद्धान्त का खंडन भी करना हो तो विवेकपूर्ण ढंग से ही उनकी समालोचना की है। शास्त्रवार्ता समुच्चय में तो विभिन्न दर्शनों के मतों का समन्वय करने की भी पूरी कोशिश की गई है। सभी दर्शनों के सिद्धान्तों का जैनदर्शन के साथ समन्वय करके अविरोध दर्शाया गया है और जैनदर्शन के अनेकान्तवाद का स्थापन किया गया है। यह आचार्य हरिभद्रसूरि की समन्वय करने की अद्भुत दृष्टि का परिचायक है। वैसी ही शैली योग के उनके द्वारा रचित अन्य ग्रंथों में भी पाई जाती है। भारत में अनेकविध योग परंपरायें प्रचलित हैं उन सभी के मार्ग भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, साधना पद्धति भी भिन्न-भिन्न दिखाई देती है, किन्तु गन्तव्य एक ही है और वह है मोक्ष। मोक्ष की प्राप्ति हेतु भिन्न-भिन्न प्रकार का पुरुषार्थ किया जाता है अतः मार्ग भिन्न होते हुए भी सभी का एक ही गन्तव्य होने के कारण अविरोध है। यह उनके सहज अभिव्यक्ति की अनुपम उलब्धि है।

योगबिन्दु ग्रन्थ के प्रारंभ में ही इस बात की स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि माध्यस्थ योगवेत्ताओं के लिए महोदय अर्थात् मोक्ष देने वाले सभी योगशास्त्रों में पारमार्थिक अविरोध स्थापित करने वाला प्रस्तुत योगबिन्दु ग्रंथ है। इस दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

योग शब्द की व्याख्या :

बहुश्रुत सुप्रसिद्ध ग्रंथ योगसूत्र में पतंजलि ने योग की व्याख्या करते हुए कहा है कि चित्त-वृत्तिओं को निरोध करने वाला योग है। योग समाधि साधक है। मन शांत एवं चित्त वृत्तिओं से रहित हो जाता है तब योग सिद्ध होता है किन्तु आचार्य हरिभद्रसूरि योग शब्द का अर्थ संयोग अर्थात् जोड़ने के अर्थ में ही लेते हैं और योग को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं कि जो मोक्ष से जोड़ता है वही योग है। योगविंशिका में कहा भी है कि –

मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वेपि धम्मवावारो ॥

मोक्ष के लिए जो धर्म व्यापार अर्थात् धर्म प्रवृत्ति है वही योग है। अर्थात् जहाँ आस्रव का त्याग हो, पंच-यम रूप महाव्रत हो, पांच इन्द्रियों का रोध हो, अष्टप्रवचनमाता और नवविध ब्रह्मचर्य का पालन हो, चार कषायों का निग्रह हो वही मोक्ष का मुख्य कारण होता है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग की व्याख्या केवल अष्टांग योग तक ही सीमित न रखकर सभी प्रकार की धर्मक्रियाओं तक विस्तृत करके अपनी विशिष्ट एवं समन्वयात्मक प्रज्ञा का परिचय कराया है।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस ग्रंथ में योग की व्याख्या, योग का विषय, योग का स्वरूप एवं योग के फल के विषय में सविस्तार चिन्तन किया है। वैसे तो आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के अन्य ग्रंथों की भी रचना की है। योगविंशिका, योगशतक, योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु ये चार प्रमुख ग्रंथ हैं जिसमें योग विषयक चिन्तन किया गया है। षोडशक आदि ग्रंथों में भी योग विषयक चिन्तन प्राप्त होता है। योगविंशिका में सूत्रात्मक शैली में केवल २० गाथाओं में योग विषय को व्याख्यायित किया है। योगशतक में सैद्धान्तिक दृष्टि से योग विषयक चिन्तन प्रस्तुत किया है जब कि योगदृष्टि समुच्चय में आचार्य हरिभद्रसूरि ने एक नई दृष्टि से ही योग के विषय को रखा है। अन्य योग दृष्टिओं के साथ समन्वय करने का प्रयास भी किया गया है। इस ग्रंथ में आचार्य हरिभद्रसूरि की मौलिक चिन्तन शक्ति का परिचय होता है। इन तीनों ग्रंथों की अपेक्षा योगबिन्दु ग्रन्थ बड़ा है और इसमें योग के पांच सोपानों की बात कही है। अष्टांगयोग की प्रचलित परंपरा का त्याग करके पंचाग योग की नई पद्धति का वर्णन करना यह भी आचार्यश्री का मौलिक चिन्तन है। उन्होंने इस ग्रंथ में (१) अध्यात्म, (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता, (५) वृत्तिसंक्षय का विस्तार से वर्णन किया है।

जैनधर्म में जीव के दो भेद किए गए हैं। एक मुक्त और दूसरा संसारी। जो कर्मबन्धनों से सर्वथा रहित है वे मुक्त हैं और जो कर्म बन्धनों से युक्त है वह संसारी है। कोई भी जीव-आत्मा से भिन्न कर्मवर्गणा के पुद्गल संयोग से संसारी है। वही कर्मवर्गणा के पुद्गलों से रहित हो जाता है तब उसे मुक्त कहा जाता है। अतः संसारी एवं मुक्त ये आत्मा का स्वभाव है। कर्म

संयोग को अन्य मतावलम्बी अलग-अलग नाम से पुकारते हैं । वेदान्ती माया, सांख्य दर्शनकार प्रकृति एवं जैन कर्म कहते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न दर्शनों में पाया जाने वाला भेद केवल शाब्दिक ही है । तात्त्विक रूप से कोई भेद नहीं है । आत्मा के साथ कर्म का संयोग होना यह आत्मा की योग्यता ही है यही आत्मा का अनादि स्वभाव है अतः कर्म-संयोग भी अनादि है । तथापि जीव साधना स्वरूप पुरुषार्थ से कर्म-संयोग का नाश करके सर्वथा शुद्ध बनने का स्वभाव भी रखता है । कुछ परंपरा यह मानती है कि ईश्वर की कृपा से ही जीव इस अनादि बन्धन से छूट सकते हैं । इस विषय में ग्रंथकार कहते हैं कि जीव की योग्यता के बिना ईश्वर-कृपा सफल नहीं होती है अन्यथा जड़-परमाणु के ऊपर किसी देव का महान अनुग्रह उसे आत्मा-चेतन में बदल देगा जो कभी भी संभव नहीं है । इस प्रकार योग्यता के कारण ही जीव कर्म का बन्ध करता है और जीव कर्म से मुक्त भी होता है । इसीलिए तात्त्विक रूप से योगमार्ग की साधना भी सम्भव होती है । इससे विपरीत यदि आत्मा की योग्यता रूप धर्म का स्वीकार न करने पर आत्मा को कूटस्थ नित्य या अनित्य मानना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में आत्मा को जन्म, मृत्यु आदि विविध परिणाम ही संभव नहीं हो पायेंगे । अतः आत्मा नित्यानित्यात्मक है । यहाँ ग्रंथकार कहते हैं कि –

लोकशास्त्राविरोधेन यद्योगो योग्यतां व्रजेत् ।
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु, हन्त ! नेष्टो विपश्चिताम् ॥२२॥

लोक और शास्त्र में अविरुद्ध योग ही यथार्थ योग कहलाता है । केवल श्रद्धा मात्र से माना गया योग बुद्धिमानों को इष्ट नहीं है । शास्त्र-वचन भी प्रत्यक्ष एवं अनुमान आदि प्रमाणों से बाधित न हो वही ग्राह्य हो सकता है ।

योग के पाँच प्रकार :

अध्यात्मं भावना ध्यानं, समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥३१॥

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय ये पाँचों मोक्ष के साथ जोड़ते हैं इसलिए ये पाँचों योग हैं और उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है । आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में योगसूत्र की प्रचलित अष्टांग योग की परंपरा को स्वीकार करते हुए अपनी नई विचार शैली से आठ दृष्टियों में उनका समन्वय किया है । किन्तु इस ग्रंथ में उन अष्टांग की जगह पर पाँच अंगों का वर्णन किया है । ये पाँच अंग भी अष्टांग योग की तरह ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं । इन पाँच अंगों का विस्तार से वर्णन करने से पूर्व ग्रंथकार योग का माहात्म्य दर्शाते है ।

योगमाहात्म्य :

आचार्य हरिभद्र के अनुसार योग उत्तम कल्पवृक्ष है, परमचिन्तामणि रत्न है, सर्व धर्मों में

प्रधान है, योग लौहचुंबक है, योग सर्व दुःखों का क्षय करने वाला है, योग से मन पवित्र बनता है, योग से संशय का विनाश होता है, योग साधना से दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है और उसके द्वारा साधक को इन्द्रियातीत (अतीन्द्रिय) आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि पदार्थों का सम्यक् बोध होता है।

योग से आग्रह की निवृत्ति, द्वन्द्व सहन करने की शक्ति, द्वन्द्व का अभाव, शुभोदय करने वाली धृति, क्षमा, सदाचार, योगवृद्धि, आदेयता, गुरुत्व एवं अनुत्तर-परमशान्ति, सुख भी योग द्वारा ही प्राप्त होते हैं। इस प्रकार योग का माहात्म्य वर्णन करते हुए योग साधना के प्रति साधक को अधिक पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी है। जैनधर्म में पूर्वजन्म के ज्ञान को जातिस्मरण ज्ञान कहा गया है। जातिस्मरण से पूर्वजन्म, परलोक आदि की सिद्धि होती है एवं कर्मवाद की भी सिद्धि होती है। जातिस्मरण भी योग द्वारा संभवित है। इसके लिए आचार्यश्री ने कहा है कि ब्रह्मचर्य, तपश्चर्या, शास्त्राभ्यास, मंत्रसाधना, तीर्थयात्रा, माता-पिता की सेवा, औषध आदि का दान, जीर्णोद्धार आदि सत्कार्यों एवं योग से जातिस्मरण ज्ञान होता है। योग से तत्त्वसिद्धि भी होती है। इसका विस्तार से वर्णन इस ग्रंथ में किया है। मनुष्य जन्म पाकर तत्त्वसिद्धि करना ही लक्ष्य होना चाहिए, तत्त्वसिद्धि वाद-विवाद या तर्क से कदापि नहीं हो सकती है। आचार्यश्री के अनुसार तत्त्वसिद्धि केवल अध्यात्म से ही हो सकती है। अध्यात्म ही उपाय है और अध्यात्म योगांग है अतः उसके लिए ही प्रयास करना चाहिए। सत् उपाय से ही लक्ष्य की सिद्धि होती है असम्यक् उपाय से कभी भी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती है अतः बुद्धिमान् पुरुष सम्यक् उपाय का आश्रय ले। वह उपाय अध्यात्मयोग ही है।

पंच समवाय की सिद्धि :

आचार्यश्री कहते हैं कि आत्मा के विभिन्न परिणामों से कर्मों का बन्ध होता है, उसके बाद कालानुसार सुख-दुखादि होता है यह सब स्वभाव बिना सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः काल, स्वभाव, नियति, कर्म एवं पुरुषार्थ इन पाँच के समवाय से कार्य की सिद्धि होती है।

चरमपुद्गल परावर्तकाल में ही अध्यात्म की सिद्धि :

जीव अनादिकाल से इस संसार में जन्ममरण की परंपरा में फंसा हुआ है। यह चक्र निरन्तर चलता रहा है। इन भवों में प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमादादि अशुभयोगों की तीव्रता से पापकर्मों में जकड़ा हुआ, ज्ञानरूपी लोचन से रहित, योग्य, अयोग्य, कृत्य-अकृत्य, भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदि के विवेक से शून्य, सम्यक् ज्ञानरूपी आँखों से रहित संसार में भटकता रहता है। ऐसे दुर्गुणों से युक्त प्राणी को कृष्णपाक्षिक कहा है। आचार्य हरिभद्रसूरि इसी को भवाभिनन्दी की संज्ञा देते हुये कहते है कि भवाभिनन्दी प्राणियों में आहार, भय और परिग्रह संज्ञा तीव्रमात्रा में होती है और इसी कारण वे दुःखी होते हैं। कुछ लोक धर्मकार्य करते हैं तथापि लोकपंक्ति का आदर करते हैं अतः पुनः दुःख का ही अनुभव करते हैं। भवाभिनन्दी का लक्षण बताते हुए कहा है कि

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसङ्गतः ॥८७॥

क्षुद्र, लाभरत, दीन, मत्सरी-ईर्ष्यालु, भयवान्, शठ, अज्ञानी-मूर्ख और निष्फल कार्यों में संलग्न रहनेवाले प्राणी भवाभिनन्दी होते हैं । इसका वर्णन करते हुए कहा है कि ऐसे जीवों की धर्मप्रवृत्ति निर्गुण से प्रेरित होने के कारण दूषित होती है। अपने इस मत के समर्थन में आचार्यश्री ने गोपेन्द्र के मत का उल्लेख किया है । वर्तमान में गोपेन्द्र नामक किसी योगीराज के कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है और ऐसा नाम अन्य परंपरा में भी प्राप्त नहीं होता है अतः आवश्यकता है कि इस विषय में अधिक संशोधन किया जाय ।

अध्यात्मप्राप्ति के उपाय :

जीव पर प्रकृति का प्रबल प्रभाव छाया हुआ है। अचरमावर्त काल में उस प्रभाव को नष्ट करना अति दुष्कर है किन्तु जब जीव चरमावर्त में प्रवेश करता है तब प्रकृति का प्रभाव क्षीण होने लगता है। अध्यात्म की प्राप्ति होती है। अध्यात्म की प्राप्ति के लिए आचार्यश्री ने पूर्वसेवा का निर्देश किया है । अन्य शास्त्रों में देव-गुरु आदि का पूजन, दान, सदाचार, तप और मुक्ति में अद्वेष को पूर्व सेवा कही है। आचार्यश्री ने इन सभी आचारों का विस्तार से वर्णन किया है। यह वर्णन अत्यन्त रोचक है, तर्कबद्ध है और साधक के लिए मार्गदर्शक भी है । इन सभी सद्गुणों का आसेवन करने से अध्यात्म सिद्धि होती है । अतः आचार्यश्री ने पूर्वसेवा को अत्यंत आवश्यक माना है ।

संसार में भवाभिनन्दिता से कोई भी क्रिया की जाय तो वह लाभप्रद नहीं होती है। संसार की आसक्ति से क्रिया करने वाले के मन में तथा विवेकहीनता से योग का आचरण करने वाले के मन में आत्मगुणों की साधना का भाव न होने के कारण सभी प्रकार की धर्मक्रिया दूषित हो जाती है । जैनधर्म में क्रिया को अनुष्ठान कहा है । इस प्रकार की वृत्ति से की जाने वाली क्रिया को असदनुष्ठान एवं सद्भावना से युक्त क्रिया को सदनुष्ठान कहा है। अनुष्ठान के पाँच प्रकार हैं (१) विषानुष्ठान (२) गरल अनुष्ठान (३) अनध्यवसायात्मक अनुष्ठान (४) तद्धेतु अनुष्ठान (५) अमृतानुष्ठान।

(१) विषानुष्ठान :- आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों का लब्ध्यादि की अपेक्षा से जो विनाश होता है, वह अल्प लाभ के लिए महाप्रयास की तरह लघुता लाने वाला विष समान अनुष्ठान है।

(२) गरल अनुष्ठान :- देव संबंधी भोगों की अभिलाषा से जो धर्मानुष्ठान किए जाते हैं वे आत्मा के शुद्ध परिणामों के नाशक और कालान्तर में अधःपतन का कारण बनता है इसलिए इसे गरल अनुष्ठान कहा है ।

(३) अनध्यवसायात्मक अनुष्ठान :- विवेक शून्य व्यक्ति की धर्मक्रिया को अननुष्ठान कहा है । इस प्रकार में मन की स्थिति किंकर्तव्यमूढ़ जैसी होती है ।

(४) तद्धेतु अनुष्ठान :- तात्त्विक अनुष्ठान पर राग होना और उस प्रकार के भावों से युक्ति क्रिया को तद्धेतु या सदनुष्ठान कहा है । इसमें शुभभाव का अंश होता है ।

(५) अमृतानुष्ठान :- जिनेश्वर प्ररूपित, शुद्ध श्रद्धा प्रधान, अत्यंत संवेगगर्भित अनुष्ठान को अमृत अनुष्ठान कहा है ।

चरमावर्तकाल में जीव में चतुर्थ सदनुष्ठान होता है । इस अवस्था में आत्मा अल्पमलवाला होता है । क्योंकि योगमार्ग में भावशुद्धि का ही विशेष महत्त्व है । भावशुद्धि होने पर निश्चित ही बंध अल्प-अल्पतर होने लगते हैं । कदाग्रह छूट जाता है । तब जीवात्माओं के सभी अनुष्ठान कल्याणकारी होते हैं । आग्रह की निवृत्ति होने पर अति उत्तम शुभभावों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होती है और उसके कारण अनुष्ठान क्लेशकारक नहीं होते हैं । ऐसे आग्रह रहित जीव ही संसार-परिभ्रमण करते हुए अंतिम आवर्त में प्रवेश करते हैं । तब जीव में स्वभावतः दोषों की निवृत्ति होने लगती है, गुणों से संपन्न होने लगता है । यहाँ उदारता, दाक्षिण्यता, विनय, विवेक आदि गुणों की वृद्धि होने लगती है । देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप, व्रत, पच्चक्खाण, दान आदि कार्यों में रूचि पैदा होती है और उनकी क्रिया क्रमशः उत्तम कोटि की होने लगती है और उसी को धर्म के अधिकारी अर्थात् अपुनर्बंधक कहा गया है ।

योगमार्ग में प्रवेश करने वाले साधक में विशिष्ट गुणों की उत्पत्ति होती है । अब उसे क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि कषाय बाधा नहीं पहुँचाते हैं । चित्त शान्त हो जाता है । आशय शुद्ध एवं महान होता है और हृदय विशालभाव युक्त होने के कारण बुद्धि मार्गानुसारी - सरल भावों से युक्त तथा विशिष्ट गुणों से युक्त होती है । साधक को यही विशेष लाभ प्राप्त होता है ।

उक्त गुणों वाला साधक अब सांसारिक सुखों के प्रति आसक्त नहीं होता है । संसार के सभी पदार्थों के प्रति वैराग्य प्राप्त होता है । भ्रांति की निवृत्ति हो जाती है और मुक्ति के प्रति राग पैदा होता है । ऐसी स्थिति में प्रतिस्रोतानुगामित्व भाव से प्रतिदिन योग वृद्धि पाता है । इस अवस्था को समझाने के लिए आचार्यश्री ने क्षुभित महासमुद्र का दृष्टान्त दिया है । जैसे समुद्र में ज्वार आने से नदी का प्रवाह उल्टा होने पर जल की वृद्धि होती है इसी प्रकार प्रकृति की तरफ मन और इन्द्रिय का प्रवाह बहता था वह प्रकृति का संबंध छोड़ने से पीछे की ओर मुड़ा हुआ भाव का प्रवाह आत्मस्वरूप में वृद्धि पाता है । ऐसे जीवों को भिन्नग्रंथी जीव भी कहा है । अर्थात् चित्त की अति तीव्र राग-द्वेषमय ग्रंथी को जिसने भेद डाला है । भिन्नग्रंथी जीवों का मन मोक्ष में और तन संसार में होता है ।

योग के अन्य तीन प्रकार :

शुद्ध अनुष्ठान, सत्शास्त्र-परतंत्रता एवं सम्यक् श्रद्धा ये तीन योग के प्रकार हैं ।

शुद्ध अनुष्ठान :- दोष विकार से रहित अनुष्ठान को शुद्ध अनुष्ठान कहा है। यहाँ सभी क्रिया सम्यक् ज्ञान और श्रद्धामूलक होती है। यह अनुष्ठान शुद्ध भूमि में मजबूत नींव की तरह होता है। यही भावी योग प्रासाद का कारण बनता है। साधक की सर्व कार्यों में विवेक पुरस्सर प्रवृत्ति होने के कारण महान लाभ प्राप्त होता है।

सत्शास्त्र परतंत्रता :- यह योग का दूसरा प्रकार है। यहाँ आचार्य बताते हैं कि अर्थ एवं काम में मनुष्य बिना उपदेश ही कुशल हो जाता है। परंतु धर्म में शास्त्र के बिना प्रवीणता नहीं आती है। अतः शास्त्रों का आदर करना, हित कारक है। इतना ही नहीं मोहरूपी अंधकार से युक्त इस लोक में शास्त्र का प्रकाश ही प्रवृत्ति का हेतु है। अतः साधक शास्त्र के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है। स्वच्छंद मति से क्रिया नहीं करता है।

शास्त्र का माहात्म्य दर्शाते हुए कहा है कि :—

पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम्।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥२२५॥

शास्त्र पापमय व्याधि के लिए औषध है, शास्त्र पुण्य का हेतु है, शास्त्र सर्वदर्शी चक्षु है, शास्त्र सर्व इच्छित वस्तु को सिद्ध करने का साधन है। अतः शास्त्र में भक्ति रखनी चाहिए।

सम्यक् श्रद्धा :

आत्मा, गुरु तथा धर्म में पूर्ण श्रद्धा रखने वाला योगी मोक्ष प्राप्त करता है। इन तीनों में श्रद्धा मोक्ष प्राप्ति में हेतु है। शास्त्र में ऐसी श्रद्धा को सिद्धि की दूती कहा गया है। तत्त्वार्थाधिगमसूत्र में सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा है और इन तीनों को रत्नत्रयी कहा है। इसमें भी सम्यक् दर्शन विशेष महत्त्वपूर्ण है। सम्यक् दर्शन से युक्त ज्ञान एवं चारित्र सम्यक् बनते हैं। सम्यक् दर्शन रहित ज्ञान एवं दर्शन महत्त्वपूर्ण नहीं है।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने इन तीनों को योग का अंग माना है। जो इन तीनों से युक्त साधना करता है उसकी साधना विशेष प्रगति साधक बनती है।

योगधर्म के अधिकारी और उसके अनुष्ठान :

औचित्यारम्भक - उचित प्रवृत्ति करनेवाला, अक्षुद्र-गम्भीर, प्रेक्षावान् - कुशाग्रबुद्धि, शुभाशयी-शुभपरिणामी, अवन्ध्यचेष्टा-सफलप्रवृत्ति - करनेवाला एवं कालज्ञ-समयज्ञ ये योगधर्म के अधिकारी हैं। इन गुणों से युक्त साधक का अनुष्ठान अन्तर्विवेक से समुत्पन्न, शान्त, उदात्त, विप्लवरहित होता है। इस प्रकार की क्रिया से अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथी को भेद देता है। अपूर्वकरण

करने के पश्चात् सम्यक् दृष्टि प्राप्त होती है । सम्यक्त्व प्राप्ति के पूर्व उसमें अपने तीव्र कषायों को मन्द करके प्रशमभाव में रहता है, नर एवं देव संबंधी भोगों को भी दुःखदायी समझकर संवेगभाव में रत होता है अतः साधक को केवल मोक्ष सुख की ही अभिलाषा रहती है । निर्वेद अर्थात् सांसारिक सुखों के प्रति अरति उत्पन्न होती है । अनुकम्पा अर्थात् संसार में प्राणियों के भयंकर दुःखों को देखकर उनके दुःखों को दूर करने की अभिलाषा करता है । आस्तिकता अतीन्द्रिय पदार्थों के अस्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है । इस प्रकार वह सम्यक् दृष्टि जीव उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता आदि गुणों से सुशोभित रहता है । सम्यक् दृष्टि जीव को हमेशा वीतराग प्रणीत सत्शास्त्रों को श्रवण करने की प्रबल इच्छा होती है, धर्म के प्रति राग होता है एवं साधु-साध्वी आदि गुरुओं की सेवा-शूश्रुषा करने की प्रबल भावना होती है । ये सब सम्यक् दृष्टि के लक्षण है। सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति में प्रमुख कारण तो परिणाम विशेष अर्थात् विशेष प्रकार का भाव ही है । वह तीन प्रकार का है ।

(१) यथाप्रवृत्तिकरण
(२) अपूर्वकरण
(३) अनिवृत्तिकरण

आन्तरिक परिणाम – विशुद्ध भाव द्वारा भव्यात्मा ग्रंथी को भेद करके सम्यक् दृष्टि प्राप्त करता है । आचार्यश्री ने सम्यक् दृष्टि जीव की तुलना बौद्धदर्शन सम्मत बोधिसत्त्व से की है । क्योंकि सम्यक् दृष्टि के सभी लक्षण बोधिसत्त्व में उपलब्ध होते हैं । सम्यक् दृष्टि की तरह बोधिसत्त्व केवल कायपाती – केवल काया से पतित होता है किन्तु चित्तपाती – चित्त से पतित नहीं होता है। अन्य सभी गुण परोपकार रसिकता, बुद्धिमत्ता, मोक्षमार्ग पर चलना, उदार-विशाल हृदय आदि गुण तो दोनों में ही समान होते हैं । इन गुणों से युक्त साधक तब कर्मग्रन्थी को नष्ट कर देता है तब उसे परम शान्ति, सुख-आनन्द का अनुभव होता है । इस प्रकार की स्थिति की प्राप्ति के लिए जैन दार्शनिकों ने तथाभव्यत्वता को कारण माना है । तथाभव्यत्व को भवितव्यता भी कहा है । भव्य जीवों में स्वाभाविक रूप से ही भव्यत्व गुण रहता है । जीवात्माओं को काल, नियति, स्वभाव, भावीभाव, कर्म और पुरुषार्थ रूप कारण समवाय पंचक भी उसकी वैसी-वैसी योग्यता के अनुसार ही प्राप्त होता है यही उसकी तथाप्रकार की भव्यत्वता है । इसको अन्य दर्शन में श्रद्धायुक्त स्थिति विशेष कहा है । कहा भी गया है कि **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'** अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा उसको फल मिलता है । अतः हम कह सकते हैं कि जिसकी जैसी श्रद्धा से युक्त सदनुष्ठान होगा उसको उतना ही फल प्राप्त होगा । यहाँ आचार्यश्री ने ईश्वरवादियों की ईश्वरकृपा और सांख्यमतालम्बियों की प्रकृति परिणति को कारण मानना दोषयुक्त माना है । कहा है कि यदि स्वभाव की योग्यता नहीं हो तो उक्त व्यवस्था घटित नहीं होती है ।

ग्रन्थी भेद कब होता है ?

जीव अनादिकाल से रागद्वेष की तीव्र गांठों के कारण जन्ममरण के चक्र में फंसा हुआ है । अद्यावधि अनन्त पुद्‌गल परावर्तकाल बीत चुका है तथापि जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं हो पाया है उसका मूल कारण तीव्र अज्ञान एवं महामोह माना गया है । मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति एवं जघन्य स्थिति का वर्णन हमें प्रथम कर्मग्रन्थ में विस्तार से प्राप्त होता है । मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटि सागरोपम है । अर्थात् उत्कृष्ट कर्मबन्ध ७० कोटाकोटि काल तक आत्मा के साथ बंधा हुआ रहता है और इस दौरान अन्य कर्मों का बंधन भी होता रहता है । जब जीवात्मा कर्मों की निर्जरा करता हुआ शम-संवेग आदि भावों से युक्त होता है और अपुनर्बन्धक स्थिति में आता है तब अनन्तानुबंधी कषायों का क्षय होता है । अब मोहनीय कर्म की स्थिति एक कोटाकोटि काल से भी अल्प हो जाती है । इस अवस्था में भिन्नग्रंथी और अभिन्नग्रंथी के बाह्याचार तो प्रायः समान ही होते हैं किन्तु दोनों में परिणामों की भिन्नता होती है । भिन्नग्रंथी वाले का परिणाम शुद्ध होने के कारण वह अन्तर से अनासक्त हो जाता है जबकि अभिन्नग्रंथी वाले का अंतर अशुद्ध होने के कारण बाह्य क्रिया कदाचित् शुद्ध भी होती है तथापि आन्तरिक परिणाम तो मलिन ही होता है। भिन्नग्रंथी वाला जीवात्मा सम्यक् दर्शन से संसार की असारता को सम्यक् तौर पर देखकर संसार की असारता एवं संसार की विचित्रता का ही चिन्तन करता है । उसमें परोपकार आदि गुणों की वृद्धि होती है । वह उत्तम बोधिवान जीवात्मा अन्य प्राणियों के हित के लिए कल्याणकारक प्रवृत्ति करता है और अपने कर्मों का क्षय करता है ऐसे जीवात्मा ही तीर्थंकर, गणधर, मुण्डकेवली, केवली, जैसे पद को प्राप्त होते हैं ।

यहाँ आचार्यश्री पुनः अपनी सर्वदर्शन समन्वयात्मक दृष्टि का परिचय कराते हैं । समदर्शीत्व का भी परिचय होता है । कहते हैं कि मुक्त, बुद्ध, अर्हत्, ईश्वर सभी समान है केवल नाम मात्र का ही भेद है । साथ ही साथ यह भी दर्शाया गया है कि अविद्या, क्लेश, कर्म, प्रधान आदि सब समान ही है उसमें भी केवल नाममात्र का भेद है । तात्त्विक रूप से तो सब समान ही है । अतः समभाव वाले इनमें भेद नहीं करते हैं किन्तु जिनमें दुराग्रह है वे तो नाममात्र के भेद से भेद करने लगते हैं और विवाद करते हैं । जो तत्त्वप्रेमी होते हैं वे संसार में कदाग्रह से मुक्त होकर समभाव से तत्त्व ग्रहण करने की इच्छा से ही कार्य करते हैं । आचार्यश्री यहाँ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण दिशानिर्देश करते हैं । शास्त्र का अध्ययन कैसे करना चाहिए ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि –

ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य, तद् गम्भीरेण चेतसा ।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो, ग्राह्यश्चेष्टार्थ सङ्गतः ॥ (३१७)

अर्थात् सर्वत्र दुराग्रह को छोड़कर, चित्त की गंभीरता से, शास्त्र का जो सार है वह इष्टार्थ संगत है या नहीं ? उसकी समालोचना करके ग्रहण करना चाहिए ।

दैव या पुरुषार्थ ?

ग्रंथकार ने प्रसंगोपात दैव और पुरुषार्थ की चर्चा की है। संसार में प्राचीनकाल से ही मानव मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता रहा है कि दैव-भाग्य बलवान है या पुरुषार्थ ? इसका जवाब पाना अत्यन्त कठिन है। इस विषय में आचार्यश्री का चिंतन बहुत गंभीर एवं बहुत ही तार्किक है। वे दैव और पुरुषार्थ दोनों को तुल्य ही मानते हैं। उनके अनुसार एक क्रियारूप है तो दूसरा उसी का फल है। दैव को प्रारब्ध, कर्म, नसीब, किस्मत, भाग्य आदि अलग-अलग नामों से जाना जाता है। पूर्वकाल में शुभ या अशुभ अध्यवसायों द्वारा शुभ या अशुभ क्रिया करके जो कर्म बंध होता है उसे ही दैव नाम दिया जाता है। उसी प्रकार जीवात्मा का इष्टार्थ-विवक्षित कार्यार्थ किया जाने वाला स्व-व्यापार रूप प्रयत्न ही पुरुषकार है। निष्कर्ष यह है कि स्वयंकृत पौर्वदेहिक कर्म को दैव जानना चाहिए, और इस भव में जो क्रिया-व्यापार किया जाता है वह पुरुषार्थ कहा जाता है। कर्म प्रबल हो और पुरुषार्थ दुर्बल हो तो कर्म नष्ट नहीं होता है उनसे विपरीत यदि पुरुषार्थ प्रबल हो और कर्म दुर्बल हो तो कर्म का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। जीवात्मा जब चरमावर्त में प्रवेश करता है तब पारमार्थिक उत्कृष्ट पुरुषार्थ से प्रायः दैव बाधित होता है किन्तु अचरमावर्त काल में पुरुषार्थ कर्म से बाधित हो जाता है।

ग्रंथीभेद होने के पश्चात् क्षयोपशमभाव से शुभ परिणाम की धारा को अनुक्रम से बढ़ाता हुआ और शुभ परिणामों से शुभ अनुष्ठानों को करता हुआ चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय कर देता है तब वह देशविरति चारित्र को प्राप्त करता है। तब साधक मार्गानुसारी, श्रद्धावान्, गुणवान्, पुरुषों में प्रीति रखनेवाला, गुणानुरागी, प्रशस्त पुरुषार्थी, शक्ति अनुसार सत्प्रवृत्ति करनेवाला होता है। तत्पश्चात् सर्वविरति चारित्र प्राप्त करता है। ऐसा चारित्र सिद्ध होने पर पूर्वोक्त अध्यात्मादि योग प्रवृत्त होता है।

अध्यात्मयोग :

औचित्य से व्रत का आचरण करना, शास्त्र-वचनानुसार तत्त्वचिन्तन करना, मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव के तत्त्व को सम्यक् रूप से समझना ही अध्यात्म है। ऐसे अध्यात्म से पाप का क्षय, तेज-ओजस् की वृद्धि, चित्त की समाधि, शाश्वत ज्ञान तथा अनुभव सिद्ध अमृत की प्राप्ति होती है।

भावनायोग :

नित्य वृद्धि पाने वाला और मन की समाधि से संयुक्त अध्यात्मयोग का प्रतिदिन पुनः-पुनः

अभ्यास करना ही भावनायोग है। यह अभ्यास अरुचि, खेद, प्रमाद आदि दोषों से रहित होता है। इस प्रकार के अभ्यास से अशुभाभ्यास की निवृत्ति, शुभाभ्यास की अनुकूलता, शुभोत्कर्ष-रूप भावना की वृद्धि होती है।

ध्यानयोग :

उत्तम भावना से युक्त, रागद्वेषात्मक अध्यवसायों को छोड़कर, चंचलता का त्याग करके वीतराग परमात्मा को ही हृदयकमल में प्रतिबिम्बित करके, स्थिर दीपक की धारा की भांति मन को स्थिर करना, एकाग्र करना, आत्मा का अत्यन्त सूक्ष्म उपयोग रखना ही ध्यान है। ऐसे ध्यान से सर्वत्र वशिता, मन की स्थिरता, संसार का व्यवच्छेद रूप फल की प्राप्ति होती है।

समतायोग :

अविद्या के कारण इष्टानिष्ट कल्पनाओं को सम्यक् ज्ञान के बल से दूर करने से जो समभाव पैदा होता है उसे समतायोग कहते हैं। ऐसे समतायोग से ऋद्धि के प्रति अप्रवृत्ति, सूक्ष्म कर्मों का क्षय और अपेक्षा तन्तु का विच्छेद जैसे फल प्राप्त होते हैं।

वृत्तिसंक्षययोग :

आत्मा का सहज स्वभाव निस्तरंग स्वयंभू-रमण-समुद्र जैसा गंभीर होता है। किन्तु अनादिकाल से मन-शरीर-कर्मवर्गणा आदि के कारण आत्मा के अन्दर नाना प्रकार की राग-द्वेष की संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तियों का जन्म होता है। ऐसी सभी वृत्तियों का अपुनर्भावरूप से नाश होने पर आत्मा विशुद्ध दशा को प्राप्त होता है। इस प्रकार उन सर्व वृत्तियों का सर्वथा क्षय हो जाने को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। वृत्ति-संक्षय से केवलज्ञान, शैलेशीकरणपद की प्राप्ति और सदानन्ददायिनी अनाबाधित मोक्षप्राप्ति होती है। अन्त में आचार्यश्री ने सास्रव योग, अनास्रव योग जैसे भेद भी किये हैं।

अध्यात्मयोग और वृत्तिसंक्षय योग का विशेष कथन :

औचित्य आदि गुणों से युक्त तत्त्व स्वरूप का चिन्तन करना अध्यात्मयोग है और यह अवस्थादि भेद से अनेक प्रकार का माना गया है। यथा जप को अध्यात्मयोग माना है। मंत्र का बार-बार परावर्तन, देवता का स्तवन आदि जाप है। अकलुषित मन से जाप करने से चित्त प्रसन्न होता है। यत्नपूर्वक शुभ अभिग्रह धारण करना, निज योग्यता का सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करना, धर्म में प्रवृत्ति करना और आत्मसंप्रेक्षण करना भी अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। कुछ आचार्य सम्यक् प्रकार से किये गए देव-गुरु वन्दन को, प्रतिक्रमण को और सभी प्राणियों में मैत्र्यादिभाव के चिन्तन को अध्यात्म कहते हैं। अन्त में आचार्यश्री ने समापन करते हुए कहा है कि आत्मा में अध्यात्मवृत्ति पैदा करने वाले अध्यात्म-योग को अनेक प्रकार का बताया है।

भावनायोग, ध्यानयोग एवं समतायोग का अभ्यास जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब मन की संपूर्ण चंचल वृत्तियों का नाश हो जाता है वही वस्तुतः वृत्तिसंक्षयः है। इसकी तुलना हम पतंजलि ने की हुई योग की व्याख्या के साथ कर सकते हैं। उन्होंने चित्तवृत्तियों के क्षय को योग कहा है। अंतर केवल इतना ही है कि यहाँ चित्त की तमाम वृत्तियों का क्षय हो जाता है। अर्थात् इस अवस्था में आत्मा की स्थूल और सूक्ष्म सभी प्रकार की वृत्तियों का अन्त हो जाता है।

योगाभ्यास के लिए आवश्यक गुण :

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योगाभ्यास के लिए उत्साह, निश्चय, धीरज, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपद – त्याग इन छः गुणों से योग की सिद्धि मानी है। पतंजलि ने केवल अभ्यास और वैराग्य को ही योगाभ्यास के लिए आवश्यक माना है, किन्तु आचार्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि –

आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च ।
विद्या प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम् ॥ ४१२ ॥

आगम से अनुमान और ध्यानाभ्यास में रुचि से, इन तीनों के द्वारा उत्तम योग को उपलब्ध होता है। इस प्रकार की साधना करता हुआ वृत्तियों का क्षय करने वाला साधक समाधि को प्राप्त करता है। इसको ही योगदर्शन में संप्रज्ञात योग कहा है और समस्त वृत्तियों के निरोधरूप वृत्तिसंक्षय ही असंप्रज्ञात योग है। यही धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवनाशक, शिवोदय, सत्वानन्द, परम समाधि है। अन्त में सिद्धयोगी शिवपद-मोक्ष को एवं सांख्य-दर्शन सम्मत सर्वज्ञ सिद्धान्त एवं पुरुष के सिद्धान्त की समालोचना की है। अंत में आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए तृष्णा एवं अहंकार का नाश आवश्यक माना है। यहाँ आत्मा की नित्यानित्यता के विषय में भी विचार किया गया है। अन्त में सर्व कर्म का क्षय करके आत्मा शिवगति को प्राप्त होता है।

अन्त में समापन करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि विद्वानों को कौन-सा सिद्धान्त अपना या-पराया ? अर्थात् विद्वानों के लिए कोई भी मत स्वमत या परमत नहीं है जो युक्तियुक्त है वही ग्राह्य है।

आचार्यश्री की हार्दिक इच्छा :

योगबिन्दु शास्त्र की समाप्ति में आचार्यश्री कहते है कि योगरूपी अगाध और अथाह समुद्र का अवगाहन करके मन, वचन और काया के शुभ योगों से मैंने जो पुण्य उपार्जित किया है वह समस्त पुण्य इस शास्त्र के अध्येता, आत्मकल्याण इच्छुक सभी साधक रागद्वेष से मुक्त होकर योगरूपी लोचनवाले हो अर्थात् योगरूपी दिव्यदृष्टि उन्हें प्राप्त हो।

इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग सिद्धान्त को जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में अनेक शास्त्रों

के सिद्धान्तों के साथ समालोचना करते हुए जैनदर्शन के योग को स्पष्ट किया है । यह ग्रंथ सभी योगदर्शन के अध्येताओं के लिए समन्वयात्मक दृष्टि प्रदान करनेवाला और अध्यात्म साधन में मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है अतः अवश्य पठनीय एवं मननीय ग्रंथ है ।

योगबिन्दु ग्रन्थ का प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद :

योगबिन्दु ग्रंथ का हिन्दी भाषा में अनुवाद करना अत्यंत दुरुह कार्य था । पंडित बेचरदास दोशीजी ने इस ग्रंथ का अनुवाद करने की प्रेरणा दी थी । इस बीच साध्वी मृगावतीश्रीजी म.सा. का चातुर्मास दिल्ली में ही था और भगवान महावीर स्वामी की २५००वीं निर्वाण कल्याणक उत्सव राष्ट्रीय स्तर पर हो रहा था । उन्होंने अपनी शिष्या सुव्रताश्रीजी को अनुवाद करने का कार्य करने की प्रेरणा एवं आशीर्वाद दिया । साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी ने गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य करके अनुवाद का अत्यन्त कठिन कार्य प्रारंभ किया । प्रारंभ में अनेक प्रकार की समस्याएँ आई किन्तु साध्वीजी को गुरु का आशीर्वाद एवं पं. बेचरदास दोशीजी का मार्गदर्शन मिलता गया और चातुर्मास के दौरान ही यह कार्य संपन्न हो गया । प्रस्तुत अनुवाद की भाषा सरल एवं सुबोध शैली होने के कारण पाठक के लिए प्रस्तुत अनुवाद एक उत्तम साधन स्वरूप है । कठिन परिभाषाओं को सरल भाषा में प्रस्तुत किया गया है । साथ ही साथ विषय को समझाने के लिए आगम, आगमेतर साहित्य, जैन साहित्य, जैनेतर साहित्य, आध्यात्मिक ग्रंथों में से अनेक गाथाएँ, श्लोक एवं पंक्तियाँ उद्धृत की गई है जिससे विषय को सरलता से समझा जा सकता है । योग और सिद्धान्त जैसे जटिल एवं अनुभवगम्य विषय को विदुषी साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी ने सरल भाषा में प्रस्तुत करके जिज्ञासुओं के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है ।

हिन्दी अनुवाद का संशोधन करने में प्रो. बालाजी गणोरकर एवं सुश्रावक श्री पुष्करराज सोलंकी का सहयोग मिला है इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ । पू. साध्वीजी सुव्रताजी ने इस ग्रंथ का संपादन कार्य मुझे सौंपा उसके लिए मैं उनका भी हृदय से आभारी हूँ । यह संपादन कार्य करते हुए मुझे स्वाध्याय का जो अवसर मिला इसके लिए मैं सदैव ही साध्वीश्री सुव्रताश्रीजी एवं सुप्रज्ञाश्रीजी का ऋणी रहूँगा ।

१८.१२.२०१७

जितेन्द्र बी. शाह
ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर
अहमदाबाद

★ ★ ★

अनुवादक की ओर से....

चरम तीर्थंकर परमात्मा महावीर स्वामी भगवान की २५००वां निर्वाण शताब्दि (ई.स. १९७४) वर्ष चल रहा था। शान्तमूर्ति प.पू.आचार्य श्रीमद् विजयसमुद्रसूरिजी महाराज की आज्ञा से हम पू. मृगावतीश्रीजी म.सा. आदि सभी साधु-साध्वीवृन्द दिल्ली रूपनगर में चातुर्मास हेतु पधारे थे। हम सभी के मन में अपार उत्साह था। आराधना साधना चल रही थी। उस समय पंडितवर्य श्री बेचरदास दोशी, पू. साध्वीश्री मृगावतीजी के पास आए थे। पंडितजी ने हमारे गुरु श्री मृगावतीजी महाराज को पुत्रीवत् वात्सल्यभाव से जैन आगमग्रंथों का अभ्यास करवाया था और उनका वाल्सल्यभाव जीवनभर अक्षुण्ण रहा और बढ़ता ही रहा। उन्होंने याकिनी महत्तरा सुनू आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित योगबिन्दु ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन हेतु प्रेरणा दी थी। किन्तु महत्तरा साध्वीजी म. शासन के अनेकविध कार्यों में व्यस्त थे फिर भी उन्होंने मुझे योगबिन्दु का हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन हेतु आदेश दिया। मैं तो इस विषय में अनभिज्ञ थी और मेरे लिए ऐसे प्रौढ़ ग्रंथ का विवेचन करना कठिन कार्य था। पू. महाराजश्रीजी ने कहा तुम प्रयास करो सब कुछ गुरुकृपा से हो जायेगा। तुम कार्य प्रारंभ करो ! जहाँ कहीं तु रुकेगी मैं तुम्हें मार्गदर्शन देती रहूँगी। यह सुनकर मुझे हिंमत आई। गुरुदेव के आदेश को शिरोधार्य किया। परमात्मा एवं गुरु भगवंतों का स्मरण करते हुए आचार्य हरिभद्रसूरि के इस ग्रंथ पर कार्य करना प्रारंभ किया।

पू. गुरुमहाराजजी ने रूपनगर में ही एक एकान्त स्थल पसंद कर दिया और सुबह के सभी कार्य निष्पन्न करके अनुवाद का कार्य करने बैठ जाती थी। योग मेरा विषय नहीं था मैंने योग का अभ्यास भी नहीं किया था किन्तु गुरुकृपा से ऐसी शक्ति मिली कि मैंने कार्य करने का संकल्प भी कर लिया कार्य बनने लगा। प्रथम २५ श्लोकों का अनुवाद एवं विवेचन करके पंडितवर्य श्री बेचरदासजी को भेजा। उन्होंने सारा मेटर पढ़कर अनेक सुझाव दिये इतना ही नहीं साथ ही साथ उन्होंने स्वयं २५ श्लोकों का विस्तृत विवेचन लिखकर भेजा। उस समय पंडितजी की आयु ८५ वर्ष के करीब थी उनका वात्सल्य भाव मुझे कार्य करने में सदा उत्साह देता रहा। मैंने उसी अनुवाद को आधार बना करके आगे का कार्य प्रारंभ किया। चातुर्मास में पू. गुरु महाराजजी ने मुझे अन्य सभी कार्यों से मुक्ति दे दी। पर्युषण की आराधना एवं ओलीजी की आराधना को छोड़कर बाकी का सभी समय मैंने इसी में लगाया।

आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनयोग विषयक अनेक ग्रंथ रचे हैं । योगविंशिका, योगशतक, योगदृष्टिसमुच्चय एवं योगबिन्दु प्रमुख हैं । षोडषक एवं पंचाशक में भी योग की चर्चा प्राप्त होती है । जैनदर्शन में मोक्ष के साथ जोड़ने वाली सभी क्रिया को योग कहा है । मैंने अनुवाद करते हुए अनेक बार यही अनुभव किया हैं कि जैन साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं की सभी धर्मक्रियाओं में योग समाविष्ट है । योग भारतीय संस्कृति की अद्‌भुत खोज है । यह विश्व को भारत देश की अनुपम भेंट है ।

प. पू. याकिनी महत्तरा साध्वीजी महाराज की हम भूरि भूरि अनुमोदना करते हैं जिनकी पावन प्रेरणा से प. पू. हरिभद्रसूरिजी महाराज ने १४४४ ग्रंथ लिखकर श्रीसंघ पर परम उपकार किया।

मुझे अनुवाद के कार्य में सबसे बड़ा सहारा आचार्य योगनिष्ठ बुद्धिसागरसूरिजी म.सा. एवं आचार्य ऋद्धिसागरसूरिजी म.सा. द्वारा गुजराती भाषा में किये गये विवेचन का मिला इसलिए हम उनके खूब खूब आभारी हैं । उनको नत मस्तक वन्दन करते हैं । इलाहाबाद की साहित्यरत्न परीक्षा के कारण हिन्दी भाषा सरल एवं सहज थी । चातुर्मास पूर्ण होते ही मेरा कार्य भी संपन्न हो गया।

पू. आत्मारामजी महाराज की जन्मभूमि लहरा तीर्थ का उद्धार, कांगड़ा तीर्थ का उद्धार, चंडीगढ़ में जिनालय निर्माण, अंबाला में जैन कॉलेज का उद्धार, लुधियाना में मालेरकोटला आदि स्थानों के शासन कार्यो में तथा विजयवल्लभस्मारक-शिलान्यास आदि कार्यों में पू. मृगावतीश्रीजी महाराज की व्यस्तता रही । इस बीच हमारे परमोपकारी गुरु मृगावतीश्रीजी महाराज का स्वर्गवास हो गया, इससे आठ मास पूर्व पू. सुज्येष्ठाश्रीजी महाराज का स्वर्गवास हो गया । यह हम सभी के लिए अत्यन्त असहनीय वज्राघात था किन्तु मन को मजबूत करके पू. गुरु महाराज मृगावतीश्रीजी के प्रारम्भ किये हुए विजयवल्लस्मारक के कार्यों में समय लगाया, जैनभारती मृगावती विद्यालय का निर्माण एवं उद्‌घाटन करवाकर पंजाब, जीरा, हिमाचल-कांगड़ा, जम्मू आदि विचरे। पू. गुरुदेव इन्द्रदिन्न सूरीश्वरजी महाराज की आज्ञा से पू. मृगावतीश्रीजी की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवा कर उत्तरप्रदेश, बिहार, समेत शिखर की यात्रा, कल्याणक भूमियों की यात्रा, बंगाल, उडीसा, आन्ध्रप्रदेश आदि में विचरे।

विजयवल्लभ स्मारक, दिल्ली से हम लोग गुजरात की ओर विचरण करने निकले । गुजरात में सन् २००७ का हमारा चातुर्मास अहमदाबाद के विश्वविख्यात संशोधन संस्थान एल. डी. इन्स्टीट्यूट ऑफ इन्डोलॉजी में रहा । यहाँ हमारा अध्ययन एवं स्वाध्याय चलता रहा । संस्थान के निर्देशक प्रो. श्री जितेन्द्रभाई शाह से अलग-अलग विषयों पर चर्चायें होती रही। हमने हमारे अध्ययन काल को पुनः जागृत होते देखा। एक बार जितेन्द्रभाई शाह ने योगबिन्दु अनुवाद का विषय छेड़ा और कहा पंडितजी के पास पढ़ता था तब आपको योगबिन्दु के कुछ श्लोकों का अनुवाद भेजा था।

पंडितजी अनुवाद करते थे और लिखवाते थे, मैं ने योगबिन्दु अनुवाद के कुछ पन्ने अपने हाथों से लिखे थे। यह संदर्भ भी दिया और इस कार्य का क्या हुआ इस विषय में पृच्छा की। यह बात उठते ही हमारे मन में अनुवाद कार्य पुनर्जीवित हो गया। हमने दिल्ली से हाथ से लिखा हुआ सारा अनुवाद मंगवा लिया।

सर्वप्रथम हमने इसका टाईप का काम करवा लिया। एल. डी. इन्डोलॉजी, अहमदाबाद में सेवारत डॉ. हेमवतीनन्दन शर्माजी को दिया उन्होंने प्रूफ रीडिंग का कार्य किया। हम उनका यहाँ आभार ज्ञापित करते है।

श्री जितेन्द्रभाई ने कहा कि भाषा तो ठीक हो जायेगी प्रकाशन पूर्व विषय का संशोधन भी अत्यन्त आवश्यक है किन्तु इस बीच हमारा अहमदाबाद से विहार हो गया। श्री शंखेश्वर तीर्थ की यात्रा करते हुए पाटण चौमासा किया फिर कच्छ की यात्रा करते हुए सिद्धगिरितीर्थ पालीताणा में चौमासा किया। वहां मालतीबहन के मार्गदर्शन से इसकी शैली में सुधार किया। किन्तु अब मन में योगबिन्दु ही रम रहा था। पू. गुरुदेव की कृपा से यह कार्य संपन्न हुआ पड़ा था किन्तु विषय को प्रस्तुत करते हुए मेरे से कोई गलती न रह गई हो, यह भाव सदा मन में रहा। अतः प्रकाशन कार्य में विलंब होता रहा। सरधार में श्री जितेन्द्रभाई शाह के मार्गदर्शन में पू. मृगावतीजी महाराज के जीवनचरित्र के प्रकाशन कार्य में ही व्यस्त रहे अतः योगबिन्दु का कार्य पुनः आगे बढ़ नहीं पाया। किन्तु मेरे मन में इस ग्रंथ के प्रकाशन की चिंता सतत रहा करती थी। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु हमने पुनः श्री जितेन्द्रभाई का संपर्क किया। उन्होंने ग्रंथ के संपादन की जवाबदारी स्वीकार ली हम निश्चित बन गये।

एल.डी.इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी के ट्रस्टियों की विनती एवं वर्तमान गच्छाधिपति आचार्य भगवन् श्रीमद् विजय धर्मधुरंधरसूरिजी महाराज की आज्ञा से हमारा सन् २०१६ एवं २०१७ का चातुर्मास अहमदाबाद के इस संस्थान में हुआ। डॉ. श्री जितेन्द्रभाई शाह के मार्गदर्शन में हमने अध्ययन एवं पू. मृगावतीश्रीजी महाराज के मुम्बई में समस्त उपनगरों में दिये गये प्रवचनों का संकलन, कुछ हिन्दी भाषा में दिये गये प्रवचनो का संकलन, पू. महाराजश्रीजी के उपर आये हुए पू. आचार्य भगवन्तों एवं विद्वानों आदि के आये हुए पत्रों का कार्य करने आये थे। जो अभी चल रहा है। हमारा योगबिन्दु का कार्य पूर्ण हो रहा है यह हमारे लिए आनन्द का अवसर है।

परम. पू. वर्तमान गच्छाधिपति श्रुतभास्कर, शासन प्रभावक आचार्य श्रीमद् विजय धर्मधुरंधरसूरीश्वरजी महाराज साहब ने हरिभद्रसूरि रचित योगबिन्दु ग्रंथ के हिन्दी अनुवाद के लिये अपने आशीर्वचन देकर हमारे उपर बहुत उपकार किया है। हम उनके सदा-सदा कृतज्ञ एवं आभारी हैं।

विद्वद्वरेण्य डॉ. श्री जितेन्द्रभाई शाह ने आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित योगबिन्दु का हिन्दी अनुवाद खूब शुद्ध एवं विद्वानों को ग्राह्य हो ऐसा संपूर्ण प्रकाशन तक का कठिन उत्तरदायित्व संभालकर हमें निश्चित बना दिया है। उनके द्वारा लिखित इस ग्रंथ की प्रस्तावना पढ़कर चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा जैसे सम्यग् दर्शन को मोक्ष का द्वार कहा है उसी तरह यह प्रस्तावना ग्रंथ का द्वार है ऐसी अनुभूति हुई। सागर जैसे ग्रंथ को प्रस्तावना रूपी गागर में भर कर प्रत्येक जिज्ञासु विद्यार्थी विद्वान् एवं पाठक के लिए प्रवेशद्वार का अद्‌भुत कार्य किया है। प्रस्तावना पढ़ते ही जिज्ञासु को इस योगबिन्दु को पढ़ने की उत्सुकता, उत्कंठा, जाग्रत होगी।

प्रस्तुत ग्रंथ का कार्यभार स्वीकार करके डॉ. श्री जितेन्द्रभाई शाह ने हमारे उपर अनहद उपकार किया है। उन्होंने हमारा आभार मान कर अपनी निःस्वार्थ परोपकार परायणता, महानता, सौजन्यता, उदारता, गम्भीरता का परिचय दिया है। हमारे गुरु महाराज पू. मृगावतीश्री जी के अन्य-अन्य जिन कार्यों के लिए हम आये हैं। उन सभी की जवाबदारी पूरी सम्भाली है। आपके उपकारों का बदला हम चुका नहीं सकते; हम भी आप के ऋणी रहेगें। इस ग्रंथ के प्रकाशन में हमें श्री पुष्करराज सोलंकी, बालाजी गणोरकर एवं संस्थान के अन्य कर्मचारिओं का सहयोग मिला। उन सभी के सहयोग के लिए अत्यंत आभारी हैं।

यह ग्रंथ योग का ग्रंथ है इसमें मोक्ष साधना की बात कही गई है। विद्वान एवं जिज्ञासुओं को प्रस्तुत अनुवाद से लाभ होगा। इस कार्य को करते हुए जो पुण्योपार्जन हुआ है उससे जिज्ञासुओं को लाभ हो और योग मार्ग में प्रगति करें यही भावना मन में सदा रहती है। अंत में हमारा पुण्य उनकी साधना में सहयोगी बने ऐसी भावना करते हैं।

इस ग्रंथ का अनुवाद करने में जिनाज्ञा विरुद्ध, कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिए में मन-वचन-काया से क्षमा याचना करती हूँ – करबद्ध, नतमस्तक मिच्छामि दुक्कडम देती हूँ।

१८.१२.२०१७

जैनभारती पू.मृगावतीश्रीजी महाराज
की शिष्या
साध्वी सुव्रताश्री

★ ★ ★

श्लोक विषयानुक्रमणिका

श्लोक संख्या	विषय	पृष्ठ क्रमांक
१-२	मंगलाचरण पूर्वक योगबिंदु ग्रंथ की रचना करने का प्रयोजन	१
३	योग मोक्ष का हेतु होने से साध्य का अभेद होने से, वचनभेद अविरोधी है	२
४	योग मोक्ष का हेतु किस प्रकार से है	३
५	गोचर-स्वरूप और फल के यथार्थ संबंध रूप योग	५
६	आत्मा संसारी और मुक्त किस कारण से कहलाती है	७
७	आत्मा के विकास में देवों का अनुग्रह किस प्रकार मोक्ष का हेतु हो सकता है	८
८-९	केवल एक ही आत्मा मानने वाले का मत किस प्रकार भूल भरा है	१०
१०	जीव का कर्म से संबंध होने में कारण रूप योग्यता अनादि स्वभाव है	११
११	योग्यता नहीं मानने से किस प्रकार विरोध होता है	१३
१२	गोचर स्वरूप और फल के यथार्थ संबंध रूप योग	१४
१३-१४	जीव में कर्मबंध करने की योग्यता रही हुई है	१५
१५	उपचार किस तरह किया जाता है	१६
१६	आत्मा का पुरुषार्थ भी योग्यता स्वभाव से किस प्रकार है	१७
१७	वेदांत आदि अन्य दर्शन और जैन दर्शन में भाषा का क्या भेद है	१८
१८	दर्शनों में भेद होने से शब्दभेद तो होगा ही	१८
१९	सकल कारण रूप योग्यता से क्या सिद्ध होता है	१९
२०	योग की सिद्धि के बाद, सर्व पदार्थ एकांत नित्य या एकांत अनित्य है, यह मानने में क्या बाधा है	२०

२१	दैव और पुरुषकार की तुल्यता किस प्रकार है	२१
२२	गोचरादि की शुद्धि द्वारा योग की विचारणा किसलिये करनी	२२
२३	योग की सिद्धि आगम प्रमाण से होती है	२३
२४	योग तत्त्व के वचनों का विचार किसलिये करना	२४
२५	कैसे पुरुष के वचनों में प्रवृत्ति करनी	२५
२६	उपरोक्त से विरुद्ध प्रवृत्ति दोषसहित है	२५
२७	प्रत्यक्ष प्रमाण और आगम प्रमाण से निश्चय होता है	२६
२८-२९	वचन का भेद बाधक होता है, यह शंका और उसका समाधान	२६
३०	आगम के अनुसार योगमार्ग बताने का प्रारंभ	२७
३१	योग मार्ग के भेद	२७
३२	अन्य दर्शनकारों के मत से योग के नाम	३३
३३	इन भेदों का भेदपूर्वक तात्त्विक सार	३३
३४	सास्रव और निरास्रव भेद का स्वरूप	३४
३५	योग के अंतर्गत भेद का विस्तार	३५
३६-४२	योग का माहात्म्य	३५
४३-४४	स्वप्न द्वारा पुनर्जन्म की सिद्धि	४०
४५-४६	स्वप्न भ्रांतिजनक नहीं हैं	४०
४७	स्वप्न भूतविकार नहीं हैं	४१
४८	इन्द्रियप्रत्यक्ष हो वही सत्य है, ऐसा नास्तिकों और मीमांसकों का मत है।	४२
४९	योगी देव-स्वर्ग आदि मानने वालों को आत्मा-मोक्ष को मानने के लिये कहते हैं	४२
५०	योगियों के अतिरिक्त जीव भी गुरु के उपदेश से आत्मा आदि अरूपी पदार्थों को जान सकते हैं	४३
५१	अनुमान प्रमाण आदि से भी वस्तु स्वरूप जाना जा सकता है	४३
५२-५४	योग से अन्य क्या फल प्राप्त होते हैं	४४

५५	जगत में योग सभी को प्रिय है	४६
५६	योग के अभ्यास से क्या फल प्राप्त होता है	४८
५७	योग के माहात्म्य से आत्मा का परलोक में गमनागमन होता है	४८
५८	स्मृति द्वारा योगफल की प्राप्ति	४८
५९-६०	आत्मा के पुनर्जन्म की सिद्धि	५०
६१	प्रत्येक को सामान्य से स्मरण किस प्रकार होता है	५१
६२	स्वप्न में अनुभव हुई वस्तु याद आती है तो पुनर्जन्म क्यों नहीं	५२
६३	जातिस्मरण से आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि	५३
६४	आत्मादिक की सिद्धि और उनमें योग रूपी कारण की सिद्धि	५३
६५-६७	अन्य वादों का त्याग कर योग से तत्त्व सिद्धि करना	५३
६८	सत्य तत्त्व समझने का क्या उपाय है	५५
६९-७०	अध्यात्म भाव का विचार करना चाहिये	५५
७१-७२	अध्यात्म भाव की दुर्लभता	५६
७३	अध्यात्म भाव कब किसको प्राप्त होता है	५७
७४	इस संसार में भटकते जीवों को कितना काल व्यतीत हुआ है	५७
७५	किन जीवों का जन्म-मरण चालू रहता है	५८
७६	जगत के प्रत्येक कार्य में कारण रहा हुआ है	५८
७७	जीव और पुद्गल के स्वभाव की विचित्रता	५९
७८	स्वभाववादी सर्व वस्तुयें स्वभाव से बनती हैं	५९
७९-८०	किन-किन कारणों से वस्तुसिद्धि होती है	६०
८१	अकेला स्वभाव कुछ भी करनेवाले समर्थ नहीं है	६१
८२-८४	स्वभाव आदि पाँचों के समवाय से कार्य सिद्धि होती है	६१
८५-८६	जन्मान्ध की तरह कौनसे जीव सन्मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते	६२
८७	भवाभिनंदी का स्वरूप	६३
८८	लोक व्यवहार का स्वरूप	६४
८९	लोक पंक्ति वाली क्रिया दोषमय है	६५

९०-९२	भवाभिनंदी जीव विवेकी और अच्छे परिणामवाला हो तो उच्च स्थान प्राप्त करता है	६६
९३-९४	चरमपुद्गलपरावर्त शेष हो उन जीवों के अतिरिक्त अन्य जीव अध्यात्मभाव नहीं प्राप्त करते	६७
९५-९६	योग की प्राप्ति किसको किस प्रकार होती है	६८
९७	अध्यात्म की प्राप्ति किस प्रकार होती है	६९
९८	इष्ट योग की प्राप्ति अपुनर्बंधक को होती है	६९
९९	अपुनर्बंधकता कैसी होती है	७०
१००-१०२	जिनमत को पुष्ट करता गोपेन्द्र योगीराज का वचन	७०
१०३-१०४	प्रकृति का व्यापार जीव को किस तरह काबू में रखता है	७२
१०५-१०६	पुरुष और प्रकृति के अपने-अपने स्वभाव के योग से जीव संसार में परावर्तन करता है	७३
१०७-१०८	अगर प्रकृति को एक ही स्वभाव वाली माने तो क्या-क्या दोष होते हैं	७४
१०९	योग्यता वाले पुण्योदयवान जीव ही योग का माहात्म्य प्राप्त करते हैं, और पूर्वसेवा प्राप्त करने का क्रम	७५
११०-१११	गुरुवर्ग किसे कहते हैं और उनका पूजन करना चाहिये	७५
११२-११५	गुरुवर्ग की सेवा किस तरह करनी चाहिये	७६
११६	देवपूजा की विधि	७८
११७	कौन से देव पूजा योग्य है	७९
११८-११९	सर्वदेव की पूजा से मोक्षमार्ग की साधना किस प्रकार होती है	७९
१२०	विशेष प्रकार की धर्मवृत्ति का उपदेश किसे देना	८१
१२१	पोष्यवर्ग को विरोध नहीं हो उस तरह पात्र को विधियुक्त दान देना	८२
१२२	पात्र किसे कहा जाय	८२
१२३	पात्र के अतिरिक्त को भी अनुकंपा से दान देना चाहिये	८३
१२४	किस प्रकार विधि का पालन कर दान देना	८४
१२५	दानधर्म की प्रशंसा	८४

१२६-१२८	सदाचार का स्वरूप - लक्षण आदि	८५
१२९-१३०	उचित करनी-कार्य आदि के बारे में	८६
१३१-१३५	तप का स्वरूप	८७
१३६	मुक्ति के प्रति द्वेष का त्याग और प्रेम का पालन	८९
१३७-१३९	मुक्ति के प्रति द्वेष किन में सम्भव है	९०
१४०-१४१	शुभ अध्यवसाय से उत्तम गुण प्राप्त होते हैं	९२
१४२	कर्ममल का नाश ही मुक्ति का उपाय है	९३
१४३-१४४	कर्ममल अनर्थ के लिये है	९३
१४५	अंत:करण की शुद्धि बिना का चारित्र, न्याय से विचार करने पर, प्रशंसा योग्य नहीं है	९४
१४६	मुक्ति के प्रति द्वेष का अभाव ही मोक्ष प्राप्ति का तात्विक हेतु है	९५
१४७-१४८	पूर्वसेवा का विशेषता पूर्वक अधिकार	९६
१४९-१५०	मुक्ति के अद्वेष में कितने गुण रहे हैं	९७
१५१	भवाभिष्वंग और अनाभोग का स्वरूप	९८
१५२	गरल अनुष्ठान से कुछ भी लाभ नहीं है	९८
१५३-१५४	समान दिखाई देते अनुष्ठानों का फल समान होता नहीं है	९९
१५५	विषादि पाँच प्रकार के अनुष्ठान के नाम	९९
१५६-१५७	पहले दो अनुष्ठानों की व्याख्या	१००
१५८	तीसरे अनुष्ठान का स्वरूप	१०१
१५९-१६०	तद्हेतु और अमृत अनुष्ठान का स्वरूप	१०२
१६१-१६२	चरम पुद्गलपरावर्त में देव-गुरु आदि की सेवा पहले से अलग प्रकार की होती है	१०३
१६३	अंतिम आवर्त में आत्मा की कैसी विशेष अवस्था होती है	१०४
१६४-१६५	कर्ममल का स्वरूप	१०४
१६६-१६७	जीव को अनादि मुक्त मानने से कौनसे दोष प्राप्त होते हैं	१०५
१६८	जीव में रही हुई योग्यता	१०६

१६९	अन्य दर्शनकार कर्मदल को भवबीज कहते हैं	१०६
१७०-१७२	जैसे-जैसे भावशुद्धि होती है, वैसे-वैसे कर्मदल कम से कम होते हैं	१०७
१७३-१७५	चरम पुद्गलपरावर्त में होता बंध बड़े पाप का कारण होता नहीं है	१०८
१७६-१७७	मुक्तिमार्ग नजदीक आने पर प्रमोद होता है	११०
१७८-१७९	अपुनर्बंधक का स्वरूप	११०
१८०-१८१	अपुनर्बंधक के अतिरिक्त अन्य जीवों द्वारा होती पूर्वसेवा कैसी होती है	१११
१८२-१८३	अपुनर्बंधक के बारे में अन्य दर्शनकारों के मत	११२
१८४-१८६	ज्ञानपूर्वक होती पूर्वसेवा का स्वरूप	११३
१८७	प्रकृति से आत्मा में शांत उद्दात्तत्त्व रहा हुआ है	११४
१८८	विरुद्ध प्रकृति वालों को विरुद्ध भाव आता है	११५
१८९-१९०	भोग में वास्तविक सुख की इच्छा झंझावात के जल जैसी है	११५
१९१	विषय के भोगीओं को सुख नहीं होता	११७
१९२-१९३	दृष्टांत को दृष्टांतिक के साथ घटित किया है	११७
१९४	शुभ प्रज्ञावंत महानुभाव कैसी प्रवृत्ति करते हैं	११८
१९५	प्रकृति के भेद से आत्मस्वरूप में भेद होता नहीं है	११८
१९६	आत्मा तथा प्रकृति के स्वभाव से होता परिणाम	११९
१९७	अनादिकाल की परंपरा से सिद्ध कर्ममल आत्मा का बंधन है	११९
१९८	अन्य मतवालों को भी इसी प्रकार सर्व पदार्थों की प्राप्ति सम्भव है	१२०
१९९	आत्मा तथा कर्म का सम्बंध सिद्ध होने से अब क्या करना	१२१
२००	पूर्वसेवा से मुक्त जीव योगमुक्त होता है ऐसा गोपेन्द्र पंडित और अन्य विद्वान भी मानते हैं	१२१
२०१-२०२	आचार्य हरिभद्रसूरिजी द्वारा योग की व्याख्या	१२२
२०३-२०४	द्रव्ययोग बताकर भावयोग का प्रारंभ ग्रंथीभेद वालों को होता है	१२३
२०५	ग्रंथीभेद करने वाला उत्तम भाव को नहीं देख सकता ऐसी शंका का समाधान	१२४
२०६-२०८	क्रियावादी की शंका कि क्रिया ही फल देनेवाली है, अकेले ज्ञान से फल नहीं मिलता, का समाधान	१२५

२०९	शुद्ध अनुष्ठान योग का हेतु होने से उस अनुष्ठान को योग कहा जाता है	१२७
२१०	योग के तीन अंग	१२७
२११	अनुष्ठान के तीन प्रकार	१२८
२१२-२१४	अनुष्ठान का क्रमपूर्वक स्वरूप	१२८
२१५	अनुष्ठान का फल	१३०
२१६	अनुष्ठान का हेतु	१३०
२१७-२१८	दूसरे स्वरूप अनुष्ठान का स्वरूप	१३१
२१९-२२०	तीसरे शुद्ध अनुष्ठान से दोषों का नाश होता है	१३२
२२१	मोक्ष के अर्थ शास्त्र के अधीन रहते हैं	१३३
२२२-२२३	उपदेश की आवश्यकता कहाँ है और कहाँ नहीं	१३३
२२४	धर्मार्थियों को शास्त्र में प्रयत्न करना चाहिये	१३५
२२५-२२६	शास्त्रों की स्तुति	१३५
२२७	गुणानुरागी का धर्मानुष्ठान सत्फलदायी है	१३७
२२८-२२९	किसकी क्रिया आदरपात्र नहीं होती	१३७
२३०-२३१	सिद्धांत पर आदर रखना चाहिये	१३८
२३२	आत्मस्वरूप की सिद्धि तीन के बल से होती है	१३८
२३३	सिद्धि किसे कहते हैं	१३९
२३४	कौनसी सिद्धियाँ पातरूप होती हैं	१४०
२३५	कौनसी सिद्धियाँ पात का कारण नहीं होती	१४१
२३६-२३८	सिद्धियाँ अपने-अपने कारण मिलने पर उत्पन्न होती हैं, अन्यथा नहीं	१४१
२३९-२४०	आगम प्रसिद्ध व्यवहार छोड़कर हठाग्रह से मोक्ष के लिये प्रवृत्ति करना मूर्खता है	१४३
२४१	उपरोक्त बात व्यतिरेक भाव से कही है	१
२४२-२४३	सद्योग वाली भव्य आत्माएँ गर्भ में होते हुए भी माता की प्रशंसा करवाती हैं।	१४५
२४४	महापुरुषों का प्रकट भाव से उदय कैसा होता है	१४६
२४५-२४६	मयूर के दृष्टांत का उपनय	१४७

२४७-२४८	उस योग स्वरूप के जानने वाले अभिमान नहीं रखते	१४८
२४९	आत्मशुद्ध भाव की वृत्ति विनाश नहीं प्राप्त करती है	१४९
२५०	विषय शुद्धानुष्ठान भी उपचार से योग के अंग का कारण होता है	१४९
२५१	अनुष्ठान के योग्य अधिकारी कौन गिने जाते हैं	१५०
२५२	अपुनर्बंधक जीवात्मा क्या कर सकती है	१५०
२५३-२५४	सम्यक्दर्शन के चिह्नों का स्वरूप तथा विवेचन	१५१
२५५	परमात्मा के वचन उपदेश का सामर्थ्य	१५२
२५६-२५७	समकित के प्रथम दो चिह्न	१५३
२५८-२५९	धर्म से विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाले में भी धर्म किस प्रकार होता है	१५४
२६०	समकित के नाम लिंग का स्वरूप	१५५
२६१-२६२	देव-गुरु की पूजा में प्रेम भावना कैसी होती है	१५६
२६३-२६४	जीव समकित दृष्टिवाला कैसे होता है, उसके तीन कारण	१५६
२६५-२६६	ये कारण जीवात्मा कब करती है	१५७
२६७-२६८	समकिती जीव को कर्मबंध मिथ्यात्वी से कम क्यों होता है	१५८
२६९	ग्रंथीभेदी को कर्म का अल्पबंध होता है	१५९
२७०-२७१	बौद्ध ऐसी समकिती अवस्था को बोधिसत्व कहते हैं	१६०
२७२-२७३	दोनों ही शास्त्रों में इस प्रकार के जीवों के लक्षण समान बताए हैं	१६०
२७४	इस बारे में पक्षभेद बताते हैं	१६२
२७५-२७६	भव्यत्व किसे कहा जाता है	१६२
२७७-२७८	जीव में रही हुई योग्यता ही तथाभव्यत्व है	१६३
२७९	इस स्वभाव से जीवों में भेद पड़ते हैं	१६४
२८०-२८१	अपूर्वकरण से ग्रंथिभेद करते हैं	१६५
२८२-२८३	ग्रंथिभेद किसे कहा जाता है	१६६
२८४	अपुनर्बंधक का स्वरूप	१६७
२८५-२८६	संसार में दुःखी होती जीवात्माओं के बारे में भावी तीर्थंकरों की कैसी भावना होती है	१६७

२८७-२८८	उन भावी महापुरुषों में कैसे गुण होते हैं	१६९
२८९	कैसी भावना वाले गणधर होते हैं	१७०
२९०	कैसी भावना वाले मुंडकेवली या मूककेवली होते हैं	१७०
२९१-२९३	जीवों को विचित्र भावनायें होने में हेतु	१७१
२९४	मोक्ष के हेतु के बारे में अन्य पंडितों के अभिप्राय	१७३
२९५-२९६	इस बारे में विशेष मतभेद और उनका समाधान	१७४
२९७-२९८	अन्य मतवालों का ईश्वर का अनुग्रह किस प्रकार मानने से सत्य है	१७५
२९९-३००	अन्य कौन-कौन से अनुग्रह होते हैं	१७६
३०१-३०२	अन्य मतवादी इस मोक्षमार्ग में हेतुरूप योग को किस प्रकार स्वीकार करते हैं	१७७
३०३-३०५	परमतवादियों द्वारा कल्पित अयोग्य तत्त्व का खंडन	१७८
३०६-३०७	कर्म मूर्त है या अमूर्त यह बताते हुए परदर्शनकारों को उत्तर	१८०
३०८	भगवान कालातीत के मत का प्रतिपादन	१८१
३०९	सद्युक्तिवाले न्याय के वचन ग्रहण करने चाहिये	१८१
३१०-३११	कालातीत के मत के साथ विशेषण का भेद	१८२
३१२-३१३	तीर्थंकर का स्वरूप	१८३
३१४-३१५	नियतिवाद पदार्थ के सहज स्वभाव के अनुसार है	१८४
३१६	छद्मस्थ जीव द्वारा अतींद्रिय वस्तु का निश्चय नहीं हो सकता तो उसके उपदेश की योग्यता किस प्रकार हो	१८५
३१७-३१८	कदाग्रह का त्याग करना चाहिये	१८६
३१९-३२०	दैव और पुरुषकार का स्वरूप	१८७
३२१-३२३	दैव और पुरुषकार के संबंध में व्यवहार नय का मत	१८८
३२४-३२६	दैव और पुरुषकार में अन्योन्याश्रय भाव रहा हुआ है	१९०
३२७	इस बारे में विशेषता क्या है	१९१
३२८-३३१	कर्म और पुरुषार्थ का घात्य-घातक भाव	१९१
३३२-३३४	नियत भाव वाली योग्यता को काष्ट और प्रतिमा के दृष्टांत से समझाया है	१९४

३३५-३३६	द्रव्यकर्म और भावकर्म का परस्पर संबंध	१९५
३३७-३३८	चरम पुद्गलपरावर्त में कौन बाध्य-बाधक होता है	१९७
३३९-३४२	ग्रंथीभेद होने के बाद आत्मा का कैसा स्वरूप पैदा होता है	१९८
३४३-३४५	उचित प्रवृत्ति में आदर और अनुचित प्रवृत्ति का त्याग	२००
३४६-३५१	बिना उपदेश अगर शुभ भाव हो सकता हो तो उपदेश की क्या आवश्यकता	२०१
३५२	समकिती जीव देशविरति और सर्वविरति कब प्राप्त करता है	२०५
३५३-३५४	मार्गानुसारीता कब मालूम होती है	२०५
३५५	आत्मा किस अवस्था में संसार का पार पा सकती है	२०६
३५६	मार्गानुसारी से विपरीत चलने वाला विरुद्ध फल प्राप्त करता है	२०६
३५७	देशविरति और सर्वविरति के साथ योगतत्त्व का संबंध	२०७
३५८-३५९	अध्यात्मयोग का स्वरूप और फल	२०८
३६०-३६२	भावनायोग का फल और स्वरूप	२०९
३६३	ध्यानयोग का फल	२१०
३६४-३६५	समतायोग का स्वरूप और फल	२११
३६६-३६७	वृत्तिसंक्षय का स्वरूप और फल	२१२
३६८-३७१	तात्त्विक और अतात्त्विक योग का स्वरूप	२१४
३७२	सानुबंध और अननुबंध योग का स्वरूप	२१६
३७३	योग में आते अपाय	२१७
३७४	अन्य मतवादी भी योग में अपाय मानते हैं	२१७
३७५-३७७	सास्रव और निरास्रव योग का स्वरूप	२१८
३७८-३७९	चरम शरीरी को अनास्रव क्यों कहा जाता है	२१९
३८०-३८१	अध्यात्म योग का स्वरूप	२२०
३८२-३८६	जप-जाप कब करना और उसका त्याग कब करना	२२१
३८७	जाप का कालमान	२२४
३८८	शुभ अभिग्रहों की प्रशंसकता	२२४

३८९-३९१	अध्यात्म के बारे में मत-मतांतर	२२४
३९२-३९३	योग धर्म एकांतिक फल देने वाला है इसे जोर देकर बताते हैं	२२६
३९४	आत्मस्वरूप का निरीक्षण ही योग्य है	२२६
३९५	आत्मस्वरूप का निरीक्षण किस प्रकार करना	२२७
३९६	भावना में अध्यात्मतत्त्व बताते हैं	२२७
३९७	अध्यात्म के विषय में अन्य पंडितों के मत	२२८
३९८-३९९	देवादिक के वंदन के बारे में विशेषत: बताते हैं	२२८
४००-४०१	प्रतिक्रमण का स्वरूप और उसे कब करना	२२९
४०२-४०३	मैत्री आदि भावना का स्वरूप	२३०
४०४	योगशास्त्र के विचारकों के मत से अध्यात्म का स्वरूप	२३२
४०५-४०६	योग के अंतिम भेद वृत्तिसंक्षय का स्वरूप	२३२
४०७-४०८	आत्मा की योग्यता का अभाव माने तो बंध आदि घटित नहीं हो	२३३
४०९-४१०	दृष्टांत को दृष्टांतिक के साथ घटित करते हैं	२३४
४११	ज्ञानादि योग में उत्साह की आवश्यकता	२३४
४१२-४१३	उत्तम योग की प्राप्ति के उपाय	२३६
४१४	आत्मा का पुरुषार्थ कब सफल होता है	२३७
४१५-४१७	अकेले पुरुषार्थ से कार्यसिद्धि क्यों नहीं हो सकती	२३८
४१८	करणयोग का स्वरूप	२४०
४१९-४२०	संप्रज्ञात समाधि का स्वरूप और फल	२४१
४२१	असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप	२४३
४२२	अन्य दर्शनकारों के मत से परमात्म दशा के विभिन्न नाम	२४३
४२३	सर्व समाधियोग का फल	२४४
४२४	भवितव्यता निमित्त रूप से होती है	२४५
४२५	योग की प्राप्ति के लाभ	२४५
४२६	भगवान किस प्रकार की देशना (उपदेश) देते हैं	२४५
४२७-४२८	कई अन्य दर्शनवादी मुक्त अवस्था में केवलज्ञान नहीं मानते, उन्हें उत्तर	२४६

४२९	संप्रज्ञातयोग का फल	२४७
४३०-४३१	प्राणी मात्र में संवित अर्थात ज्ञान होता है	२४८
४३२-४३४	मुक्त अवस्था में ज्ञान नहीं होता, ऐसी शंका का समाधान	२४९
४३५-४३७	सर्वज्ञपन का स्वरूप प्रकट तौर पर समझाया है	२५१
४३८	सर्वज्ञपना सिद्ध होने से क्या सिद्ध होता है	२५३
४३९-४४२	कुमारिल भट्ट के सुभाषित	२५३
४४३	मीमांसक मत वालों को प्रत्युत्तर	२५६
४४४	सांख्यमत का निराकरण	२५६
४४५	आत्मा का अन्य स्वरूप	२५६
४४६-४५४	जैन और सांख्य मत के पंडितों का परस्पर मतभेद और समाधान	२५७
४५५-४५७	परदर्शन वालों की शंकाओं का समाधान	२६३
४५८	अन्य दर्शनकारों के तत्त्व की मीमांसा	२६४
४५९-४६७	बौद्धमत का दर्शन और उसका प्रत्युत्तर	२६४
४६८-४७०	क्षणिकत्व के पक्ष में आते विरोध	२६९
४७१-४७२	आत्मा न तो एकांतिक नित्य है न ही एकान्तिक अनित्य	२७०
४७३-४७६	परवादियों द्वारा प्रस्तुत दोषों का समाधान	२७२
४७७	इस बारे में अद्वैतवादी प्रेमी युक्ति क्या है	२७५
४७८-४८५	एकांतिक नित्यवादियों की युक्तियों का समाधान	२७६
४८६-४८९	वास्तविक आत्मस्वरूप को यथार्थ रूप से समझाना	२८०
४९०-४९४	कर्मक्षय होने से समाधिभाव प्रकट होता है	२८२
४९५	आगम के अनुसार योग-मार्ग बताने का प्रारंभ	२८५
४९६-४९७	योग की अंतिम अवस्था में मोक्षप्राप्ति होती है	२८५
४९८-५००	मोक्ष के संबंध में अन्य मतों की शंकाएँ और समाधान	२८६
५०१-५०२	स्वभाव की निवृत्ति में आत्मा का परिणामीपन कारण है	२८८
५०३-५०७	मुक्त अवस्था का स्वरूप और सुख	२८९
५०८-५१०	विद्वत्ता का फल	२९२

५११-५१२	योगबिंदु के अनुसार आत्मा का स्वरूप कैसा है	२९४
५१३-५१५	पुरुषाद्वैतवाद, द्वैतवाद और अभाववाद के दूषण और उनका समाधान	२९६
५१६-५१९	आत्मा के अंश आत्मा से भिन्न है या अभिन्न आदि वादी की शंका का समाधान	२९७
५२१-५२२	स्याद्वाद के मत से वस्तुतत्त्व की यथार्थसिद्धि	३००
५२३	परस्पर विरुद्ध दिखाई देते विचार का समाधान	३०२
५२४-५२५	ग्रंथकार आचार्य योगबिंदु की समाप्ति की घोषणा करते हैं	३०२
५२६-५२७	योगबिंदु की रचना का प्रयोजन आदि बताकर ग्रंथ की समाप्ति	३०४

★ ★ ★

आचार्य हरिभद्रसूरि प्रणीतः

योगबिन्दुः

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्वसिद्ध्यै महोदयम् ॥१॥

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।
सन्नीत्या स्थापकं चैव माध्यस्थांस्तद्विदः प्रति ॥२॥

अर्थ : आत्मा की अपेक्षा से आदि और अन्त से रहित, योगीन्द्रों से अर्थात् बड़े-बड़े योगियों से वंदित, शिव-कल्याणरूप परमात्मा को नमस्कार करके, मध्यस्थ योगवेत्ताओं के लिये महोदय अर्थात् मोक्ष को देने वाले सभी योगशास्त्रों में पारमार्थिक अविरोध को सन्नीति से स्थापन करने वाले "योगबिंदु" को तत्त्वों की सिद्धि के लिये कहूँगा ॥१-२ ॥

विवेचन : ग्रंथकार ने यहाँ "नत्वा आद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं" पद से सभी धर्मों और दर्शनकारों को आदरणीय बने ऐसा मंगल किया है। "योगीन्द्रवन्दितम्" विशेषण से पूजातिशय प्रकट है और ज्ञानातिशय, अपायापगम अतिशय और वचनातिशय सामर्थ्यगम्य है। "तत्त्वसिद्ध्यै" पद से प्रयोजन बताया है, जिससे सत्यतत्त्व के मुमुक्षु जिज्ञासु इस ग्रंथ को पढ़ने के लिये प्रवृत्ति करें। "सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन" पद से सभी योगशास्त्रों का इस ग्रंथ में समन्वय सूचित है ताकि किसी भी दर्शन को मानने वाला निःसन्देह इस ग्रंथ का अध्ययन कर सके। ग्रंथ में मोक्ष सम्बन्धी विवेचन होने से यह सज्जनों के लिये आदरणीय है। इस ग्रंथ के शब्द-समूह को पढ़ने वाला व सुनने वाला श्रोता आत्मज्ञान प्राप्त करता है, अतः ग्रंथ के अभिधेय के साथ ग्रंथ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध भी स्पष्ट है। ग्रंथकर्ता को ग्रंथ रचना से निर्जरा होती है, यह साक्षात् फल है और परम्परा से मोक्ष-प्राप्ति रूप फल भी मिलता है। "सन्नीत्या" पद से सभी विषमताओं और विरोधों को दूर करने वाले जैनधर्म के लोकप्रिय सिद्धान्त अनेकान्त-स्याद्वाद का निर्देश है। "तत्त्वतः" पद से तात्पर्य है यथार्थ सत्यबोध से, जो ऊहापोह पूर्वक पर्यालोचन से प्राप्त किया जाता है। "मध्यस्थांस्तद्विदः"

पद से सूचित है योगशास्त्र को जानने वाले मध्यस्थ ज्ञाता । जो विद्वान सत्यगवेषक हैं; उनके लिये यह ग्रंथ उपादेय-आदरणीय है, चाहे वे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय व पंथ को मानने वाले हों ।

श्री हरिभद्रसूरिजी के समय में जितने भिन्न-भिन्न योगशास्त्र उपलब्ध थे उन सब योगशास्त्रों का उन्होंने अध्ययन कर लिया था । ग्रंथकार को योग के सम्बन्ध में जो-जो निरूपण मिले उन सब का निरीक्षण करके, ग्रंथकार सूचित करते हैं कि प्रस्तुत योगबिंदु ग्रंथ, उन सब निरूपणों का स्थापक है – "सर्वेषां योगशास्त्राणाम्" ।

संसार में मनुष्य दो प्रकार के मिलते हैं । एक तो एकदम हठाग्रही-कदाग्रही अर्थात् एकांतपक्षी – अपनी ही बातों को सत्य मानने वाला और दूसरों के विचारों की अवगणना करने वाला, तथा दूसरा तत्त्वग्राही तथा मध्यस्थवृत्तिवाला, तटस्थ होकर दूसरों के विचारों के सम्बन्ध में खुले मन से विचार करनेवाला । इन दूसरे, तटस्थ होकर मध्यस्थ भाव से विचार करने वालों के लिये, कि प्रस्तुत योगबिंदु ग्रंथ सांख्य योगशास्त्रों, बौद्ध योगशास्त्रों, पातंजल योगशास्त्र तथा अन्य कई उपलब्ध योगशास्त्रों का अर्थात् सभी योगशास्त्रों का अविरोध से स्थापक है । जो गुणग्राही और तटस्थवृत्ति के मनुष्य होते हैं, वे सभी प्रकार के तात्त्विक विचारों को सुनने और समझने के लिये तैयार रहते हैं । प्रस्तुत द्वितीय श्लोक में उन मध्यस्थ महानुभावों का स्मरण करके, निर्वाण प्रतिपादक सभी प्रकार के योगशास्त्रों के प्रति ग्रंथकार ने अपना सद्भाव अभिव्यक्त किया है । इस पद से ग्रंथकार की सर्वधर्म समभावना एवं गुणग्राहकदृष्टि, सत्यनिष्ठा, उदारता आदि गुणों के प्रति वाचक का ध्यान आकृष्ट होता है।। १-२ ।।

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।
साध्याभेदात् तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम् ।।३।।

अर्थ : 'योग' मोक्ष का हेतु है, इसलिये कहीं भी इसमें भेद नहीं है । साध्य का अभेद होने से साधन का भी अभेद होता है, अतः शब्द भेद होने पर भी अर्थ का भेद नहीं होता ।।३।।

विवेचन : "मोक्षेण योजनात् योगः" जो योगप्रक्रिया मोक्ष के साथ जोड़ दे वही योग है। इस अर्थ को लक्ष्य में रखकर, जब योग सम्बन्धी स्व और पर शास्त्रों का अध्ययन करते हैं तो कहीं भी पारमार्थिक भेद दिखाई नहीं देता । क्योंकि साध्य मोक्ष ही सभी योगों से सिद्ध करना है, और वह सभी का एक है, इसलिये कहीं पर भी जो अनुष्ठान, क्रिया, भाषा, शैली में भेद दिखाई देता है, वह केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं है । जैसे - जल, पानी, वारि, पय, अप इत्यादि शब्दभेद होने पर भी अभिधेय पेय पदार्थ जल में अन्तर नहीं हैं ।

जो धर्म-सम्प्रदाय एवं धर्मसम्प्रदाय प्रवर्तक आचार्य आदि 'निर्वाण' प्राप्ति को, जीवन का

व धर्माचरण का लक्ष्य मानते हैं, उनके विचार से उन सभी का लक्ष्य-साध्य एक निर्वाण ही है। इसमें सभी 'निर्वाणवादी' धर्म सम्प्रदायों का समावेश हो जाता है । इसी विचार को दर्शाते हुये ग्रंथकार ने तीसरे श्लोक में यह स्पष्ट किया है कि योग मोक्षलाभ का हेतु है, अतः निर्वाणवादी-मोक्षवादी सभी धर्मसम्प्रदायों का साध्य मोक्ष ही है । इससे यह फलित हुआ कि निर्वाणवादी सभी सम्प्रदाय योग के सम्बन्ध में, इस विचार से सहमत है कि योग मोक्ष का हेतु है । सभी धर्मानुयायी मोक्ष को साध्य मानते हैं और योग को मोक्ष का साधन मानते हैं । इस विचार के समर्थन में भिन्न-भिन्न मार्गानुयायिओं ने अलग-अलग शैली का एवं अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया है वह प्रयोग कभी भी साध्य का बाधक नहीं हो सकता, जैसे-इस थैली में बीस रुपया है, ऐसा कहने के लिये १. कोई मनुष्य कहता है कि इस थैली में दस की युगल संख्या-समान रुपये हैं, २. कोई कहता हैं कि पांच की चतुर्गुण संख्या समान रुपये इस थैली में है, ३. कोई कहता है कि चार की पंचगुण संख्या समान संख्या वाले इस थैली में नगद रुपये हैं, ४. कोई कहता है कि अढ़ी गुणा आठ संख्या के समान, इस थैली में रुपये हैं, ५. कोई कहता है कि सवागुणी सोलह संख्या के समान प्रस्तुत थैली में रुपये हैं । "थैली में २० रु. हैं", इतना कहने के लिये, पूर्वोक्त पांच शैलियों से वाक्य प्रयोग हो सकता है, किंतु पांचों वाक्य प्रयोगों का आशय एक ही है । उक्त पांच शैलियों के प्रयोग करने वाले, बीस संख्या को ही सूचित करते हैं अर्थात् 'बीस' कहने के लिये उक्त पांच शैलियों का प्रयोग होने पर भी, उन पांचों को 'बीस' सूचित करना ही अभीष्ट है । ऐसे ही "रागद्वेष के समूल क्षय से वीतराग दशा व मुक्तिलाभ होता है" इसी एक बात को समझाने के लिये कोई कहता है - सब घाती कर्मों का क्षय होना चाहिये; आत्मा प्रकृति से एकदम अलग हो जाना चाहिये; वासना के क्षय से ही निर्वाणलाभ होगा; सत्त्व, रज, तम रूप विशेष गुणों के जड़मूल से नष्ट होने पर ही आत्मा अपने निर्मल स्वरूप में आ जायेगी, इसी प्रकार ऐसे अन्य भी उक्ति भेद से भिन्न-भिन्न वाक्य प्रयोग किये जा सकते हैं । परन्तु इन उक्ति भेदों से मूल साध्य में लेशमात्र भी भिन्नता नहीं आ सकती । यही बात ग्रंथकार ने "उक्तिभेदो न कारणम्" इस वाक्य से सूचित किया है अर्थात् शब्दभेद से साध्य में कभी भी अन्तर नहीं हो सकता परन्तु जो अज्ञान, मूढ और भौतिक स्वार्थपरायण लोग हैं, चाहे वे पण्डित हों, साधारण जन हों, या महामहोपाध्याय हों, अपनी महामूढता के कारण शब्दों के भेद को सुनकर, स्वयं धर्माचरणहीन बन जाते हैं और अन्यों को भी धर्माचरण से हीन बना देते हैं । यही मायाजाल का प्राबल्य है ॥३॥

मोक्षहेतुत्वमेवास्य किन्तु यत्नेन धीधनैः ।
सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकांक्षिभिः ॥४॥

अर्थ : योग को मोक्ष का हेतु कहा है, किंतु आत्महित चिंतक बुद्धिमानों को, सद्गोचरादि अर्थात् सत्विषयादि की अपेक्षा से, विशुद्धयोग की शुद्धि की परीक्षा स्वयं प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिये ॥४॥

विवेचन : योग के विषय में अनेक दर्शनकारों ने अनेक ग्रंथों में भिन्न-भिन्न लक्षण दिये हैं। उन सभी को अपनी बुद्धि की कसौटी से कसना चाहिये कि कौन सा योग मोक्ष के लिये मुख्य कारण है और इसे अवश्यमेव विचारना चाहिये । क्योंकि विषय, स्वरूप और परिणाम की शुद्धि अति आवश्यक है। मोक्षप्राप्ति सम्यक् श्रद्धा-दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र से ही होती है। सम्यक् दर्शन कैसा हो ? कैसी श्रद्धा मोक्ष में कारणभूत होती है ? कैसा ज्ञान और कैसा चारित्र मोक्ष में साधनभूत है ? उपरोक्त प्रश्न अति विचारणीय हैं, क्योंकि जो मनुष्य सद्योग से वंचित रहता है वह सभी सत्यपुरुषार्थ से वंचित रहता है और जो सत्य से वंचित है वह मोक्ष के महानन्द से वंचित रहता है। किस दर्शनकार का योग सम्बन्धी मौलिक सिद्धान्त मोक्ष के कितना समीप है और कौन सा तर्क सत्य के अधिक समीप है ? इसकी स्वयं परीक्षा करनी चाहिये ।

यहाँ ग्रंथकर्ता "धीधनैः, यत्नेन, मृग्यं" पदों से बुद्धि स्वातन्त्र्य पर भार देकर कहना चाहते हैं कि "बाबा वाक्यं प्रमाणं" न करके, अपनी बुद्धि की कसौटी को सर्वश्रेष्ठ साधन मानो। उसे अपनी कसौटी से कसकर ही सत्य ग्रहण करना चाहिये। कोई भी बात शास्त्र में लिखी है या किसी महान् व्यक्ति द्वारा कही गई है केवल इसलिये मानने की आवश्यकता नहीं है पर अपनी तटस्थ निर्मलबुद्धि का भी उपयोग करना चाहिये ।

इस श्लोक में आचार्यश्री कह रहे हैं कि योग किस प्रकार से मोक्ष-निर्वाण के साध्य को पाने के लिये समर्थ हो सकता है। इस विचार को समझने के लिये योग का अनुपचरित ऐसा विषय कौनसा है ? इसे समझना जरूरी है तथा और भी विशेष बातों पर विचार करना जरूरी है जो बुद्धिमान लोग अपने हित की आकांक्षा रखते हैं, उन्हें योग किस प्रकार से मोक्ष का हेतु हो सकता है, वस्तुतः सर्व प्रथम यही विचारना चाहिये। इस बात की विचारणा में जितनी कसर होगी उतनी ही आत्मवंचना होगी। मोक्ष-लाभ कोई मामुली वस्तु नहीं है – यही तो जीवन का ध्येय है। यदि इसके वास्तविक विचार में कमी रहेगी तो हमारा ध्येय सिद्ध नहीं हो सकता। उक्त विचार की कमी के कारण हम मोक्ष-लाभ के बदले भवभ्रमण-लाभ में कभी फंस जायेंगे। इसलिये ग्रंथकार चेतावनी दे रहे हैं कि मोक्ष-लाभ के विचार में कभी औपचारिकता की दृष्टि नहीं आनी चाहिये और योग के वास्तविक विशुद्ध विषय आदि की युक्तिपूर्वक गवेषणा करनी चाहिये। यह बहुत जरूरी है। १. गोचर यानी विषय २. स्वरूप यानी सब साध्यों के विषय में उचित प्रवृत्ति करना और ३. क्रिया का सही फल क्या होना चाहिये और वास्तविक फल प्राप्त करने के लिये किस प्रकार की क्रिया यानी अनुष्ठान करना चाहिये, आदि का वास्तविक विचार करना जरूरी है। निर्वाण-लाभ जैसे महान साध्य को साधने के लिये, किसी भी प्रकार की काल्पनिक व औपचारिक प्रवृत्ति कभी भी लाभकारी नहीं हो सकती, इसके लिये तो परीक्षण के साथ ठोस अनुष्ठान ही करने चाहिये। तात्पर्य यह हुआ कि निर्वाण-लाभ के लिये मात्र बाह्य औपचारिक क्रिया कभी भी लाभकर नहीं होगी।

जैसे शरीर में कोई तकलीफ हो जाय, तो हम कुशलवैद्य द्वारा शारीरिक परीक्षण करवाते हैं और बाद में उसी कुशलवैद्य द्वारा उचित उपचार करवाते हैं। पथ्य तथा उचित औषध का उपयोग करते हैं और धीरज रखकर सब उचित उपचार लेते हैं। तब कहीं समय के परिपाक होने पर देह रोगमुक्त बनती है। अतः हमें सोच-विचार करके, आन्तरिक शुद्धि के लिये सद्गुरु का सहयोग लेकर, प्रबल पुरुषार्थ करना जरूरी है। इस हेतु सद्गुरु रूप वैद्य की सलाह लेनी जरूरी होगी और फिर सद्गुरु के निर्देशानुसार आन्तरिक उपचार और आन्तरिक उपचार के पोषक हों वैसे बाह्य उपचार भी विशेष सावधानी से लेने होंगे। ऐसा दीर्घकाल तक करने से और विवेक के साथ धार्मिक अनुष्ठान करने से हमारा आन्तर मल धीरे-धीरे कम हो सकता है। इसी हेतु ग्रंथकार गोचर आदि की शुद्धि के लिये सीख-शिक्षा दे रहे हैं ॥४॥

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते ।
अस्य योगस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥५॥

अर्थ : गोचर, स्वरूप और फल इन तीनों का सम्बन्ध जहाँ यथार्थ घटित होता हो, वह योग है। ऐसा होने पर योग शब्द का मुख्यार्थ यह होता है कि मोक्ष से जो जोड़ता है वह योग है॥५॥

विवेचन : गोचर :- गो-शब्द का अर्थ इन्द्रिय और मन होता है तथा चर-कर्म करने वाला अर्थात् जीव-इन्द्रिय और मन की सहायता से रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि पौद्गलिक भोगों का अनुभव करता है, इसलिये जीव को भी गोचर कहते हैं। कहा है – "विषयेषु परिणामी जीवः" विषयों में परिणाम पाने का स्वभाव है जिसमें, वह जीव है। इसी जीव के लक्षण को यहाँ योग की भाषा में गोचर कहा है। गोचर का अर्थ आत्मा है।

स्वरूप : आत्मा विषय कषायों में परिणत होकर, संसार बढ़ाता है और सद्गुरु के योग मिलने पर सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करके मुक्त स्थिति को पाता है। तात्पर्य यह है कि संसार के योग्य परिणामों और मोक्ष के योग्य परिणामों की शक्तियाँ-स्वभाव आत्मा में सन्निहित है। जब आत्मा प्रमाद में होती है तो उसका विकास नहीं होता और जब आत्मा जागती है और सद्गुरु का योग मिलता है तब वह अपना उद्धार करती है। जीव स्वयं ही मोक्षगामी भी है और नरकगामी भी, क्योंकि उसका स्वभाव परिणामी है – परिणमनशील है। परिणामी-परिणमनशील स्वभाव के कारण ही अपनी उच्च योग्यता से मुक्तस्थिति रूप फल को भी प्राप्त कर लेता है। कहा भी है : यः कर्ता कर्मभेदानां, भोक्ता कर्म फलस्य च। संसर्ता परिनिर्वाता स ह्यात्मा नान्य लक्षणः ॥१॥

इस प्रकार गोचर-आत्मा और उसका स्वरूप-लक्षण तथा मोक्ष-फल इन तीनों का सम्बन्ध जिस योग प्रक्रिया में यथार्थ घटता हो, वही योग कहा जाता है। आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजी फरमाते हैं कि "मोक्खेण जोयणाओ जोगो धम्मवावारो" मोक्ष के लिये जो धर्मव्यापार अर्थात् धर्म प्रवृत्ति

हो वही योग है, अर्थात् जहाँ आस्रव का त्याग हो, पंचयम रूप महाव्रत हो, पांच इन्द्रियों का रोध हो, अष्ट प्रवचनमाता का पालन हो, नवविध ब्रह्मचर्य का पालन हो, संवरभाव हो, चार कषायों का निग्रह हो वही मोक्ष का मुख्य कारण होता है। ऐसी धर्मप्रवृत्ति ही योग है और इसी में योग शब्द का जो मुख्यार्थ मोक्ष है घटित होता है। महर्षि पतञ्जलि ने भी योग का लक्षण बताया है कि "क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योग:" अर्थात् विषम चित्त की वृत्तियों को रोकना ही योग है। यह लक्षण योग में घटित होता है। ग्रंथकार का आशय यह है कि सर्वप्रथम गोचर याने योग का प्रधान विषय क्या है ? इसका विचार करना चाहिये, फिर स्वरूप सम्बन्धी करना क्रम प्राप्त है बाद में फल का पूर्वोक्त योगप्रक्रियानुसार आचरण से इष्ट फल किस प्रकार का प्राप्त होगा यह भी सोचना बहुत जरूरी है। ऐसा करने से "मोक्षेण योजनाद् योग:" अर्थात् मुक्ति की यानी रागद्वेष से मुक्ति पाने की क्रिया से योग हो। यहाँ ऐसे ही अनुष्ठान पसन्द करने चाहिये और फिर पसन्द किये हुए अनुष्ठानों में विवेक पूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये। यहाँ इस बात का ध्यान रखना भी जरूरी हैं कि रागद्वेष को दूर करने वाले अनुष्ठानों में, कहीं किसी प्रकार से रागद्वेष को बढ़ाने वाले, केवल आडम्बर अनुष्ठान धार्मिक नाम से न घुस जायँ। इन सब बातों का विचार जागृति पूर्वक करना जरूरी है। इसी हकीकत को पाँचवें श्लोक में ग्रंथकार ने इस प्रकार बताया है : सर्वप्रथम आचार्य श्रीहरिभद्रसूरिजी ने यह बताया है कि योग का विषय परिणामी आत्मा मानना चाहिये; आत्मा रागद्वेष के परिणामों से मलिन है उसको शुद्ध करने के लिये आत्मा के मलिन परिणामों को सद्विचारों के सामर्थ्य द्वारा, विवेक के साथ, आन्तर और बाह्य सदनुष्ठानों का अर्थात् तप तथा भावना आदि का आश्रय लेने से तथा सतत् सद्विचारों के प्रवाह का आश्रय लेने से आत्मा धीरे-धीरे अपनी मूल स्थिति को पा लेगी। यह भी तब ही हो सकेगा जब आत्मा परिणमनशील हो परंतु अगर आत्मा को कूटस्थ नित्य मान लिया जाय तो वह कभी बदल ही नहीं सकती और जब बदल ही नहीं सकती तो मलिन परिणामी आत्मा फिर शुद्ध परिणामी कैसे हो सकती है ? इस युक्ति से विचार करके, योग के विषयरूप आत्मा परिणामी होनी चाहिये ऐसा मानना जरूरी है। जैसे कोई मलिन वस्त्र है उसे स्वच्छ शुद्ध बनाने के लिये वस्त्र को परिणामी-परिणमनशील होना जरूरी है यदि वस्त्र कूटस्थ नित्य हो तो वह कभी भी शुद्ध नहीं हो सकता, पर परिणामी हो तो उसका मलिन परिणाम दूर हो सकता है और वह स्वच्छ परिणाम को पा सकता है। इस युक्ति से योग के विषय रूप आत्मा परिणामी होनी चाहिये ऐसा मानना जरूरी है। तात्पर्य यह हुआ कि आत्मा परिणामी है, अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से आत्मा परिणामी है और मूल द्रव्य की अपेक्षा से, आत्मत्व की अपेक्षा से आत्मा ध्रुव है जैन परिभाषा की अपेक्षा से दीप से लेकर, आकाश तक के सारे पदार्थ, पर्यायों की अपेक्षा से परिणामी और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य हैं, इस प्रकार योग के विषयरूप आत्मा को परिणामी मानकर ही आगे चलना होगा दूसरा विचार स्वरूप का करना जरूरी है। आत्मा का या सब पदार्थों का स्वरूप- 'उचित प्रवृत्ति करना है' अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व सभी पदार्थों का स्वरूप है अत: आत्मा भी अपनी

अनुकूल अर्थक्रियाकारिता धर्म से युक्त है। ऐसा मानना आवश्यक है। यही बात ग्रंथकार – स्वरूपं "सर्वार्थेषु उचित प्रवृत्ति लक्षणम्" शब्द द्वारा सूचित कर रहे हैं और फल मोक्षरूप है इस प्रकार पाँचवें श्लोक में गोचर, स्वरूप और फल का विवेचन ग्रंथकार ने कर दिया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि वास्तविक पदार्थ के विचार में कही भी उपचार करने की जरूरत नहीं है। उपचार अर्थात् जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसे वैसा मानना जैसे "माणवकः सिंहः" अर्थात् 'माणवक' नामक बालक सिंह है। यद्यपि बालक माणवक सिंह नहीं हो सकता परन्तु बोलने वाला माणवक में सिंहत्व का आरोप करके 'माणवकः सिंहः', ऐसी भाषा का भी प्रयोग करता है परन्तु यहाँ यथार्थ वास्तविक पदार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसे कोई कल्पित उपचार की जरूरत ही नहीं है अर्थात् प्रस्तुत में योग शब्द "मोक्षेण योजनात् योगः" जिस अनुष्ठान से प्रवृत्ति से या क्रिया से, कर्ता का मोक्ष के साथ सम्बन्ध हो उसी का नाम योग है, और यह 'योग' नाम अपने अर्थ के अनुसार ही उपयुक्त होता है। इससे प्रस्तुत में योग के अर्थ के लिये किसी प्रकार के उपचार की आवश्यकता नहीं है, यह ध्यान में रखना जरूरी है।

आशय यही है कि गोचर-आत्मा, उसका स्वरूप और उसका परिणाम तीनों का जहाँ परस्पर मेल हो, संवाद हो वही योग है, योग शब्द का मुख्यार्थ यही है। जिस योग में इन तीनों का परस्पर मेल न खाता हो वह वास्तविक योग नहीं ॥५॥

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च तत्स्वाभाव्यात्तयोस्तथा ॥६॥

अर्थ : आत्मा, आत्मा से अन्य कर्मवर्गणा रूप पुद्गल संयोग से संसारी कही जाती है और कर्मवर्गणा रूप पुद्गलों के वियोग से वही आत्मा मुक्त कहलाती है क्योंकि आत्मा का मुख्य स्वभाव मोक्ष ही है ॥६॥

विवेचन : जीव के दो प्रकार हैं - संसारी और मुक्त। जब तक आत्मा कर्मरूप पुद्गल के साथ संयुक्त है अर्थात् जब तक आत्मा के साथ कर्म का संयोग है वह संसारी है और जैसे अग्नि से तपा कर, स्वर्ण शुद्ध किया जाता है तब उसकी सर्व मलिनता नष्ट हो जाती है और कीमती देदीप्यमान स्वर्ण प्रकट होता है। उसी प्रकार सद्गुरु के योग से व उपदेश से कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योगरूप आस्रव को समाप्त करने के लिये सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करके, कर्मों को खपा कर वही आत्मा मुक्त कहलाती है। मोक्ष प्राप्त करना जीवों का मूल स्वभाव है, किंतु जब तक आत्मा परम पुरुषार्थ नहीं करे तब तक आत्मा के मूल गुण का विकास नहीं होता। इस स्थिति में आत्मा को व्यवहार से द्रव्यात्मा-संसारी कहते हैं। स्वर्ण की भांति आत्मा और कर्म का परस्पर अनादि सम्बन्ध है। अध्यात्मयोगी श्रीआनंदघनजी ने छठे श्री पद्मप्रभ के स्तवन में यही कहा है :-

कनकोपलवत् पयडी पुरुषतणी रे, जोड़ी अनादि स्वभाव;
अन्य संजोगी जिहां लगे आत्मा रे संसारी कहेवाय । पद्मप्रभुजिन० ॥३॥

इसी कर्म-संयोग को अन्यमतावलम्बी वेदांती "माया", सांख्य "प्रकृति" और जैन "कर्म" कहते हैं जो कि मात्र शब्द भेद है ।

आत्मा से सर्वथा भिन्न पौद्गलिक कर्मों की वर्गणाओं के संयोग से आत्मा संसारी अर्थात् भवभ्रमण करने वाली बन जाती है और जब आत्मा पौद्गलिक कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाती है तब वह वीतरागदशा को यानी रागद्वेषों के संस्कारों से सर्वथा मुक्त बन जाती है । जब शरीरधारी ऐसी वह आत्मा देहरहित हो जाती है तब उसे मूल कहा जाता है । आत्मा को होने वाला यह कर्मपुद्गल संयोग और उस कर्मसंयोग का सर्वथा वियोग ये दोनों स्थितियां अर्थात बन्ध और मोक्ष ये दोनों आत्मा के स्वभावभूत ही हैं । अनादिकाल से आत्मा बंधन में पड़ी है, आत्मा अपने परम पुरुषार्थ द्वारा जब बंधन से मुक्त होकर, सर्वथा स्वाधीन, स्वतन्त्र, अबद्ध हो जाती है अपना स्वभाव अभिव्यक्त कर पाती है यानी अपने स्वभाव में स्थित हो जाती है । तब वह आत्मा मुक्त कहलाती है ॥६॥

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः ।
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥७॥

अर्थ : अन्य देवों का अनुग्रह भी जीव के स्वभाव के कारण सफल होता है । किन्तु दूसरी तरह से विचारें तो अनुग्रह घटित ही नहीं सकता ॥७॥

विवेचन : अद्वैत, नैयायिक आदि अन्य मतानुसार शिव, राम, कृष्ण, विष्णु आदि अपने-अपने इष्टदेवों के अनुग्रह से ही जीव शुद्धज्ञान, क्रिया, चारित्र आदि प्राप्त करता है तथा संसार में चक्रवर्तीत्व, देवत्व, इन्द्रत्व के वैभव विलास आदि इहलौकिक-पारलौकिक भोगों की प्राप्ति भी उनके प्रसाद से ही होती है । अन्त में मोक्ष की प्राप्ति भी उनकी कृपा से ही उपलब्ध होती है अर्थात् शुद्धज्ञान की प्राप्ति और उस चारित्र द्वारा मुक्ति की प्राप्ति में भी ईश्वर का अनुग्रह ही मुख्य कारण है, प्रधान कारण है, आत्मा का निज पुरुषार्थ गौण कारण है। शिवानुयायी कहते हैं महेश्वर की कृपा-अनुग्रह से जीव शिव बन सकता है और जब तक शिव का अनुग्रह न होगा तब तक जीव संसार में भटकता रहता है । अतः जीव को मुक्त होने में शिव का अनुग्रह ही प्रधान कारण है, आत्मा का पुरुषार्थ प्रधान कारण नहीं । इसका प्रत्युत्तर ग्रंथकार ने 'अनुग्रहोऽपितत्स्वाभाव्यनिबन्धनः' इस श्लोक के प्रथमपाद के द्वितीय अंश से सूचित किया है । शिव अनुग्रह वस्तु के स्वभाव को कभी बदल नहीं सकता अर्थात् पदार्थ मात्र अपने स्वभावानुसार वर्तन करते हैं । अग्नि का उष्ण स्वभाव है तो क्या शिव भगवान अग्नि के उष्णस्वभाव को बदलकर, शीतल स्वभाव कर सकते हैं? क्या उष्णतम

किरणों से जगत को प्रचण्डताप से तप्त और प्रकाशमान करने वाले प्रचण्डभानु सूर्य को शिव चन्द्रवत शीतल बनाकर जगत में अन्धेरे का प्रसार कर सकते हैं ? अर्थात् सूर्य के स्वभाव को बदल सकते हैं ? जिस प्रकार सूर्य के स्वभाव को वे बदल नहीं सकते उसी प्रकार आत्मा का मुक्त होने का स्वभाव है इससे आत्मा अपने निज के शुद्धिकरण के प्रचण्ड पुरुषार्थ से स्वयं ही सर्वथा शुद्ध हो सकती है। इसलिये किसी के भी अनुग्रह की जरूरत नहीं होती। अर्थात् शिव का अनुग्रह आत्मा के मुक्त होने में मुख्य कारण नहीं बन सकता। वस्तु का जिस प्रकार का स्वभाव होता है उस स्वभाव के अनुसार ही वस्तु की स्थिति बनती है, उसमें किसी परमेश्वर या शिव का भी कुछ नहीं चल सकता। अतः जिस आत्मा का मुक्त होने का ही स्वभाव है, उस स्वभाव के अनुसार पूर्वोक्त प्रक्रिया से आत्मा स्वयं ही मुक्त हो जाती है। अगर जीव या पदार्थ के स्वभाव की योग्यता को न माना जाय तो संसार के पदार्थ-पर्वत, सागर, चन्द्र, सूर्य जल, पृथ्वी आदि छोटे-बड़े पदार्थ मुख्यरूप से जो अपने स्वभाव के अनुसार रह रहे हैं, ऐसा न होकर पृथ्वी जल हो जाय, जल पृथ्वी हो जाय, पर्वत सागर हो जाय और सागर पर्वत हो जाय। परन्तु जब से लोगों ने जगत को देखा है तब से आज तक कभी भी ऐसा हुआ हो, अर्थात् वस्तु का स्वभाव उलट-पलट बना हो, ऐसा किसी का भी अनुभव नहीं है। अर्थात् वस्तु के स्वभाव परिवर्तन में किसी का भी सामर्थ्य नहीं चल सकता - वस्तु मूल अपने स्वभावानुसार ही वर्तन करती रही है। इसमें किसी का भी — शिव का भी अनुग्रह या निग्रह परिवर्तन नहीं ला सकता। जिस आत्मा का मौलिक स्वभाव ही मुक्त होने का है; उस आत्मा को मुक्तदशा पाने के लिये किसी के अनुग्रह की जरूरत नहीं हो सकती और जिस आत्मा का मुक्त होने का स्वभाव ही नहीं है उसको स्वयं शिव भी मुक्त नहीं कर सकते। इस प्रकार "स्वभावः अपरिवर्तनीयः" वे गीता में भी लिखा है :- "न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते" ।।गीता, अ. ५ श्लो. १४।।

"प्रकृतिं यान्ति भूतानि; निग्रह किं करिष्यति।" सभी प्राणी अपनी प्रकृति-स्वभावानुसार ही गति प्राप्त करते हैं, इसमें ईश्वर की कोई कृपा काम नहीं आ सकती। "नादते कस्यचित् पापं, न चैव सुकृतं विभुः। अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।" गीता, अ. ५ श्लो. १५।।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव भावितः ।।१।।

गीता के आठवें अध्ययन के छठे श्लोक में नारायण श्रीकृष्ण कहते हैं, हे! कौन्तेय, अर्जुन! प्राणी-जीव मृत्यु के समय जिस-जिस भावरूप लेश्या का स्मरण करते हुए मरते हैं वैसा ही नया जन्म धारण करते हैं। वहां किसी भी ईश्वर की कृपा-प्रसाद काम आता नहीं, कारण जीव का वैसा स्वभाव ही मुख्य कारण है और उपादान कारण है ईश्वर की कृपा और अवकृपा। ईश्वरकृपा को मुख्य उपादान कारण मानने से ईश्वर में दोषापत्ति आती है, ईश्वरकृपा निमित्त कारण हो सकती है

मुख्य नहीं । जगत की विचित्रता जो दिखाई देती है वह विविध कर्मों का ही फल है । हम जो ईश्वर की कृपा कहते हैं, वह ईश्वर में हमारी भक्ति की अधिकता का सूचक होने से हमारी नम्रता का प्रकटीकरण होने से औपचारिक कथन मात्र है जैसे व्यवहार में विद्यार्थी कहता है कि आज मैं जो कुछ भी हूँ उसमें मेरे अध्यापक का संपूर्ण श्रेय है । यह व्यवहारिक भाषा में कथन है । उपादान, मुख्य कारण नहीं हो सकता मुख्य कारण तो अपनी स्वभाव की योग्यता ही होती है ॥७॥

केवलस्यात्मनो न्यायात् सदाऽऽत्मत्वाविशेषतः ।
संसारी मुक्त इत्येतद् द्वितयं कल्पनैव हि ॥८॥

अर्थ : केवल आत्मा है, आत्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं ऐसा न्याय मानने से जीव के दो भेद संसारी और मुक्त की अद्वैत भाव कल्पना मात्र ही रहेगें ॥८॥

विवेचन : यहाँ हरिभद्रसूरि अद्वैतवाद पर आक्षेप करते हैं । "बह्मसत्यं जगन्मिथ्या" एक आत्मा ही सत्-विद्यमान है, उसके सिवाय अन्य कर्म, शरीर, इन्द्रिय, मन, राजा, प्रजा, सेठ, नौकर, पुरुष-स्त्री, माता-पिता, शत्रु-मित्र, नगर, पर्वत आदि सभी असत् मिथ्या है ऐसा मानने से संसार का जो व्यवहार चलता है सब ही नष्ट हो जाता है । "**सर्वं खलु इदं ब्रह्मनेह नास्ति कदाचन**" अलग-अलग घर, दुकान, राजा, प्रजा, इत्यादि जो दिखाई देता है वह सब एक ब्रह्म ही है, ऐसा एकान्त ब्रह्म-आत्मा को स्वीकार करके, अन्य वस्तु का निषेध करने से आत्मा को सुख-दुःख देने वाले कारणभूत कर्म-सम्बन्ध को भी नहीं मान सकते । "**परं ब्रह्म अपर-ब्रह्म**" रूप, आप जीव के संसारी और मुक्त ऐसे जो दो भेद मानते हैं आपकी यह मान्यता भी असत्य सिद्ध होती है ।

अगर एक आत्मा ही है, तो देवगुरु की पूजा, संयम, इन्द्रियनिग्रह, ब्रह्मचर्य, दया, व्रत आदि नियमों की, किसी की भी जरूरत नहीं रहती । कारण ब्रह्म की सत्ता सिवाय किसी की भी सत्ता का अस्वीकार है, अतः "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" की कल्पना से आप के ही सिद्धान्त का अपलाप है, यह तो आप की कल्पना है वास्तविक नहीं । ग्रंथकर्ता कहना चाहते हैं कि एकान्तदृष्टि, एकान्तवाद हानिकर्ता है और अनुपयुक्त सिद्ध होता है । आपके सिद्धान्त को अगर एकान्तवाद से कोई समझने का प्रयत्न करेगा तो विरोधाभास आयेगा, अपलाप होगा, परन्तु अनेकान्तदृष्टि से सभी का समन्वय हो सकता है ॥८॥

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न ।
शुद्ध्यशुद्धी ऋते शब्दात् तद्वदत्राप्यसंशयम् ॥९॥

अर्थ : शुद्ध की हुई स्वर्ण धातु व प्राकृतिक स्वर्ण रज (जिसकी अभी शुद्धि होनी शेष है) में स्वर्णत्व समान होने पर भी यह शुद्ध स्वर्ण है वे यह अशुद्ध स्वर्ण है ऐसा जो भेद दिखाई देता है वह शाब्दिक मात्र है, वैसा ही यहाँ आत्मा के संबंध में भी जानना चाहिये ॥९॥

विवेचन : शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्ण में जो स्वर्णत्व है वह स्वर्णत्व दोनों में समान होने पर भी यह शुद्ध स्वर्ण है; यह अशुद्ध स्वर्ण है – ऐसी भेद कल्पना करना, शाब्दिक कल्पना के सिवाय कुछ नहीं । इसी प्रकार आत्मतत्त्व तो सर्वत्र सभी आत्माओं में विद्यमान है फिर उसमें अमुक भाग को यह संसारी आत्मा है अमुक भाग को वह मुक्त आत्मा है – इस प्रकार की कल्पना करना भी मात्र शाब्दिक कल्पना के सिवाय कुछ नहीं है, अत: आत्मा एक ही है सर्वात्मवादी । अद्वैतवादी को कहीं भी भेद दिखाई नहीं देता क्योंकि आत्मा के सिवाय, अद्वैत मतानुसार, कर्म और माया को असत् माना है । आत्मा से अन्य कर्म का अभाव होने पर आत्मा का संसार और मुक्ति सिद्ध नहीं होती। अत: नि:सन्देह मात्र आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकारना पड़ेगा । यह सिद्धान्तबद्ध और मुक्त विचार के साथ भी युक्तियुक्त घटित नहीं होता है । जब आत्मा के अभेद का सिद्धान्त त्रुटित हो जाता है तब इस सम्बन्ध में किस तरह की व्यवस्था की जाय जिससे बन्ध और मुक्ति के विचार संगत हो सके ? पूर्वोक्त छठे पद्य में कहा गया है कि "आत्मा, आत्मा से भिन्न कर्म, पुद्गल के संयोग से संसारी बनता है और कर्मपुद्गलों के वियोग से वही आत्मा मुक्त हो जाती है - सदेह मुक्त विदेहमुक्त बनता है ॥९॥

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का संयोग किस तरह हो सकता है ? जब तक संयोग होने की योग्यता न होगी तब तक किसी भी वस्तु-पदार्थ का व पुद्गल परमाणु का परस्पर संयोग नहीं हो सकता । इसी बात को ग्रंथकार दसवें श्लोक में दर्शा रहे हैं :-

योग्यतामन्तरेणास्य संयोगोऽपि न युज्यते ।
सा च तत्तत्त्वमित्येवं तत्संयोगोऽप्यनादिमान् ॥१०॥

अर्थ : बिना योग्यता (अर्थात् कर्मसंयोग के अनुकूल परिणति) के आत्मा का कर्म के साथ संयोग-सम्बन्ध भी घटता नहीं । वह योग्यता तत्त्व ही, आत्मा का अनादि स्वभाव है, इसलिये योग्यता (कर्मसंयोग के अनुकूल परिणति) और कर्म-संयोग दोनों अनादि हैं ।

अथवा

आत्मा का कर्म के साथ संयोग सम्बन्ध जीव की योग्यता के बिना संभव नहीं इसलिये आत्मा की कर्म-सम्बन्ध की जो योग्यता है वही उसका अनादि स्वभाव है इस कारण कर्म का आत्मा के साथ जो संयोग सम्बन्ध है उसे भी अनादि कालीन समझना चाहिये ॥१०॥

विवेचन : जीव से अन्य कर्म क्रियारूप होने से कर्ता की अपेक्षा रखता है और कर्ता कर्म से भी पहले होना चाहिये क्योंकि दोनों का युगपत् जन्म मानने से "सन्येतर गोविषात" की भाँति इसका कार्य-कारण भाव नहीं घटता । कार्य-कारण, बिना स्वरूप में स्थित ऐसे शुद्ध जीव को सर्वप्रथम कर्मसंयोग कैसे हुआ ? जिससे वह संसारी बना । इसी को स्पष्ट करने के लिये कहा है

कि जीव की योग्यता अर्थात् कर्मसंयोग अनुकूल परिणति के बिना कर्म का संयोग घटित होता नहीं। यह योग्यता-कर्मसंयोग अनुकूल परिणति ही तत्त्व है। जीव का जीवत्व है । योग्यता=कर्म संयोग अनुकूल परिणति और आत्मा दोनों अनादि हैं । आनदंघनजी ने भी कहा है :-

"कनकोपलवत् पयड़ी पुरुषतणी रे
जोड़ी अनादि स्वभाव" (पद्मप्रभु स्तवन)

आशय यह है कि योग्यता-बिना कर्म-संयोग नहीं और कर्म-संयोग बिना संसार नहीं, इसलिये वह योग्यता ही तत्त्व है । आत्मा का अनादि स्वभाव-जीव का जीवत्व अनादि कालीन योग्यता से ही जीव अनादिकाल से कर्मबन्धन करता है और संसार में भ्रमण करता है, अशुद्ध स्वर्ण की भांति कर्म सम्बन्ध भी आत्मा के साथ परम्परा-प्रवाह की अपेक्षा से अनादि कालीन होता है। परन्तु आत्मा जब प्रबल पुरुषार्थ करता है तो वह अपने पुरुषार्थ से कर्मबंधन की योग्यता का नाश करता है और मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता को प्रगट करता है । योग्यता रूप स्वभाव को प्राप्त करके, जीव कर्मक्षय करके, कर्मबन्धन की योग्यता का नाश करता है। अतः जीव और कर्म अनादि कालीन है किन्तु कर्मक्षय होने से अनादि सान्त हो जाता है ।

योग्यता के बिना किसी भी वस्तु का संयोग नहीं हो सकता । आकाश के साथ किसी भी वस्तु का ऐसा संयोग नहीं हो सकता कि जिस संयोग से कुछ परिणाम दिखाई दे । दो रूपी पदार्थों का संयोग ही किसी प्रकार के परिणाम को उत्पन्न कर सकता है अर्थात् ऐसा संयोग ही परिणाम दर्शक संयोग बन सकता है । जब तक आत्मा काषायिक भावों से युक्त है तब तक काषायिक अणुओं के साथ संलग्न होने से, जैन परिभाषा में ऐसी आत्मा को रूपी माना जाता है । इस रूपी आत्मा के साथ जो रूपी-कर्म अणुओं का संयोग होता है; वह परस्पर दो रूपी पदार्थों का ही संयोग कहा जाता है । परन्तु इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि योग्यता के बिना तो किसी का संयोग भी नहीं हो सकता। आकाश में कर्म पुद्गलों के परमाणु रहते हैं पर आकाश के साथ उन परमाणुओं का संयोग किसी प्रकार का परिणाम पैदा नहीं कर सकता। जब आत्मा कषायी होता है तब किसी अपेक्षा से रूपी बन जाती है, उस कषायी आत्मा के साथ रूपी कर्म पुद्गलों का संयोग संघटित हो सकता है । आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों के संयोग होने की योग्यता आत्मा में स्वाभाविक ही है। संयोग तो आदिमान् होता है अर्थात् इस पदार्थ का उस पदार्थ के साथ अमुक काल में संयोग हुआ है। परन्तु यहाँ जो आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का संयोग है यह आदिमान नहीं है पर अनादि काल से यह संयोग चला आया है । तात्पर्य यह हुआ कि संयोग भी योग्यता के बिना नहीं घट सकता और यह योग्यता भी आत्मरूप ही है, आत्मा से कोई अलग नहीं है। इस प्रकार जैसे आत्मा अनादि है वैसी ही उसकी योग्यता भी अनादि है, अर्थात् आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों का संयोग अनादिकाल से चला आता है। यह संयोग अमुक काल में हुआ ऐसी बात संगत नहीं हो सकती।

जिस प्रकार प्रकृति और पुरुष का संयोग सम्बन्ध अनादि काल का है, वासना तथा जीव का सम्बन्ध अनादि है और ब्रह्म के साथ माया का संयोग सम्बन्ध अनादिमान है इसी प्रकार आत्मा और कर्म परमाणु का संयोग अनादिमान है ।

इस सम्बन्ध को आदिमान मानने से और वासना व माया के संयोग को आदिमान मानने से अनेक प्रकार की आपत्तियां खड़ी हो जाती हैं । इस कारण जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्यदर्शन, वेदान्त दर्शन आदि सभी दर्शनों के विचार से, पूर्वोक्त संयोग अनादिमान माना जाता है ॥१०॥

योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुनः ।
अतीतकालसाधर्म्यात् किन्त्वाज्ञातोऽयमीदृशः ॥११॥

अर्थ : 'योग्यता' से जीव तथा कर्मपुद्गलों का संयोग होता है इसलिये 'योग्यता' को अगर 'अनादिकालीन' न माने तो विरोध आता है (अतः) जैसे काल 'प्रवाहरूप' से 'अनादि' है इसी प्रकार 'बन्ध' भी वैसा ही हैं, दोनों का साधर्म्य है । इसे शास्त्राज्ञा से मानना चाहिये ॥११॥

विवेचन : योग्यता-"कर्मसंयोगानुकूल परिणति" आत्मा का जो 'स्वभाव' है वह 'अनादि' माना है । जीव इस योग्यता के कारण जो 'कर्मबन्ध' करता है वह 'बन्ध' भी 'अनादि-सांत' माना है । अगर कर्मबन्ध को 'अनादि सांत' न माने अर्थात् अगर ऐसा माने कि पहले आत्मा कमलपत्रवत् निर्लेप था, बाद में कर्म संयोग हुआ तो विरोध यह आता है कि मुक्तात्मा, सिद्धात्मा जो शुद्ध हो चुका है, उन्हें भी कर्मबन्ध प्रारंभ हो जायगा । इसलिये योग्यता और कर्मबन्ध दोनों अनादि ही मानने चाहिये, लेकिन अनादित्व कैसा है ? 'काल' का दृष्टान्त देकर बताया है कि – काल, भूत, भविष्य, वर्तमान भेद से आदि वाला होने पर भी प्रवाहरूप से अनादि माना जाता है, उसी प्रकार आत्मा का कर्म के साथ संयोग समय-समय पर होने पर-आदिमान होने पर भी प्रवाहरूप से अनादि ही माना जाता है । आगमों में भी जिनेश्वर प्रभु ने कर्मबन्ध को अनादि बताया है । अन्य सभी दर्शनकारों ने भी इसको अनादि ही माना है ।

पूर्वोक्त योग्यता का विचार अर्थात् जीव के साथ जो कर्म के अणुओं का सम्बन्ध हो गया है यह जीव की अनादि कालीन योग्यता ही है । जीव के साथ उक्त सम्बन्ध अनादिकाल से चला आता है । इस विचार को सभी दार्शनिकों ने स्वीकृत किया है । यदि योग्यता को आदिमान माना जाय तो बन्ध को भी आदिमान मानना होगा । ऐसा मानने से यह भी फलित हो जाता है कि पहले जीव शुद्ध था । बाद में उसके साथ कर्म के परमाणु का सम्बन्ध बना । इस विचार को मानने से मुक्त आत्माएँ जो शुद्ध हो गई हैं, उसके साथ भी कर्मअणुओं का बन्ध क्यों नहीं होता ? परन्तु काषायिक भावों के बिना तो किसी भी जीव के साथ कर्म के अणुओं का बन्ध नहीं हो सकता, यह 'सिद्धान्त' सभी को स्वीकृत है । अतः पहले जीव शुद्ध था और बाद में कर्म पुद्गलों का उसके

साथ सम्बन्ध हुआ 'यह मान्यता' युक्तियुक्त नहीं हो सकती। पूर्वोक्त कथनानुसार जीव में अनादिकाल से कर्म के अणुओं के साथ बद्ध होने की योग्यता है। यह योग्यता भी अनादिकालीन है ॥११॥

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्ययोग्यतापेक्ष एव तु ।
नाणुः कदाचिदात्मा स्याद् देवतानुग्रहादपि ॥१२॥

अर्थ : अनुग्रह भी अनुग्राह्य (अनुग्रह स्वीकार करने वाले) जीव की योग्यता की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अयोग्य अणु-परमाणु, देव के अनुग्रह होने पर भी कभी भी आत्मा नहीं बन सकता है॥१२॥

विवेचन : संसार अर्थात् बन्ध अनादि है। शैवपंथी जो यह कहते हैं कि ईश्वर अर्थात् शिव की कृपा से ही जीव इस अनादि बन्धन से छूट सकते हैं। उनको लक्ष्य में रखकर, ग्रंथकर्ता कहते हैं कि ईश्वर की कृपा-अनुग्रह, अनुग्राह्य जीव की योग्यता की अपेक्षा रखता है, अर्थात् जीव में योग्यता हो तभी ईश्वर की कृपा सफल होती है। यदि बिना योग्यता के ही ईश्वर की कृपा सफल होती हो तो जड़ परमाणु के उपर किसी देव का महान अनुग्रह उसे आत्मा-चेतन में बदल दे, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। ईश्वर की कृपा में ऐसा सामर्थ्य नहीं कि वह जड़ को चेतन और चेतन को जड़ में बदल दे। इस प्रकार सिद्ध यह हुआ कि जीव की योग्यता ही संसार और मोक्ष में प्रधान कारण है, ईश्वर की कृपा नहीं। ईश्वर का अनुग्रह निमित्त कारण जरूर हो सकता है। जीव कर्मबन्ध की योग्यता से संसार में भटकता है और कर्मक्षय में कारणभूत भव्यत्व की योग्यता से ही मोक्ष प्राप्त करता है। ईश्वर की कृपा सहायक हो सकती है, प्रधान कारण नहीं। ग्रंथकार का आशय यह है कि स्वयं शिव अनुग्रह करने वाले है और कर्मबद्ध जीव शिव द्वारा अनुग्राह्य बनता है। पर विचारणीय बात तो यह है कि जीव में अनुग्रह पाने की योग्यता हो, तभी शिव का अनुग्रह जीव के सम्बन्ध में सफल होता है। यदि जीव में अनुग्रह पाने की योग्यता ही नहीं होती तो शिव का अनुग्रह भी सफल नहीं हो सकता। आखिर तो सब आधार जीव की योग्यता के ऊपर ही अवलम्बित है। यदि जीव की अनुग्रह पाने की योग्यता है तो जीव शिव की कृपा से मुक्त हो सकता है, परन्तु जीव की अनुग्रह पाने की योग्यता ही नहीं हो तो जीव कभी भी शिव नहीं हो सकता अर्थात् मुक्त नहीं हो सकता। योग्यता बिना, केवल ईश्वर की कृपा, जड़-परमाणु को चेतन बना सकती है क्या ? चेतन को जड़ में परिवर्तित कर सकती है क्या ? अर्थात् नहीं। किसी भी बड़े से बड़े समर्थ देव का अनुग्रह भी किसी पदार्थ के स्वभाव को बदलने में कभी भी सफल नहीं हो सकता। जीव का कर्म अणुओं के साथ संयोग अथवा मुक्त होना जीव की अपनी योग्यता के आधार पर ही युक्तियुक्त है। जब विशिष्ट सामर्थ्य, योग्यता में ही निहित है तब ईश्वर के अनुग्रह को बीच में लाने की कोई जरूरत नहीं हो सकती। अनुग्रह होने पर भी जीव में अनुग्रह पाने की योग्यता तो माननी ही पड़ेग ॥१२॥

कर्मणो योग्यतायां हि कर्त्ता तद्व्यपदेशभाक् ।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन लोकसिद्धमिदं ननु ॥१३॥

अर्थ : कर्म की अर्थात् कर्मगत योग्यता होने पर ही जीव को उसका कर्ता कहा जाता है; यह जगप्रसिद्ध बात है । अन्यथा कर्मगत योग्यता के बिना कर्ता मानने से कर्तृत्व में अतिव्याप्ति का दोष आता है ॥१३॥

विवेचन : कर्मगत योग्यता होने पर ही अर्थात् जिस जीव पर क्रिया करनी हो, उस जीव में क्रियमाणक्रिया होने की योग्यता होनी ही चाहिये, यदि क्रिया होने की योग्यता न हो तो लाख प्रयास करने पर भी क्रिया के अयोग्य पदार्थ के ऊपर क्रिया कभी नहीं हो सकती, जैसे हम मूंग को पकाना चाहते हैं, जिस मूंग में पक्क क्रिया होने की योग्यता ही नही हो वह मूंग कितना भी इन्धन जलाने पर भी पक नहीं सकता । अर्थात् पदार्थ क्रिया के योग्य हो तभी उस पर क्रिया करने वाला उस क्रिया का कर्ता हो सकता है । यदि पदार्थ में क्रिया पाने की योग्यता ही न हो तो सारे प्रयत्न निष्फल हो जायेंगें और फलरूप कुछ भी परिणाम नहीं होगा यह बात लोक प्रसिद्ध है, अतः इसके लिये किसी भी युक्ति व प्रमाण की जरूरत नहीं हो सकती । विशेष स्पष्टीकरण के लिये कह सकते हैं कि पुरुष के उदर से बालक का जन्म नहीं हो सकता, पुरुष का उदर गर्भधारण के योग्य बन ही नहीं सकता, स्त्री के ओष्ठ के उपर कभी मूंछ उग नहीं सकती, स्त्री के शरीर के भागरूप ओष्ठ के उपर मूंछ उगने की योग्यता ही नहीं है । गाय, बैल आदि पशु कभी मानव के समान स्पष्ट भाषा बोल ही नहीं सकते, क्योंकि उनमें स्पष्ट भाषा बोलने की योग्यता ही नहीं है, अतः सिद्ध यह होता है कि योग्यता के बिना कोई भी कार्य नहीं सकता ॥१३॥

अन्यथा सर्वमेवैतदौपचारिकमेव हि ।
प्राप्नोत्यशोभनं चैतत् तत्त्वतस्तदभावतः ॥१४॥

अर्थ : अन्यथा अर्थात् योग्यता के बिना भी ये सब कार्य होने लगे तो सारे पदार्थ औपचारिक ही बन जायेगें और ऐसा हो जाय तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि उसमें तत्त्वतः सत्य का अभाव हो जाता है ॥१४॥

विवेचन : अन्यथा-अर्थात् कर्मगत योग्यता के बिना ही कर्ता मानने से कर्ता, कर्म, क्रिया आदि जो व्यवस्था है यह औपचारिक ही बन जायगी । जिसका कर्ता वास्तविक न हो; औपचारिक हो; फिर भी उसे कर्म का कर्ता माने तो व्यवहार प्रायः लुप्त हो जाता है, क्योंकि औपचारिक वस्तु वास्तव में होती ही नही है । जैसे 'पुरुषसिंहः' में पुरुष पर सिंहत्व का आरोप केवल औपचारिक लाक्षणिक है, पुरुषसिंह कहने से पुरुष सिंह नहीं बन (सकता) जाता । इसी प्रकार कर्मगत योग्यता को स्वीकार न करने से अमुक व्यक्ति ने अमुक कर्म किया यह तत्त्वतः वास्तव में कहा नहीं जायेगा,

परिणामतः पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष की शास्त्रीय सब व्यवस्था काल्पनिक सिद्ध होगी और जब मुख्य मोक्ष आदि ही काल्पनिक सिद्ध होंगे तो सर्व सत्प्रयत्न व्यर्थ हो जायेंगे, इसलिये आत्मा में तात्त्विक भाव से कर्मसंयोग और कर्मवियोग की योग्यता को स्वीकार करना चाहिये तथा कर्म में भी बन्ध और वियोग की योग्यता स्वीकृत करनी चाहिये। ग्रंथकार का आशय है कि औपचारिक पदार्थ सद्रूप नहीं होते, इस कारण जो पदार्थ वास्तविक हैं, उसे औपचारिक नहीं मानना चाहिये। प्रस्तुत में जिसमें क्रिया करने की योग्यता ही नहीं है, उसको भी कर्ता माना जाय अर्थात् उपचार से अकर्ता को भी कर्ता माना जाय तो सारा व्यवहार ही नष्ट हो जायेगा। एक आदमी लोहे के गोल टुकड़े को उपचार से चांदी का रूपया मानकर, बाजार में कुछ खरीदने जायेगा तो दुकानदार उसे शीघ्र पुलिस के सुपुर्द कर देगा । बाजार में इस प्रकार का उपचार कभी भी नहीं चल सकता। जलते हुये अंगारे को उपचार से शीतल जलरूप जानकर, किसी के उपर फेकेंगे तो क्या परिणाम आयेगा ? सब समझ सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जहाँ वास्तविक प्रवृत्ति होनी चाहिये वहाँ उपचार कभी नहीं चल सकता। जिस पदार्थ में क्रिया ही नहीं हो सकती वहाँ क्रिया का उपचार करना; जिसमें कर्तृत्व ही नहीं उसे कर्ता मानकर व्यवहार करना यह सब प्रयत्न गगनकुसुम के समान है। प्रस्तुत में आत्मा में जो योग्यता मानी गई है; वह उपचार जन्य नहीं है और जो कर्माणुओं का बन्ध होता है वह भी कोई औपचारिक कल्पना नहीं है। कर्मबन्ध के हेतु एवं करने वाला जीव यह सब कल्पना कल्पित नहीं, औपचारिक नहीं। ऐसा होने पर इन सबको औपचारिक माना जाय तो संसार अभावरूप बन जायगा। कल्पना कल्पित मानने से कर्म कल्पित बन जाता है, परन्तु वास्तव में ऐसी बात कोई भी दार्शनिक नहीं मानता। अतः व्यवहार के क्षेत्र में कहीं भी उपचार लगाना-मानना सरासर असत्य है। प्रस्तुत आत्मा की योग्यता न होने पर भी केवल ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा को मुक्त मानना औपचारिक है। औपचारिक बात सत्य नहीं होती इसमें आत्मा की योग्यता को मानना ही चाहिये स्वीकारना ही चाहिये ॥१४॥

उपचारोऽपि च प्रायो, लोके यन्मुख्यपूर्वकः ।
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्वमित्थमेव व्यवस्थितम् ॥१५॥

अर्थ : प्रायः लोक में उपचार भी मुख्यार्थ पूर्वक ही किया जाता है। यह हमारा अनुभव है। यहाँ भी मुख्य वस्तु को बाधा-आपत्ति न आये ऐसी ही व्यवस्था उचित है ॥१५॥

विवेचन : उपचार भी कहाँ और कैसे करना, उसका स्वरूप बताया है कि लोकव्यवहार में भी जहाँ उपचार-आरोप की शक्यता हो, उस वस्तु के मुख्य धर्म-गुण, स्वभाव को लक्ष्य में रखकर ही आरोप-उपचार किया जाता है, परन्तु जिस का स्वरूप दृष्टिगोचर न होता हो और भविष्य में भी कभी दृष्टिगोचर होने की सम्भावना न हो, ऐसी वस्तुओं में उपचार व्यभिचारी माना जाता है। दृष्टान्त -- "मेरु मन्थनेन मथितो नीरनिधिः सुरैः" यहाँ पर शेषनाग पर रस्सी का उपचार, मेरु

पर मथनी का उपचार जो किया गया है उसमें कितनी ही असम्बन्धित लोक कथाओं का आधार लिया गया है, परन्तु वह मुख्य वस्तु के यथार्थ स्वरूप को प्रकट नहीं करता, इसलिये वह व्यभिचारी उपचार है, वास्तविक नहीं। परन्तु मुख्य अर्थ को ध्यान में रखकर उसके भावानुसार जो उपचार किया जाता है; उसमें यथार्थता दृष्टिगोचर होती है। यहाँ जीव कर्मबन्ध की योग्यता से संसार भ्रमण करता है और भव्यत्व स्वभावरूप योग्यता से मुक्ति प्राप्त करता है। किन्तु यदि सद्गुरु के योग से जीव मोक्ष प्राप्त करता है तो यहाँ सद्गुरुदेव के दर्शन एवं उपदेश श्रवण से जो धर्मप्रवृत्ति हुई उसमें सद्गुरुदेव की कृपा मानकर, उपचार किया गया है क्योंकि वह मुख्यार्थ को ध्यान में रखकर किया गया है। यह उपचार मुख्य अर्थ का बाधक नहीं बनता। इस प्रकार सभी तरह से यही व्यवस्था उचित है – यथार्थ है अर्थात् जीव की योग्यता मुख्य है और अनुग्रह औपचारिक है ! मुख्य अर्थ का सहायक है, पूरक है।

ग्रंथकार का आशय है कि लोक में भी जो उपचारयुक्त भाषा बोली जाती है, उसका कारण भी मुख्य पदार्थ ही होते हैं। मुख्य पदार्थों को देखकर, लक्ष्य में रखकर, ध्यान में रखकर ही लोग औपचारिक भाषा बोलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उपचार कभी निराधार नहीं हो सकता। अत: ये सारी बातें 'आत्मा की योग्यता', 'कर्म का बन्ध' और 'कर्म से मुक्ति' आदि समस्त विचार वास्तविक विद्यमान वस्तु पर अवलम्बित है, इसमें कोई रीत पद्धति औपचारिक नहीं है ऐसा ही मानना चाहिये ॥१५॥

ऐदम्पर्यं तु विज्ञेयं सर्वस्यैवास्य भावत: ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे योगमार्गस्य संभव: ॥१६॥

अर्थ : पूर्वोक्त (जितना कह चुके हैं) इस सारे ग्रंथ का वास्तविक परमार्थ यह फलित हुआ कि आत्मा आदि तत्त्व, इस प्रकार (हमारे कथनानुसार) सुव्यवस्थित होने पर ही योगमार्ग सम्भव है ॥१६॥

विवेचन : पूर्व में १५ श्लोकों में जो भी तत्त्वचर्चा हुई है, उससे परमार्थ यह फलित हुआ कि आत्मा–जीव और कर्म दोनों मुख्य है, दोनों में योग्यता है और उसके कारण संसार और मोक्ष सम्भव बनता है। आत्मा के प्रदेशों के साथ कर्म पुद्गल के संयोग से संसार और उसके वियोग से मोक्ष। यह भी मुख्य है औपचारिक नहीं। ऐसी व्यवस्था स्वीकार करने से ही योगमार्ग सम्भव है। मोक्ष प्राप्ति में जो भी सत् प्रवृत्ति, परम पुरुषार्थ किया जाता है वह ऐसी व्यवस्था स्वीकार करने पर ही सफल होता है अन्यथा वास्तविक न मानकर औपचारिक–लाक्षणिक माने तो योगप्रवृत्ति को अवकाश ही नहीं रहता।

ग्रंथकार का आशय यह है कि आत्मा, आत्मा की योग्यता, कर्मबन्ध, मुक्तिफल आदि तत्त्वों

को वास्तविक, यथार्थ (आप्त पुरुषों द्वारा प्ररूपित) जानकर ही इस योगबिंदु ग्रंथ की रचना हो रही है। ये सब काल्पनिक नहीं, औपचारिक नहीं, कल्पना-कल्पित नहीं है अपितु यह सब वास्तविक हैं, यथार्थ है। अगर ये सब वास्तविक न हो तो योग याने आत्मा आदि का विचार ही नहीं हो सकता है। अत: यह मानना जरूरी है कि आत्मा आदि तत्त्व वास्तविक है। योग-मार्ग वास्तविक परमार्थ फल है। इसी कारण सब दार्शनिक अपनी अपनी परिभाषा में योगमार्ग सम्बन्धी तत्त्वों का विचार अपने-अपने शब्दों में इस प्रकार कर रहे हैं अर्थात् एक ही तत्त्व को अलग-अलग शब्दों में इस प्रकार सूचित कर रहे हैं ॥१६॥

पुरुष: क्षेत्रविज्ज्ञानमिति नाम यदात्मन: ।
अविद्या प्रकृति: कर्म तदन्यस्य तु भेदत: ॥१७॥

अर्थ : पुरुष, क्षेत्रविद्(क्षेत्रज्ञ), ज्ञान, ये आत्मा के नाम है। अविद्या, प्रकृति और कर्म आत्मा से भिन्न जो कर्मपुद्गल हैं उनके नाम हैं ॥१७॥

विवेचन : जैन और वेदान्ती 'आत्मा' को 'पुरुष' कहते हैं। सांख्यमतावलम्बी 'आत्मा' को 'क्षेत्रविद्-क्षेत्रज्ञ' कहते हैं, 'पुरुष' भी कहते है'। बौद्ध 'आत्मा' को 'ज्ञान' विज्ञान स्कन्ध कहते हैं। ये तीनों आत्मा के ही नाम हैं। दर्शन शास्त्रों में 'आत्मा' को भिन्न-भिन्न नामों से सम्बोधित किया है। इसमें मात्र शब्द भेद है, पारमार्थिक भेद कुछ नहीं। इसी प्रकार आत्मा से अन्य जो कर्मपुद्गल आत्मा को संसार में भ्रमण करवाते हैं, उसे बौद्ध एवं वेदान्ती 'अविद्या' कहते हैं। सांख्यमतावलम्बी प्रकृति और जैन उसे कर्म कहते हैं। अविद्या कहो, प्रकृति कहो, कर्म कहो, माया कहो, ये सब संसार भ्रमण के कारण-हेतु कहे जाते हैं। कर्म के ही तीनों अलग-अलग नाम दिये हैं। वस्तुतत्त्व में कर्म के स्वभाव और योग्यता में कोई भेद नहीं पड़ता ॥ १७ ॥

भ्रान्ति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम् ।
शास्ता वन्द्योऽविकारी च तथा अनुग्राहकस्य तु ॥१८॥

अर्थ : संयोग को भ्रांति, प्रवृत्ति और बन्ध कहा है तथा अनुग्राहक को शास्ता, वन्द्य और अविकारी कहा गया है ॥१८॥

विवेचन : जीव के साथ कर्म का जो संयोग होता है उस संयोग का भी बोध भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने अलग-अलग दिया है अर्थात् आत्मा के साथ जो अनादि संयोग है, जिससे आत्मा को बद्धदशा में रहना पड़ता है, उस कारण को. जैनदर्शन में 'बन्ध' कहते हैं। उसी बन्ध को वेदान्ती और बौद्ध 'भ्रांति' मानते हैं और सांख्यवादी उसे 'प्रवृत्ति' कहते हैं। उसी प्रकार अनुग्राहक-अनुग्रह करने वाले को जैन 'शास्ता', बौद्ध 'वंद्य' (वन्दनीय) और शैव-भागवत् दर्शन में उस पुरुष को

'अविकारी' कहा है। ग्रंथकार का आशय यह है कि जो पुरुष आत्मा के उपर अनुग्रह करने वाला माना गया है, अर्थात् जिस पुरुष के वचनानुसार आचरण करने से आत्मा मुक्त हो सकती है, उस पुरुष को भी सभी दर्शनों में समान माना गया है। मात्र शब्दभेद है भाषा, शैली, भिन्न-भिन्न होने पर भी मूल बात में कभी भी भेद नहीं हो सकता। १७ वे श्लोक में भी आचार्यश्री ने यही बताया है। यही उनकी समदर्शिता महानता है। अगर कोई कहे कि "शब्दानामनेकार्थाः" एक शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं, अभेद कैसे ? ग्रंथकार कहते हैं 'मोक्षेण योजनात् योगः' योग का जो ऐसा स्वरूप बताया है उसमें नाम-भेद बाधक नहीं, क्योंकि साध्य-मोक्ष का अभेद है। नाम, शब्द, भाषा, शैली भिन्न होने पर भी मुख्य तत्त्व में भेद न होने से भेद नहीं आ सकता। पूर्वोक्त व्यवस्था स्वीकार करने से सभी दर्शनों में बताया गया योग यथार्थ घट जाता है। सभी शास्त्रों के निर्माता भिन्न-भिन्न हैं अतः शैली, भाषा एवं अभिव्यक्ति में भिन्नता आना स्वाभाविक है, परन्तु महापुरुषों की भिन्नता में भी, अभिन्नता निहित है 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' कथन से वस्तुस्वरूप में भेद नहीं हो जाता ॥१८॥

साकल्यस्यास्य विज्ञेया, परिपाकादिभावतः ।
औचित्याबाधया सम्यग्-योगसिद्धिस्तथा तथा ॥१९॥

अर्थ : इन सब सामग्री का परिपाक आदि जब होता है, तब उचित की बाधा न हो, इस प्रकार अर्थात् उचित रूप से 'सम्यक् प्रकार' से योग की पूर्ण सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥१९॥

विवेचन : जीव, कर्म और जीव के साथ कर्म संयोग तीनों अनादि कालीन हैं। इस भाव की पुष्टि अभ्यास के बल से, शास्त्राभ्यास के बल से, कर्मों के विविध विपाकों के अनुभव से, तथा तद्योग्यकाल परिपक्व होने पर तथाभव्यत्वरूप योग्यता के प्रकट होने पर क्रमशः कर्मों की निर्जरा करते-करते जीव मोक्षमार्ग के योग्य 'उचित प्रवृत्ति' करता है, इस उचित प्रवृत्ति' को जैनधर्म ने 'यथाप्रवृत्तिकरण' नाम दिया है। जब जीव 'यथाप्रवृत्तिकरण' करता है फिर धीरे-धीरे अपूर्वकरण, ग्रंथिभेद, अनिवृत्तिकरण आदि (१४ चौदह) गुणस्थान को पार करता हुआ घाती कर्मों को खपा कर, समयक्-योग मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। आशय यह है कि बद्ध आत्मा का भव्यत्वरूप धर्म जब परिपक्व हो जाता है अर्थात् उस 'परिपाक' की 'प्रक्रिया' को, अन्यदर्शन में अन्य संयोग ह्रास भी कहते हैं। जब अन्य संयोगरूप कर्म का ह्रास-विनाश हो जाता है तब सम्यक्योग की सिद्धि हो जाती है तथा शास्ता के अनुग्रह की प्राप्ति भी हो जाती है और इस प्रकार उचित की बाधा के बिना तथा-तथा प्रकार से सम्यक् मोक्ष की सिद्धि बन जाती है ॥१९॥

एकान्ते सति तद्यत्नस्तथाऽसति च यद् वृथा ।
तत्तथायोग्यतायां तु, तद्भावेनैष सार्थकः ॥२०॥

अर्थ : (आत्मादि को) एकान्त सद्-नित्य और एकान्त असद्-अनित्य मानने से योग का प्रयत्न निष्फल जाता है इसलिये (आत्मा की) इस प्रकार की योग्यता-परिणाम की वृत्ति-स्वभाव मानने से ही यह योग(प्रयत्न) सार्थक होता हैं ॥२०॥

विवेचन : वेदान्ती और सांख्य, आत्मा को एकान्त सद् नित्य मानते हैं। उनका नित्य का लक्षण है "अच्युतानुत्पन्नस्थिरैक स्वभावं नित्यं" जो नाश न हो, उत्पन्न न हो, सदा एक स्वभाव में स्थिर रहे वह नित्य है। अगर आत्मा को ऐसे एकान्त कूटस्थ नित्य माने तो जन्म, मृत्यु, बाल्यावस्था, यौवन, वृद्धत्व, स्त्री, पुरुष, पशु, नारक, देव आदि चौरासी लाख जीवयोनियों में आत्मा के विविध परिणाम-पर्याय की स्थितियां जो हम देखते हैं, उसमें कैसे घटित हो सकती है ? मोक्षप्राप्ति के साधन तप, जप, दान, शील, भावना, शास्त्राभ्यास आदि की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, क्योंकि आत्मा में परिवर्तन की शक्यता नहीं रहती है अतः 'सर्वयोगशास्त्रों' में निर्दिष्ट परिश्रम व्यर्थ सिद्ध होता है, जो कि किसी को भी इष्ट नहीं है।

दूसरी ओर बौद्धों ने आत्मा को एकान्त असद्-अनित्य माना है। अगर आत्मा का स्वभाव, क्षणिक, नाशवंत हो तो पूर्वक्षण, उत्तरक्षण को संस्कार कैसे दे सकता है ? जो क्षण जीवी हैं वह दूसरे की उत्पत्ति में अथवा संस्कार में हेतु नहीं हो सकता। कर्म कोई करे और भोगे कोई दूसरा, गलत है। कृत नाश और अकृत आगम दोष है अर्थात् जिसने कर्म किया उसका उसको फल नहीं मिलता है और जिसने कर्म नहीं किया उसको कर्मजन्य परिणाम भोगना पड़ता है जो कि अनुचित है। बौद्धों के अनुसार अगर ऐसा माने कि पहले होने वाला क्षणिक आत्मा पीछे होने वाले आत्मा को संस्कार दे जाता है तो भी जिस आत्मा ने पाप व पुण्य किया उसको उसका फल न मिला और जिसने कुछ नहीं किया, उसे फल मिला जो अयुक्त है। इस प्रकार एकान्तनित्य और एकांत अनित्य दोनों दृष्टिओं से योग-प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता है।

अगर आत्मा असद् अभावरूप है तो उसके लिये इतनी कठिन साधना का कोई अर्थ नहीं। दोनों दृष्टियां एकान्तदृष्टि का प्रतिपादन करती हैं, इसलिये उचित नहीं है परन्तु जैनों के अनेकान्त सिद्धान्त के अनुसार आत्मा को द्रव्यरूप से नित्य और पर्यायरूप से अनित्य अर्थात् परिणामी आत्मा को मानने से योगानुष्ठान सफल होता है। परिणाम को प्राप्त करना अर्थात् सर्वथा एक स्वरूप कूटस्थरूप से अविचलित रहना ऐसा भी नहीं और सर्वथा नाश पाना भी नहीं, परन्तु पूर्व के परिणामरूप पर्याय को छोड़कर नये पर्याय को धारण करना। जैसे स्वर्ण स्वरूप से तो स्वर्ण ही है, परन्तु कुण्डल से हार, हार से चूडी, चूडी से अंगुठी रूप नये-नये परिणामी-पर्यायों को धारण करता है और पूर्व-पूर्व पर्यायों को छोड़ता है। इस 'आकृतिपरिवर्तन' को बुद्धिमानों ने 'पर्याय' नाम दिया है। स्वर्ण तो वही का वही है बस आकृतियां बदल जाती है। इस प्रकार जैन आत्मा को परिणामी मानते हैं तभी आत्मा, शुद्ध परिणामों से-शुद्ध अध्यवसायों से, अपनी भव्यत्वरूप योग्यता

से धीरे-धीरे योग सिद्ध करता है और अशुद्ध परिणामों से अध्यवसायों से नरक, तिर्यञ्चगति आदि में भटकता है ।

ग्रंथकार का आशय यह है कि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानने से अर्थात् आत्मा को एकान्तरूप से अपरिणामी नित्य मानने से आत्मा में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होना संभव नहीं है । वह वर्तमान काल में जिस बद्धस्थिति में है उसी स्थिति में सदा बद्ध रहेगा । और आत्मा को एकान्तरूप से असत् माना जाय तो आत्मा की ही असद्रूपता होने से शुद्धयोग उसमें कुछ भी परिणामान्तर पैदा नहीं कर सकता है । जो वस्तु खरश्रृंग के समान सर्वथा असत् ही है, उसमें विधाता भी क्या परिणामान्तर कर सकता है इसलिये आत्मा को परिणामी भी मानना चाहिये और अपरिणामी भी। यह मान्यता अनुभवसिद्ध है, जैसे आत्मा अभी प्रशम युक्त है फिर किसी निमित्त से क्रोध युक्त होकर गर्म-गर्म लाल सूर्ख बन जाता है । आत्मा अभी किसी निमित्त से विशेष नम्र दिख रहा है, परन्तु थोड़े क्षणों के बाद वही नम्र आत्मा उद्धत बन जाता है । इस प्रकार आत्मा की सतत् परिवर्तनशीलता देखने में आती है और सभी को अनुभवसिद्ध है । अतः बद्ध आत्मा को मुक्त करना है तो उसको एकान्तरूप से एकरूप नहीं मानना चाहिये । कर्म सहित आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्था संयोगवश होती है । इस अनुभवसिद्ध बात को मानने से, आत्मा नित्य-अनित्य, सत्-असत्, परिणामी-अपरिणामी तथा मुक्त और बद्ध स्थिति को मानने से, बद्ध आत्मा 'सम्यक्-योग' की निर्मलता को पाकर धीरे-धीरे मुक्त हो सकती है । इस प्रकार 'सम्यक्-योग' का प्रयोग आत्मा के लिये सार्थक हो सकता है अन्यथा एकान्तरूप से वह मुक्त नहीं हो सकता और उसके लिये सम्यक्-योग का प्रयोग सार्थक नहीं हो सकता जो किसी को भी इष्ट नहीं ॥२०॥

दैवं पुरुषकारश्च, तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
युज्येते एवमेवेति, वक्ष्याम्यूर्ध्वमदोऽपि हि ॥२१॥

अर्थ : दैव और पुरुषार्थ दोनों तुल्यबल वाले है, यह तथ्य भी स्पष्ट है । वे किस प्रकार घटित होते हैं । इसका विवेचन ग्रंथ में आगे कहेंगे ॥२१॥

विवेचन : जैनदर्शन आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानता नहीं, नित्यानीत्यरूप, सदसद्रूप मानता है, इस प्रकार आत्मा सिद्ध होने पर अन्य दैव-पूर्वसञ्चित शुभाशुभ कर्म और पुरुषार्थ-पुरुष प्रयत्न, दोनों की सत्ता वास्तविक फलित हुई और दोनों का बल भी तुल्य है । इस तथ्य का स्पष्टीकरण - विस्तृत विवेचन ग्रंथ में आगे किया जायेगा । ग्रंथकार ने ग्रंथ के मध्य में दैव और पुरुषार्थ कितने अंश में तुल्यबल वाले हैं उन दोनों का सुन्दर विवेचन किया है॥२१॥

लोकशास्त्राऽविरोधेन यद्योगो योग्यतां व्रजेत् ।
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु, हन्त नेष्टो विपश्चिताम् ॥२२॥

अर्थ : लोक और शास्त्र से अविरुद्ध योग ही यथार्थ योग कहा जाता है। केवल श्रद्धामात्र से माना गया योग बुद्धिमानों को इष्ट नहीं है ॥२२॥

विवेचन : ग्रंथकार ने गतश्लोकों में "योगशब्द का अर्थ", "योग मार्ग का अवकाश", "आत्मा को सदसद्रूप मानकर", "कर्मादि की व्यवस्थापूर्वक" जो योग कहा है वही यथार्थ है। कुछ दार्शनिक पूर्वापर सम्बन्ध, कार्यकारणभाव की जाँच किये बिना ही "वेदवचनात् प्रवृत्तिः" न्याय को मानकर, योग का संभव सत्ता को मानते हैं। ग्रंथकार उन्हें कहते हैं कि लोक=सामान्य जनता में प्रचलित एवं संसार व्यवहार में उपयोगी परम्परा-प्रवृत्ति तथा शास्त्र के साथ भी जिसका विरोध न हो वही योग यथार्थ है, उसी में योग के लक्षण घटते हैं। अन्यथा एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य आत्मा को मानने से योग घटित नहीं होता है, क्योंकि नित्य मानने से उसमें अवस्थान्तर की प्रतिपत्ति-बाधा आती है। नित्य का लक्षण सर्वकाले एकरूप ही रहता है। आत्मा का नरत्व, नारीत्व, पशुत्व, संसारीत्व, मोक्षत्व यह जो अवस्थान्तर दिखाई देता है और शास्त्रों में भी जिसका विधान है उससे लोक और शास्त्र दोनों में विरोध आता है। एकान्त अनित्य मानने से भी आत्मा नाशवंत होने के कारण योग में विरोध आता है, अतः कथंचित् नित्यानीत्यस्वरूप को धारण करने वाली आत्मा द्रव्यार्थिकनय से नित्य और पर्यायार्थिक नय से नये-नये परिणाम और भवों को धारण करने के कारण अनित्य है, ऐसा अनुभव सभी लोगों को होता है। ऐसा लोकमान्य स्याद्वाद-न्यायमय सिद्धान्त जैनशास्त्रों में है। अतः ऐसा योग ही यथार्थ योग है और तभी सार्थक होता है। अन्य कपिलदेव तथा पतञ्जलि आदि महर्षियों ने वेद-वेदान्त के ऊपर केवल श्रद्धा रखकर, पूर्व-अपर सम्बन्ध घटित किये बिना, स्वदर्शनाभिनिवेश के कारण आत्मा-कर्मादि का स्वरूप ऐसा कहा गया है, ऐसा निश्चित होता है इसलिये इन महर्षियों का मत बाधित होने से निष्पक्षपात मध्यस्थ पण्डितों को इष्ट नहीं हो सकता क्योंकि "आत्माकर्म संयोगादि" की व्यवस्था को कष, छेद, तापरूप परीक्षा में शुद्ध करके, स्थिर श्रद्धा से उसे स्वीकार करना चाहिये, तभी योग सार्थक होता है ॥२२॥

२२वें श्लोक का आशय

१. ग्रंथकार का आशय है कि योग सम्बन्धी विचार कभी दृष्ट में विरोध नहीं रखता तथा शास्त्र की दृष्टि में भी विरोध नहीं रखता। ऐसा ही योग विषयक विचार प्रस्तुत चर्चा का विषय हैं, परन्तु जो योग विषयक विचार किसी भी प्रकार की परीक्षा को सहन नहीं कर सकता अर्थात् उसकी परीक्षा करने पर संगति नहीं बैठती ऐसा योग सम्बन्धी विचार योगबिंदु में प्रस्तुत नहीं है। किसी प्रकार की तटस्थ परीक्षाओं को भी सहन नहीं करने वाले योग सम्बन्धी विचार मात्र श्रद्धागम्य ही हो सकता है, केवल श्रद्धागम्य ही योग का विचार बुद्धिमान लोग पसंद नहीं करते। तात्पर्य है कि योग सम्बन्धी विचार की विविध तर्क द्वारा परीक्षा की जा सकती है। ऐसे योग में पण्डित लोग रुचि रखते हैं, पसन्द करते हैं। एकान्त नित्य आत्मा को माना जाय तो योग उसके लिये

कोई परिणाम पैदा नहीं कर सकता। यदि आत्मा बद्ध एकांतरूप से नित्य ही है, उसमें भवमात्र परिणामान्तर पैदा नहीं हो सकता, वह आत्मा सदा ही बद्ध ही रहेगा। तथा जो आत्मा 'एकान्तअनित्यपक्षिक' है, वह आत्मा भी क्षणान्तर तक ठहर नहीं सकता। सम्यक्-योग धारा उस क्षणिक आत्मा में भी कोई दूसरा परिणामान्तर पैदा करने में समर्थ नहीं, अतः यह आत्मा भी मुक्ततारूप परिणामान्तर से युक्त नहीं हो सकती अर्थात् क्षणिक आत्मा भी मुक्त नहीं हो सकती ॥२२॥

वचनादस्य संसिद्धि-रेतदप्येवमेव हि ।
दृष्टेष्टाबाधितं तस्मा-देतन्मृग्यं हितैषिणा ॥२३॥

अर्थ : (आगम या आप्त) वचन से ही इस (योग) की सिद्धि होती है, ऐसा मानने में भी जो वचन दृष्टेष्टाबाधित (प्रत्यक्ष एवं शास्त्र के अविरुद्ध) हो वही प्रमाणभूत होता है। हिताकांक्षियों को इसी तथ्य की गवेषणा करनी चाहिये ॥२३॥

विवेचन : कपिलदेव आदि महर्षिओं ने वेदादि वचन से योग की प्रवृत्ति मानी है। "वेदवचनात् प्रवृत्तिः"

"परलोकविधौ मौनं वचनं" परलोक के हित के लिये भी आप्त पुरुष का वचन प्रमाणभूत होने से अवश्य मननीय है। ग्रंथकार कहते हैं कि इस तथ्य को हम भी स्वीकार करते हैं लेकिन उस वचन की भी परीक्षा तो करनी चाहिये कि वह वचन दृष्ट-प्रत्यक्ष प्रमाण और इष्ट-शास्त्र प्रमाण से अबाधित हो विरोधी न हो, तभी वह प्रमाणभूत हो सकता है। जो वचन दृष्टेष्टाबाधित न हो अर्थात् प्रत्यक्ष और शास्त्र के विरुद्ध हो तो वह आप्त वचन होने पर भी माननीय नहीं, इसलिये जो आत्मा का हित चाहते हैं, उन्हें इस वचन की परीक्षा कर लेनी चाहिये। ग्रंथकार का तात्पर्य यह है कि आत्मा को एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य मानने से प्रत्यक्ष और शास्त्रीय दोनों विरोध आते हैं क्योंकि आत्मा को अवस्थान्तर स्थिति अनुभव गम्य और शास्त्रसिद्ध है, अतः कथंचित् द्रव्यरूप से आत्मा को नित्य और पर्याय परिणामीरूप से अनित्य मानने से आत्मा की अवस्थान्तर स्थितियां, बन्ध, मोक्ष आदि की सब व्यवस्था प्रत्यक्ष और शास्त्रप्रमाण से ठीक घटित हो जाती है, इसलिये आत्मा की नित्यानीत्य स्थिति माननी चाहिये।

इस श्लोक की वृत्ति में आत्मा को परिणामी मानने में युक्ति बताई है कि किसी भी परोक्ष बात को प्रमाणित करने के लिये किसी आप्तपुरुष के वचन को प्रमाण मानते हैं, अर्थात् कोई विचक्षण पुरुष ऐसा कह दे कि यह विचार किंवा पदार्थ परिणामी है, तब मान सकते हैं। यदि आत्मा अपरिणामी ही है तो कोई भी पण्डित, वचन भी नहीं बोल सकता। वचन बोलने से आत्मा परिणामी सिद्ध हो जाती है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति कुछ समय के बाद बोलता है। यह तभी हो सकता है जब आत्मा परिणामी माना जाये-आत्मा मौन धारी है, अर्थात् आत्मा कुछ भी नहीं बोलने की

स्थिति में है अर्थात् मौन आत्मा का एक प्रकार का परिणाम है। फिर जब वही आत्मा बोलने लगती है तब आत्मा का मौनरूप पूर्व परिणाम नष्ट हो जाता है और वचनरूप बोलने का परिणाम आत्मा में पैदा होता है, तो आत्मा मौन परिणामी भी हुआ और वचनरूप परिणाम धारी भी हुआ। इस प्रकार सहज भाव से आत्मा परिणामी सिद्ध हो जाता है। किसी भी सिद्धान्त के समर्थन के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण एवं शास्त्र प्रमाण अनुसार जो वचन अबाधित हो उसकी ही गवेषणा बुद्धिमान को करनी चाहिये ॥२३॥

दृष्टबाधैव यत्रास्ति, ततोऽदृष्ट प्रवर्तनम् ।
असच्छ्रद्धाभिभूतानां, केवलं ध्यान्ध्य(बाध्य)सूचकम् ॥२४॥

अर्थ : जिन वचनों में दृष्ट का ही विरोध है उन वचनों के आधार पर अदृष्ट प्रवृत्ति करना तो केवल असत् श्रद्धा-असम्यक् श्रद्धा से कुण्ठित चित्त की दशा का ही सूचक है ॥२४॥

विवेचन : वेदान्त और बौद्धों की एकान्त नित्यता और एकान्त अनित्यता को ध्यान में रखकर, ग्रंथकार कहते हैं — कि एकान्तवाद में प्रत्यक्ष दोष आता है। जहाँ प्रत्यक्ष विरोध है वहाँ आगम वचनों को लेकर, अदृष्ट-जो इन्द्रिय और मन से साक्षात् दिखाई न दे, ऐसे स्वर्ग एवं अपवर्ग के लिये प्रवृत्ति करना, यम-नियम आदि करना तो केवल विवेक रहित असत् श्रद्धा-दृष्टिराग से जिसकी बुद्धि चित्त की दशा कुण्ठित हो गई है, उसी को सूचित करता है। जैसे धतूर पत्र खाने वाला, पीली मिट्टी और इंट पत्थर को स्वर्ण समझता है, वैसे ही अंधश्रद्धा, विवेकहीन श्रद्धा एवं दृष्टिराग से मनुष्य की बुद्धि जब कुण्ठित हो जाती है तब वह सत्य और असत्य की परीक्षा करने में असफल रहता है। दृष्टिराग बहुत बलवान होता है। दृष्टिराग को एक ओर रखकर, बुद्धि की कसौटी से सत्य-असत्य का निर्णय करने के बाद ही प्रवृत्ति करना उचित है।

ग्रंथकार ने कहा भी है :-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

ग्रंथकार तटस्थ हैं। युक्ति युक्त वचन चाहे किसी का भी हो ग्रहण योग्य है। ऐसी उनकी मान्यता है। जो ऐसा नहीं करते वे इष्ट फल की सिद्धि से वंचित रह जाते हैं ॥२४॥

प्रत्यक्षेणानुमानेन, यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते ।
दृष्टेऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात्प्रवृत्तिस्तत एव तु ॥२५॥

अर्थ : जिस वचन के अर्थ में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में बाधा-विरोध न आता हो ऐसे वचन से ही दृष्ट और अदृष्ट में प्रवृत्ति (हेयोपादेयरूप) युक्त है ॥२५॥

विवेचन : जिस वचन से बताया गया विचार, व हकीकत या कोई अर्थ अर्थात् पदार्थ ठीक हो याने इन्द्रिय प्रत्यक्ष द्वारा बाधित न हो – इन्द्रिय या मन, जिस पदार्थ का इनकार न कर सके, ऐसा कोई इन्द्रियगम्य पदार्थ व मनोगम्य पदार्थ दृष्ट पदार्थ कहा जाता है। याने अनुभव गम्य प्रत्यक्ष जैसे घट, पट, घर इत्यादि। जो पदार्थ अनुमान से किसी प्रकार के चिह्न निशान से जाना जाता है, ऐसे परोक्ष पदार्थ को अदृष्ट कहते हैं जैसे परलोक, मोक्ष, आत्मा इत्यादि अतीन्द्रिय-जो इन्द्रियों या मन द्वारा नहीं जाने जा सकते। ऐसे दृष्ट व अदृष्टपदार्थ की ओर हमारी प्रवृत्ति प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में, बाधा-विरोध न आता हो तभी हो सकती है। प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से प्रमाणित वचनों से प्रवृत्ति करने से ही, अदृष्ट को पा सकते हैं और इष्ट परिणाम मिल सकता है तथा प्रवृत्ति करने वाले का श्रम सफल हो सकता है अन्यथा निष्फल है, जो किसी को भी इष्ट नहीं है ॥२५॥

अतोऽन्यथा प्रवृत्तौ तु, स्यात्साधुत्वाद्यनिश्चितम् ।
वस्तुतत्त्वस्य हन्तैवं, सर्वमेवासमञ्जसम् ॥२६॥

अर्थ : इससे अन्यथा (पूर्वोक्त सिद्धान्तविरुद्ध) प्रवृत्ति करने में तो वस्तुतत्त्व की यथार्थता (सत्यता साधुता) ही अनिश्चित हो जाती है और ऐसा होने से सब कुछ असमञ्जस-अव्यवस्थित हो जाता है ॥२६॥

विवेचन : दृष्ट विरुद्ध होने पर भी सत्य माना जाय तो सत्य क्या है ? और असत्य क्या है ? इसका विवेक ही न रहेगा – अव्यवस्था हो जायगी। वस्तु स्वरूप को समझे बिना, देखा-देखी मोक्षार्थी-मुमुक्षु, अधर्म को भी धर्म समझ कर प्रवृत्ति करेगा। फिर तो वह, यह मार्ग सत्य है ? या अन्यमार्ग सत्य है ? इसका निश्चय ही नहीं कर पायेगा। इसलिये मोक्षमार्गरूप-योगतत्त्व-आत्मा-कर्म उसके लक्षण, परिणाम आदि का यथार्थ निश्चय किये बिना ही जो स्वच्छन्द प्रवृत्ति होती है, वह सब इहलोक और परलोक के लिये अकल्याणकारी होती है। क्योंकि दृष्ट द्वारा ही अदृष्ट का अनुमान होता है। अगर दृष्टविरोध होने पर भी अदृष्ट में कोई बाधा-विरोध न माने तो अदृष्ट का कोई नियामक ही नहीं रहेगा और शास्त्र में आने वाले असंगत वचनों को भी मानना पड़ेगा। इस प्रकार सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है, अतः दृष्ट विरुद्ध अदृष्ट वचन नहीं मानना चाहिये तभी सब व्यवस्था घटित होती है ॥२६॥

तद् दृष्टाद्यनुसारेण, वस्तुतत्त्वव्यपेक्षया ।
तथा तथोक्तिभेदेऽपि, साध्वी तत्त्वव्यवस्थितिः ॥२७॥

अर्थ : इसलिये दृष्टादि के अनुसार वस्तुतत्त्व की व्यवस्था करने से शास्त्रान्तर में उक्तिभेद होने पर भी तत्त्वव्यवस्था यथार्थ घटित होती है ॥२७॥

विवेचन : इसलिये दृष्टविरुद्ध अदृष्टवचन नहीं लेना, क्योंकि दृष्टादि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण के अनुसार जो वस्तुतत्त्व-आत्मादि का परिणामित्व स्वभाव फलित होता है, उसे स्वीकार करके तत्त्व की व्यवस्था करें तो शास्त्रान्तरों में 'पुरुष' 'क्षेत्रविद्' 'ज्ञान' 'आत्मा' के और 'अविद्या' 'प्रकृति' तथा 'कर्म' के नाम भिन्न-भिन्न होने पर भी तत्त्वव्यवस्था यथार्थ घटित हो जाती है अभिप्राय: यह है कि आत्मा को किसी दर्शन में 'पुरुष' कहा है, किसी ने उसे 'क्षेत्रविद्' माना है और कोई उसे 'ज्ञानस्कन्धरूप' मानता है, कोई उसे 'आत्मा' कहता है । इसी प्रकार कर्म को किसी भी नाम से सम्बोधित करे हमें कोई हानि नहीं, परन्तु आत्मा का परिणामित्व स्वभाव है, उसे हर हालत में मानना पड़ेगा । परिणामी स्वभाव स्वीकार करने पर शास्त्रान्तर में उक्तिभेद-शब्दभेद होने पर भी साध्य मोक्ष का अभेद होने से तत्त्वव्यवस्था सुन्दर घटित होती है ॥२७॥

अमुख्यविषयो यः स्यादुक्तिभेदः स बाधकः
हिंसाहिंसादिवद्यद्वा, तत्त्वभेदव्यपाश्रयः ॥२८॥

अर्थ : जो उक्ति भेद अप्रधान विषयक हो (परमार्थ के अनुकूल न हो) वह बाधक होता है जैसे कि हिंसा और अहिंसा के विषय में या तत्त्वभेद के विषय में बाधक होता है ॥२८॥

विवेचन : जो उक्तिभेद परमार्थ मोक्ष के अनुकूल न हो वह बाधक होता है (मान्य नहीं होता) जैसे कोई शास्त्र अहिंसा का विधान करता है । कोई हिंसा का भी विधान करता है । जैन "अहिंसा परमो-धर्मः" अहिंसा को परम धर्म मानते हैं, लेकिन मीमासंक-जैमिनी आदि "वैदिकी हिंसा को भी धर्म मानते हैं, परन्तु हिंसा परमार्थ दृष्टि – आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर मोक्ष के अनुकूल हो नहीं सकती, अत: वचनभेद में अर्थभेद मानना पड़ेगा । इसी प्रकार तत्त्व के प्रकार के विषय में भी यदि वचनभेद हो तो अर्थभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि तत्त्वव्यवस्था में भी नैयायिक सात और वैशेषिक छः पदार्थ मानते हैं और उसे एकान्त भिन्न मानते हैं । सांख्यवादी सत्त्वरजतम रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति और प्रकृति से महत्त्व उससे अहंकारादि चौबीस तत्त्व और पुरुष को कूटस्थनित्य ऐसे २५ तत्त्व मानते हैं । इस प्रकार के उक्तिभेद अमुख्यविषयक होने पर भी परमार्थ के अनुकूल न होने से बाधक है ॥२८॥

मुख्ये तु तत्र नैवासौ, बाधकः स्याद्विपश्चिताम् ।
हिंसादि-विरतावर्थे, यमव्रतगतो यथा ॥२९॥

अर्थ : परन्तु मुख्यविषयक अर्थात् परमार्थ के अनुकूल उक्ति भेद बुद्धिमानों के लिये बाधक नहीं होता है जैसे हिंसा आदि की 'विरति' के लिये 'यम' व्रतगत उक्ति भेद बाधक नहीं है ॥२९॥

विवेचन : अध्यात्म को जिस उक्ति से कोई ठेस न पहुँचती हो, कोई हानि या बाधा या विरोध नहीं आता हो, ऐसा उक्ति भेद बुद्धिमानों को मान्य है । जैसे "हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रह-

विरमणरूपेऽर्थे" हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन, परिग्रह इन पांच पापों का त्याग करना-इसे जैन 'व्रत' कहते हैं और इसी चीज को पातञ्जलदर्शन एवं सांख्य में 'यम' नाम दिया है। यहाँ 'व्रत' और 'यम' दोनों में मात्र उक्तिभेद के सिवाय कुछ भेद नहीं है। ध्येय में अभेद है, इसलिये बुद्धिमानों को मान्य है ॥२९॥

मुख्यतत्त्वानुवेधेन, स्पष्टलिंगान्वितस्ततः ।
युक्तागमानुसारेण, योगमार्गोऽभिधीयते ॥३०॥

अर्थ : मुख्य तत्त्व के अनुसार स्पष्टलिंग-स्पष्ट लक्षण सहित युक्ति और आगम के अनुसार योगमार्ग का निरूपण कर रहे हैं ॥३०॥

विवेचन : मुख्य तत्त्व-आत्मा का नित्यानीत्यत्वरूप जो मुख्य तत्त्व है, उसको ध्यान में रखकर, अन्यदर्शनों में और योगशास्त्रों में भी योग सम्बन्धी आत्मा-कर्म आदि के विषय में जो चर्चा आती है, प्रत्यक्ष-प्रमाण से, अनुमान प्रमाण से, आगम प्रमाण से तथा तर्क-युक्ति प्रयुक्ति से खूब कसौटी करके, मीमांसा पूर्वक मोक्षमार्गरूप-योगमार्ग का निरूपण करते हैं।

ग्रंथकार कहना चाहते हैं कि जो पदार्थ जितना मूल्यवान होता है उतनी ही उसकी कसौटी ज्यादा होती है और करनी पड़ती है, क्योंकि सामान्य घट-पट लाते समय भी मनुष्य परीक्षा करके ग्रहण करता है तो मोक्षरूप ऐसे उच्च ध्येय के लिये आधाररूप आत्मा के नित्यानीत्यत्व की कसौटी करना नितान्त आवश्यक है ॥३०॥

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग, एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥३१॥

अर्थ : अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्ति-संक्षय। ये पाँचो मोक्ष के साथ जोड़ते हैं इसलिये ये पांचों योग हैं और उनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है ॥३१॥

विवेचन : "मोक्षेण योजनात् योगः"। जो क्रिया मोक्ष के साथ हमको जोड़ दे वह योग है। योग शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ यह है। ग्रंथकार ने यहाँ इसी व्युत्पत्ति को ही प्रधानता देकर, योग पांच प्रकार का बताया है अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति-संक्षय। इन पांच भेदों में भी उत्तरोत्तर योग श्रेष्ठता है याने अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता और समता से भी वृत्तिसंक्षय सर्वोत्कृष्ट बताया है। योग के ये पांच प्रकार आत्मा को सर्व बन्धनों से मुक्त करके, मोक्ष की तरफ ले जाते हैं इसलिये यह श्रेष्ठ योग है। इन पांचों योगों का संक्षिप्त परिचय जीवन में उपयोगी होने से यहाँ दिया है।

अध्यात्म :- आत्मा की तीन अवस्थाएं बताई हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा।

१. **बहिरात्मा :-** पाप में जो रचा-पचा रहता है। सांसारिक भोग विलास, पुत्रेषणा, वित्तेषणा, कौटुम्बिक मोहजाल में फंसा रहता है उसी में आनंद मानता है और आत्मा के लिये जो जरा सा भी विचार नहीं करता उसे बहिरात्मा कहते हैं।

२. **अन्तरात्मा :-** काया का जो साक्षीधर आत्मा है। उसके लिये ही जिसकी सारी (प्रयत्न) साधना है। सच्चे साधक की अन्तर्मुख अवस्था को अन्तरात्मा कहा है।

३. **परमात्मा :-** बहिरात्मभाव को छोड़कर और अन्तर्मुख भाव में स्थिर होकर अन्त में जो आत्मा की पूर्व स्थिति-निर्वाणत्व प्राप्त करना, परमात्मा कहा जाता है।

इस प्रकार बहिरात्मभाव को छोड़कर, आत्मस्वरूप का जो आन्तर उपयोग है वह अध्यात्म योग है। श्री आनंदघनजी महाराज ने श्री सुमतिनाथ भगवान के स्तवन में इस बात को बहुत सुन्दर तरीके से गूंथा है :-

त्रिविध सकल तनुधरगत आतमा, बहिरातम धुरि भेद सुज्ञानी;
बीजो अंतर आतम, तीसरो परमातम अविच्छेद् सुज्ञानी।

आतम बुद्धे हो कायादिक ग्रह्यो; बहिरातम् अघरूप सुज्ञानी;
कायादिकनो हो साखीधर रह्यो; अन्तरातम रूप सुज्ञानी।

ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाधि सुज्ञानी;
अतीन्द्रिय गुणगणगणि आगरु, एम परमातम साध सुज्ञानी।

संक्षेप में काया को आत्मा समझने वाला पापरूप आत्मा बहिरात्मा है, आत्मा को जो काया का साक्षीधर मानता है ऐसी अन्तर्मुखी रहने वाली आत्मा की स्थिति अंतरात्मा कही जाती है और जब वह कृतकृत्य हो जाता है अनन्त ज्ञान, दर्शन और केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, पूर्ण आनन्दमयी आत्मा परमात्मा कही जाती हैं। इस प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में विचार करना, समझना भी अध्यात्म है, क्योंकि आचार की आधारशिला विचार है। सर्वप्रथम विचार आता है। बाद में वह आचार में आता है। इसलिये योग में सर्व प्रथम अध्यात्म को स्थान दिया है। वस्तु का स्वरूप समझने पर ही उसे पाने की अभिलाषा-आकांक्षा पैदा होती हैं।

दूसरा स्थान भावना का आता है। भावना १२ हैं। वे भी जीवन में उपयोगी है इसलिये उनका भी संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :-

भावना :- आत्मा को उन्नत कोटि में लाने के लिये जो विचार करना है वह भावना कही जाती हैं। भावना की संख्या आगमों में १२ बताई हैं।

पढममणच्चमसरणं, संसारो एगया य उन्नतम् ।
असुइ तं आसव संवरो य; तह निज्जरा नवमी ॥१॥

लोगसहावो बोहि दुल्लहा, धम्मस्स साहगा अरिहा ।
एआओ भावणाओ, भावेअव्वा पयत्तेणं ॥२॥

१. अनित्य भावना : जिन पदार्थों को हम प्रातः जिस स्वरूप में देखते हैं, दोपहर को वैसे दिखाई नहीं देते और जो मध्याह्न में होते हैं वैसे रात को नहीं रहते। जो भोग्य वस्तुयें हैं अस्थिर भाव को धारण करती हैं। शरीर, धन, यौवन, क्षण भंगुर हैं। ऐसे नाशवंत पदार्थों पर आसक्ति रखकर, पापकर्म करना अनुचित हैं। इस प्रकार की भावना को अनित्यभावना कहते हैं, जो मनुष्य को पाप कर्म करने से रोक लेती है। आचार्य श्रीविजयवल्लभसूरिजी ने एक सज्झाय में अनित्य भावना के सुन्दर भाव प्रकट किये है।

यौवन धन स्थिर नहीं रहता रे

प्रातः समय जो नजरे आवे, मध्यदिने नहीं दीसे
जो मध्यान्ने सो नही रात्रे; क्यो वृथा मन हींसे ।
पवन झकोरे बादल विनसे; त्युँ शरीर तुम नासे
लच्छी जल तरंगवत् चपला; क्युं बांधे मन आशे ।
वल्लभसंग सुपनसी माया; इसमें राग ही कैसा ?
छिन में उड़े अर्क तूल ज्युं; यौवन जगमें ऐसा ।
चक्री हरि पुरन्दर राजे, मदमाते रसमोहे
कौन देश में मरी पहुँचे, तिन कुं खबर न कोय ।
जगमाया में नहि लुभाये, आत्माराम सियाने
अजर अमर तूं सदा नित्य है; जिनधुनि सुन काने ।

२. अशरण भावना : सांसारिक आधि, व्याधि, उपाधि और सप्तभय से बचाने वाला धर्म ही है। धर्म के बिना दूसरी कोई भी शरण सच्ची नहीं। धर्म की शरण ही सच्ची है। दूसरों की शरण झूठी है। यह अशरण भावना है।

३. संसार भावना : संसार के स्वरूप का ध्यान करना। चौरासी लाख जीवयोनि के विविध दुःखों के प्रति जागृत रहना।

४. एकत्व भावना : **एगोहं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।**
एवं अदीण-मणसो, अप्पाणमणुसासइ ॥११॥

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग-लक्खणा ॥१२॥

संजोग-मूला जीवेण, पत्ता दुक्ख-परम्परा ।
तम्हा संजोग-संबंधं, सव्वं तिविहेण वोसिरिअं ॥१३॥

कर्मविपाकोदय के समय जीव को सुख-दुःख अकेले ही भोगना पड़ता है। उस समय कोई भी प्रेमी अथवा सगा-सम्बन्धी साथ नहीं आता । दुःख-सुख कोई भी किसी का नहीं बांट सकता। ऐसा विचार करके आत्मा पाप कर्म से बचे, यही एकत्व भावना का तात्पर्य हैं ।

५. अन्यत्व भावना : स्वार्थ के कारण मैं और मेरापन है । स्वार्थ की पूर्ति जहाँ दिखाई नहीं देती सगे-सम्बन्धी भी उसे छोड़ देते हैं । संसार में प्रत्येक संसारी मनुष्य इस तथ्य का अनुभव करते हैं । इसलिये बताया है कि संसार के मोह जाल में आसक्त न होकर अनासक्तभाव को पैदा करे । बिना अपेक्षा सत्कार्य में संलग्न रहे। आत्मा को आसक्ति से उपर उठायें, यही इस भावना का सार है, क्योंकि आसक्ति पाप का मूल है ।

६. अशुचि भावना : शरीर, देह में आसक्त होकर मनुष्य न करने जैसे पापाचरण करने लग जाता है । देह की मिथ्या आसक्ति को दूर करने के लिये देह के स्वरूप का ध्यान करना, शरीर तो रक्त, मांस, मज्जा, विष्ठा, मलमूत्र थूक आदि अपवित्र पुद्गलों से भरा है और भोजन, भोग्य सामग्री भी दुर्गन्ध से व्याप्त है, ऐसे स्वरूप का ध्यान करके मनुष्य पापाचरण से हटकर सत्कार्य में प्रवृत्त होता है ।

७. आस्त्रव भावना : रागद्वेष की परिणति द्वारा कर्मों को अपनी और खींचना आस्त्रव है। आस्त्रव सभी दुःखों और क्लेशों का द्वार है । मनुष्य मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय के योग से विविध पापाचरणों को करके, विविध दुःखों का भोग बनता है और संसार में भटकता है, इसलिये आस्त्रव भावना को हेय कहा है ।

८. संवर भावना : सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अप्रमत्त भाव से आराधना करने की उत्कट भावना संवर भावना है, इससे आते हुये कर्म अटक जाते हैं, रूक जाते हैं ।

९. निर्जरा भावना : बारह प्रकार के तपों द्वारा, अनन्त भवों के निकाचित कर्म भी क्षय हो जाते हैं । परन्तु अज्ञान पूर्वक की गई तपश्चर्या अल्प कर्मों का क्षय करती है और कभी-कभी

बहु आस्रव का भी कारण होती है और वह अकाम निर्जरा कही जाती है । उदात्त भावनाओं से, उदात्त वचनों से, उदात्त आचरण से, कर्मों की निर्जरा की भावना सकाम निर्जरा भावना हैं ।

१० लोक स्वभाव : चौदह राजलोक में रहे हुए षड्द्रव्य तथा उनके गुण, पर्याय आदि स्वरूप का तथा नित्यानीत्यादि स्वरूप की विचारणा करना ताकि ज्ञानपूर्वक मोहनाश करने की प्रवृत्ति कर सकें ।

११. बोधि दुर्लभ : जीव को मनुष्यत्व, उत्तमकुल, पंचेन्द्रिय की पूर्णता, धर्मश्रवण की इच्छा, श्रद्धा इत्यादि प्राप्त होना बहुत ही कठिन और दुर्लभ है । वह पुण्यवान को ही प्राप्त होता है। इसलिये अब जरा भी प्रमाद नहीं करना चाहिये, इस प्रकार की भावना बोधि दुर्लभ भावना हैं ।

१२. धर्म भावना : धर्म की उपलब्धि और साधर्मिक बन्धुओं का योग भी पुण्ययोग से ही मिलता हैं, इसलिये धर्म की आराधना अप्रमादभाव से करनी चाहिये । ऐसा विचार करना धर्मभावना है।

आत्मा को ऊँचा उठाने वाली अन्य भी चार भावना कही गई है – मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और मध्यस्थ भावना। जैन जिसे चार भावना कहते हैं, बौद्ध उसे ब्रह्म विहार कहते हैं। श्रीहरिभद्रसूरि जी ने एक श्लोक में सुन्दर कहा है :-

परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
पर सुखतुष्टिर्मुदिता; परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥१॥

ये चार भानाएं आत्म-समाधि में उपयोगी होने से योग के अंगरूप में ही गिनी जा सकती हैं । जैसा विचार वैसा आचार और जैसा आचार वैसी उपलब्धि । आध्यात्मिक जीवन में भावना का बहुत महत्त्व है, क्योंकि वह तो उसका प्राण है, इसलिये भावनाओं का यहाँ कुछ संक्षिप्त परिचय दिया है ।

ध्यान : धर्मध्यान, शुक्लध्यान आत्मा को ऊँचा उठाते हैं इसलिये ध्यान को भी योग का अंग कहा है । जैन ध्यान के चार प्रकार मानते हैं – आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल । ध्यान अर्थात् मानसिक एकाग्रता । इनमें से प्रथम दो ध्यान हेय और शेष दो ध्यान उपादेय है ।

आर्त ध्यान : इष्ट वस्तु की अप्राप्ति, अनिष्ट वस्तु का संयोग, आजीविका तथा मृत्युभय को दूर करने के लिये तथा इष्ट को प्राप्त करने का जो प्रयत्न-मानसिक प्रयत्न है ऐसा मानसिक व्यापार-आर्तध्यान कहलाता है ।

रौद्र ध्यान : हिंसा, चोरी, असत्य, मैथुन, परिग्रह के लिये अति तीव्र इच्छा रौद्र ध्यान है।

इस ध्यान में जीव के अत्यन्त भयंकर परिणाम-अध्यवसाय होते हैं अर्थात् मानसिक व्यापार-अति-उत्कट-रौद्र-भयंकर बन जाता है ।

धर्मध्यान : मिथ्यात्व, अविरति आदि का त्याग करके, पाँच महाव्रतों को धारण करना धर्म ध्यान है । इस धर्म ध्यान के चार प्रकार है : (१) आज्ञाविचय :- वीतराग परमात्मा की आज्ञा का पालन करना । (२) अपायविचय :- सुख-दु:ख के सम्बन्ध का विचार करना । (३) विपाकविचय :- कर्मविपाक की विचारणा । (४) संस्थान विचय :- लोक स्वरूप तथा द्रव्य, गुण, पर्याय की विचारणा । आगमों में धर्म ध्यान के अन्य चार मुख्य भेदों का भी वर्णन आता है । पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ।

१. पिण्डस्थ प्रभु की प्रतिमा के सामने दृष्टि लगाकर, मन को एकाग्र करके वीतराग परमात्मा की पुण्य प्रकृति, चारित्र का विचार करना पिण्डस्थ ध्यान हैं ।

२. पदस्थ : समवसरण में बैठकर, भगवान् ने जो आत्मादि तत्त्वों का प्रतिपादन किया है । उन उपदेश-आगमों को रखकर ध्यान करना पदस्थ ध्यान है ।

३. रूपस्थ : वीतराग परमात्मा की आत्म स्वरूप की निर्मलता को ध्येय बनाकर, आत्मा के साथ ध्यान करना अर्थात् आत्मध्यान करना, आत्मा को उनके जैसी निर्मल बनाना रूपस्थ ध्यान है।

४. रूपातीत : निरालम्बन ध्यान; निर्विकल्प समाधि परमात्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि गुणों की तुलना अपनी आत्मा के साथ करके, अभेदभाव से ध्यान करना। यह ध्यान योग का मुख्य अंग है । पातञ्जलदर्शन में ध्यान को योग का सातवाँ अंग बताया है, परन्तु हरिभद्रसूरिजी ने इसको तीसरा अंग बताया है।

समता : मन समतोलवृत्ति – उत्तराध्ययसूत्र में इसे बहुत सुन्दर तरीके से गूंथा है :

लाभालाभे सुहे दु:खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदा पसंसासु; तहा माणावमाणओ ॥१॥

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी 'अपूर्व अवसर' में कहा है :-

शत्रु मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता,
माने अमाने वर्ते तेह स्वभाव जो ।
जीवित के मरणे नहिं न्यूनाधिकता;
भव मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो ॥
बहु उपसर्ग (कर्ता) प्रत्ये पण क्रोध नहि ।
वंदे चक्री तथापि न मले मान जो; इत्यादि

जीवन में शान्ति, संतोष, आनंद, कर्म-निवृत्ति इसी समता के कारण से आती है। समता कर्मबन्धन को रोकती है, इसलिये यह भी योग का मुख्य अंग हैं।

वृत्ति संक्षय : वृत्ति-चित्तवृत्ति, चित्त की प्रवृत्ति, अनादि कालीन आसक्ति आत्मा को पंचेन्द्रियों के विकृतभोगों में खींचती रहती है, इसलिये जीव चौरासी के चक्र में फंसा हुआ है। मन की ऐसी वृत्तियों का नाश करने के लिये आत्म प्रवृत्ति जरूरी है। आत्म प्रवृत्ति से ही सर्व चित्तवृत्तियों का क्षय हो सकता है, वही वृत्ति संक्षय हैं।

ये पांचों अंग उपचाररहित, परमशुद्ध मोक्ष के मुख्य कारण हैं और उत्तरोतर श्रेष्ठ है उत्तर का अंग पूर्व से श्रेष्ठ हैं ॥३१॥

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः ।
सास्रवोऽनास्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्त्तितः ॥३२॥

अर्थ : यह योग तात्त्विक और अतात्त्विक, सानुबन्ध और निरनुबन्ध, सास्रव और अनास्रव ऐसे नामभेद से कहा गया है ॥३२॥

विवेचन : उपर योग के पांच अंगों का वर्णन किया है। कोई प्रश्न उठा सकता है कि शास्त्र में जो सास्रव और अनास्रव योग बताया है, उसका तात्पर्य क्या है ? उसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिये ग्रंथकार ने उपर्युक्त भेद बताये हैं जो योग की अमुक अवस्थाओं के सूचक हैं। अन्यदर्शनकारों ने भी योग की अमुक अवस्था भेद से योग के भेदों को स्वीकार किया है। योग की तात्त्विक और अतात्त्विक, सानुबन्ध और निरनुबन्ध, सास्रव और अनास्रव की स्थितियाँ मुख्य योग में ही समा जाती हैं केवल नामभेद है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक है। लौकिक एवं अलौकिक दो प्रकार के योगों का पृथक्करण इसमें है ॥३२॥

तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया ।
अच्छिन्नः सानुबन्धस्तुच्छेदवानपरो मतः ॥३३॥

अर्थ : तात्त्विक योग यथार्थ है, अतात्त्विक योग, लोक व्यवहार की अपेक्षा से है, मोक्ष पर्यन्त रहने वाला सानुबन्ध योग है और निरनुबन्ध योग टूटने वाला है ॥३३॥

विवेचन : उपर जो, योग के भेद बताये हैं उसमें तात्त्विक योग को उत्तम श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि इस योग का लक्ष्य एक निर्वाण ही है। आत्मलक्षी साधक का योग मोक्ष के लिये ही होता है। आत्म निर्मलता और कर्मक्षय ही उसका लक्ष्य होता है। उपचार भाव बिना वस्तुतत्त्व को यथार्थ योग कहते हैं। यह तात्त्विक योग सानुबन्ध है। संसार का छेद जब तक नहीं हो जाता तब तक

परम्परा से साथ ही रहने वाला है । मोक्ष पर्यन्त जो साथ रहता है बीच में कभी भी छिन्न नहीं होता, टूटता नहीं है इसीलिये श्रेष्ठ है, परन्तु दूसरा भेद जो अतात्त्विक बताया है, वह योग मुख्य योग नहीं । लोग-बालजीवों ने चित्त की प्रसन्नता के लिये, उपचार भाव से जिन पदार्थों की कल्पना की हो, उसी के आधार पर वह निर्भर है । अर्थात् जो लौकिक दृष्टि से योग मालुम होता है, परन्तु जो वास्तविक लक्ष्य-मोक्ष से दूर ले जाने वाला है, वह अतात्त्विक योग है । जिस को सुगुरु, सुधर्म, सुदेव पर कोई श्रद्धा नहीं और केवल अपना प्रभाव-चमत्कार बताने के लिये; लौकिक-पारलौकिक सिद्धियों के लिये; संसार में पुण्यात्माओं के वैभव, विलास, सुख-साहिबी को देखकर, ऐसे मार्गों की प्राप्ति के लिये, आतापना लेना, ताप, शीत, डांस, मच्छर आदि परिषहों को सहना, मासखमण आदि लम्बी तपश्चर्या करना, उल्टे मस्तक होकर पेड़ के साथ लटकना, पंचाग्नि तप सहन करता आदि, अज्ञान तप द्वारा-अकामनिर्जरा द्वारा, पुण्यबन्ध करके देवत्व, राज्य तथा अनेक भोग सामग्री प्राप्त करना, ये सब अतात्त्विक योग में आ जाते है । ऐसा योगी-तपस्वी अज्ञानी होता है । संसार से अत्यन्त आसक्ति होने से कर्मबन्धन से मुक्त नहीं होता और विविध योनियों में भटकता रहता है । यथार्थ तत्त्व मोक्ष से वंचित रहता है, इसलिये इस अतात्त्विकयोग को निरनुबन्ध कहा है-टूटने वाला कहा है । यह योग कभी भी टूट सकता है, नष्ट हो सकता है । उत्तराध्ययनसूत्र में संभूति और चित्रमुनि के दोनों दृष्टान्त तात्त्विक और अतात्त्विक योग के दृष्टान्त हैं । चित्रमुनि स्त्री पर मुग्ध होकर फिसल जाते हैं और योगभ्रष्ट होकर संसार में भटकते हैं और संभूति मुनि मोक्ष में जाते हैं। संक्षेप में जिस साधक की दृष्टि मोक्षाभिमुखी है, उसका योग तात्त्विक है और संसाराभिमुखी दृष्टिवाले साधक का योग अतात्त्विक हैं ॥३३॥

सास्त्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्त्रवः परः ।
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥३४॥

अर्थ : सास्त्रवयोग दीर्घसंसार का हेतु है और अनास्त्रव इससे विपरीत है । ये नाम जो ऊपर कहे हैं, वे अवस्था भेद हैं ॥३४॥

विवेचन : आस्त्रव-जिससे संसार बढ़े वह आस्त्रव योग कहा जाता है । आस्त्रव-योग में मिथ्या वासना होने से पौद्गलिक भोगों की इच्छा तीव्र होती है । धन, स्त्री, कुटुम्ब के लिये हिंसा, चोरी आदि करने की भी इच्छा होती है । वह सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र से वंचित रहता है। उसका संपूर्ण तप, जप, धार्मिक अनुष्ठान लौकिक भोगों की आसक्ति से युक्त होता है, इसलिये यह योग उसके संसार को बढ़ाने में कारण बनता है । यहाँ योग शब्द औपचारिक है मुख्य नहीं केवल कल्पित है, वास्तविक नहीं ।

दूसरा अनास्त्रव योग महान् है-श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मोक्ष की ओर ले जाता है । संसार का अन्त करने में वह योग कारण बनता है । संसार को अल्प बनाता है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य,

अपरिग्रह इन पांच महाव्रतों को धारण करके, सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना करके अप्रमत्तभाव से योगी लोग धर्मध्यान और शुक्लध्यान द्वारा सर्व आस्रव द्वारों को, चार कषायों को, मन, वचन, काया के अशुभ योगों को, तमाम मन के संकल्प विकल्पों को रोककर, आत्मा को अनास्रव बनाते हैं । ऐसी आत्माएँ थोड़े ही समय में मोक्षगामी होती है । इसलिये ऐसे श्रेष्ठ योग को अनास्रव योग कहते हैं । ये सभी योग में विभिन्न अवस्था, अध्यवसायों तथा स्थितियों के सूचक हैं ॥३४॥

स्वरूपं सम्भवं चैव वक्ष्याम्यूर्ध्वमनुक्रमात् ।
अमीषां योगभेदानां सम्यक्शास्त्रानुसारतः ॥३५॥

अर्थ : इन योगभेदों का स्वरूप, उत्पत्ति, आदि उपर्युक्त अनुक्रम से सम्यक् शास्त्रों के अनुसार कहूँगा ॥३५॥

विवेचन : पूर्वोक्त अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्ति संक्षय तथा तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्रव और अनास्रव भेद से ग्यारह भेद कहे हैं । इनका स्वरूप, उत्पत्ति आदि उपरोक्त अनुक्रम से तथा सम्यक् शास्त्र-आगम शास्त्रों में तीर्थंकर, परमात्मा, गणधर, पूर्वधर आदि आप्त पुरुषों ने जैसा कहा है उनके अनुसार ही कहूँगा ।

ग्रंथकार कहते हैं कि इस योगशास्त्र में जो भी योग विषयक कुछ कहा गया है, तीर्थंकर महापुरुषों की आज्ञानुसार ही कहा गया है । उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा ॥३५॥

इदानीं तु समासेन योगमाहात्म्यमुच्यते ।
पूर्वसेवाक्रमश्चैव प्रवृत्त्यङ्गतया सताम् ॥३६॥

अर्थ : अभी तो संक्षेप में योग का माहात्म्य बताते हैं और योग में सन्तों की प्रवृत्ति का अंग-हेतु होने से योग की पूर्व सेवाक्रम पद्धति को कहते हैं ॥३६॥

विवेचन : अभी कुछ श्लोकों में योग की महत्ता का वर्णन करके उसकी शक्ति सामर्थ्य का निरूपण करके, सन्त-महापुरुष योग में प्रवृत्ति कर सके, इसलिये योग की पूर्वभूमिका रूप गुरुदेवादि की पूजारूप पद्धति परिपाटी को बताते हैं ॥३६॥

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥३७॥

अर्थ : योग ही उत्तम कल्पवृक्ष है; योग ही परम चिन्तामणि रत्न है; योग ही सर्वधर्मों में प्रधान है और योग ही सिद्धि का स्वयंग्रह-लोहचुम्बक है ॥३७॥

विवेचन : योग का महत्त्व बताते हुए, "मोक्षेण योजनात् योगः" योग की इस तात्त्विक व्याख्या को ध्यान में रखकर, योग कितनी उत्तम वस्तु है यह दर्शाते हैं । ग्रंथकर्ता उसका प्रतिपादन करते हुये कहते हैं कि योग कल्पवृक्ष से भी उत्तम है, क्योंकि कल्पवृक्ष तो प्राणी को केवल इन्द्रियजन्य भौतिक सुख का ही लाभ-देता है, जब कि योगरूपी कल्पवृक्ष तो शाश्वत-मोक्षसुख देता है । वह उस पूर्ण आनन्द को देता है, जिसका कभी नाश नहीं हो सकता । योग चिन्तामणिरत्न से भी श्रेष्ठ क्यों है ? क्योंकि चिन्तामणिरत्न तो पत्थररूप है और वह बाह्यसुख जो कालपूर्ण होने पर नष्ट हो जाता है, ऐसे सुख को देता है लेकिन योग तो कभी नष्ट नहीं हो सके ऐसे आन्तरसुख शांति को देता है । सभी धर्मों में योग की प्रधानता इसलिये बताई है कि दान, दया, तप, जप आतापना यज्ञादि धर्मक्रिया बाह्य है, जब कि योग तो अन्तर की वस्तु है । उपर्युक्त धर्मक्रियायें करने पर भी हृदयशुद्धि संशययुक्त है – हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती, लेकिन योग तो हृदयशुद्धि का ही है, इसलिये सर्वश्रेष्ठ धर्म है । योग सिद्धियों का आकर्षण करने के लिये लोहचुम्बक है अर्थात् योगी को सिद्धियाँ स्वयं आकर वरण करती हैं, स्वयं मिलती है । सिद्धि को टीकाकार ने मोक्षरूप सिद्धि के अर्थ में ग्रहण किया है, क्योंकि इनका मुख्य हेतु मोक्ष ही है लेकिन इसके अतिरिक्त छोटी-बड़ी अन्य सिद्धियाँ भी है यथाः-

आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लमोसहि चैव ।
संभिन्नसोय उज्जुभर सव्वोसहि चैव बोधव्व ॥१॥

चारण आसीविस केवला य मणनाणी नोव पुव्वधरी ।
अरिहन्त चक्कधरा बलधरा वासुदेवा य ॥२॥

इस गाथा में कही हुई लब्धियाँ चारित्र योग के बल से मिलती है । इसलिये सम्यक् ज्ञानयोग, दर्शनयोग और चारित्र योग अत्यन्त आदरणीय है । विशेष रूप से योग से अणिमा, लघिमादि लब्धियाँ भी प्राप्त होती हैं । इन लब्धियों के प्राप्त होने पर आत्मा अगर अप्रमत्त रहे, सावधान रहे, इन लब्धियों के मोह से निर्लिप्त रहे तो उसे मोक्षसिद्धि स्वयं आकर उसके वश में हो जाती है । लेकिन अधिकतर साधक इन फिसलन भरी लब्धियों में ही लुब्ध हो जाते हैं और अपनी जन्म-जन्म की मेहनत-परिश्रम को मिट्टी में मिला देते हैं । जैसा कि उत्तराध्यनसूत्र में बताया है संभूति मुनि ने क्षणिक सुख के लिये वर्षों की साधना को लुटा दिया और स्थूलिभद्रजी ने अपूर्वज्ञान को इनके कारण ही खो दिया । इसीलिये योगियों को सिद्धियों के पीछे भागने की मनाही है । योग का विधान केवल आत्मनिर्मलता, कर्मक्षय और मोक्ष के लिये है न कि लोगों को आकर्षित करने के लिये ॥३७॥

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा ।
दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥३८॥

अर्थ : और यह योग जन्मबीज के लिये अग्नि है, जरा के लिये जरा-व्याधि है अर्थात् जरा को नष्ट करने वाला है। सर्वदु:खों के लिये राजयक्ष्मा-क्षयरोग है और मृत्यु की भी मृत्यु है॥३८॥

विवेचन : जन्मबीज-संसार के जो मुख्य कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अशुभ योग हैं वे जन्मबीज कहलाते है, क्योंकि इन अशुभ योगों से ही जीव संसार को बढ़ाने वाले आठ कर्मों को समय-समय पर बांधता रहता है और संसार की विविध योनियों में भटकता है। इस जन्मबीज को जला कर राख कर देने के लिये योग अग्नि का कार्य करता है, क्योंकि योग से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय तथा अशुभयोगों का संवर करके तप, जप, सुगुरु, सुधर्म, सुदेव की पूजाभक्ति करते-करते अप्रमत्त चारित्र योग से योगी जन्मबीज को जला देता है। वृद्धावस्था के लिये तो यह योग जराव्याधि है। कोई रोग किसी व्यक्ति को लगा हो तो, वह उसे नष्ट कर देता है। इसी प्रकार बद्ध अवस्था को नाश करने के लिये यह योग जरा-व्याधि है। योग से योगी वृद्धत्व का नाश करता है। योग से वृद्धावस्था नहीं आती, मनुष्य जवान जैसा रहता है। सभी दु:खों के लिये यह योग क्षयरोग है। क्षयरोग रोगी को नष्ट कर के ही छोड़ता है, इसी प्रकार योग सभी दु:खों को नष्ट करने वाला है। योगी सर्वदु:खों से मुक्त हो जाता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। श्रीयोगीराज आनंदघनजी महाराज ने गाया भी है :– "**मृत्यु मरी गयो रे लोल**" योगी की मृत्यु भी मर जाती है अर्थात् वह अजर और अमर हो जाता है। "**या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यूं कर देह धरेगें; अब हम अमर भये, न मरेगे**" ॥३८॥

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।
योगवर्मावृत्ते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥३९॥

अर्थ : योग रूपी कवच धारण करने वाले चित्त के उपर तप में भी छिद्र करने वाले कामदेव के अतितीक्ष्ण शस्त्र भी सर्वथा कुण्ठित हो जाते हैं ॥३९॥

विवेचन : योगशास्त्रों के अभ्यास से जिनका मन सांसारिक पौद्गलिक सुखों से निर्लिप्त है, जो अप्रमत्त दशा में रहकर, भावचारित्र योग में निमग्न रहते हैं, ऐसे योगियों पर कामदेव के तीक्ष्ण शस्त्रों का भी कोई असर नहीं होता। जैसे सिंहगुफावासी मुनि कामदेव के शस्त्रों से चलित हो गये, किन्तु स्थूलिभद्रमुनि जैसे योगीन्द्र के ऊपर कामदेव का कोई प्रभाव नहीं पड़ा, क्योंकि उन्होंने अप्रमत्तयोग रूप मजबूत बख्तर-कवच धारण किया हुआ था। "तप में भी छिद्र करने वाले" यह कामदेव के शस्त्र का विशेषण कामदेव की बलवत्ता को प्रकट करता है। वर्षों तक जिन्होंने घोर तपश्चर्या की है, ऐसे संभूतिमुनि, विश्वामित्र, पाराशर आदि वायु, पत्र और जल पीकर ही जीवन यापन करने वाले घोर तपस्वियों को भी कामदेव के शस्त्रों ने उनको उनके मार्ग से चलित कर दिया है। संसार के बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, सन्त, महात्मा, विद्वान इसके सामने नत मस्तक है फिर भी जो

अप्रमत्तयोगी हैं — सतत् जागृत रहते हैं, उनके उपर इसका कोई असर नहीं होता । यहाँ पर ग्रंथ कर्ता ने काम की शक्ति से भी योग की शक्ति को बलवान बताया है । यद्यपि काम बलवान है, फिर भी अप्रमत्त अवस्था उससे भी बलवान है । युद्ध में मजबूत कवच धारण करने वाले योद्धा को कोई नुकसान नहीं होता । इसी प्रकार जो योगी अप्रमत्तयोग को अपना कवच बना लेते हैं ऐसे अप्रमत्तयोगी पाँच विषयों से दूर रहकर, चित्त की स्थिरता में अडिग रहकर, योग से मोह को जीत लेते हैं । परन्तु जिस साधक के पास अप्रमत योगरूप कवच नहीं, वह तपश्चर्या करने पर भी मन से विषयों का ध्यान करता है और कामदेव से पीड़ित होकर संसार में भटकता है ॥३९॥

अक्षरद्वयमप्येतच्छ्रूयमाणं विधानतः ।
गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥४०॥

अर्थ : योगसिद्ध महात्माओं ने घोषित किया है कि 'योग' यह दो अक्षर विधि-पूर्वक सुने जाय तो वह पापक्षय के लिये होता है ॥४०॥

विवेचन : योग में जो पूर्ण निष्णात, सिद्ध हो चुके हैं ऐसे तीर्थंकर, गणधर, योगी महात्माओं ने फरमाया है कि पंच नमस्कार मंत्र में तो अनेक अक्षर हैं, लेकिन 'योग' इस शब्द में तो केवल दो ही अक्षर हैं, किन्तु वे मंत्रमय शब्द माहात्म्यपूर्ण हैं, क्योंकि योग शब्द सुनने वाला और बोलने वाला उसके यथार्थ अर्थ को न समझने पर भी विधि पूर्वक श्रद्धा, संवेग, निर्वेर, समभाव, अनुकम्पा आदि शुद्धभाव युक्त, सुख उल्लासपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर योगमुद्रा से सुने तो वह पापक्षय-मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद आदि जो पाप के मूलकारण है उनका नाश करने वाला होता है । योग अशुभ कर्मों को मूल से नाश करता है ॥४०॥

मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिर्नियोगतः ।
योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्यामलिनात्मनः ॥४१॥

अर्थ : जैसे मलिन स्वर्ण की शुद्धि, अग्नि के योग से होती है; वैसे ही अविद्या से मलिन आत्मा के चित्त की शुद्धि, योगानि से होती है ॥४१॥

विवेचन : खान से निकले मलिन स्वर्ण में ताम्बा, लोहा, कथीर और मिट्टी आदि अनेक धातुएँ मिश्रित होती हैं । उसे शुद्ध करने के लिये सर्व प्रथम क्षार और जल से मिट्टी आदिं दूर की जाती है, पश्चात् अग्नि द्वारा तमाम अन्य मिश्रित कुधातुओं को दूर किया जाता है, फिर वह अपने असल शुद्ध देदीप्यमान स्वर्ण रूप में हमारे सामने आता है-उसी प्रकार जीव अनादि कालीन अविद्यारूप मिथ्यात्व, राग, द्वेष मोह, माया से कर्म के साथ क्षीरनीर की भांति एक स्वरूप बना हुआ है इसीलिये सत्य वस्तु का भान होता नहीं और भ्रान्ति से कर्मबन्धन करता हुआ संसार में

अनेक दुःखों को भोग रहा हैं। ऐसे अनादि कालीन द्रव्य और भाव कर्मरूपी मैल को जीव, शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप योगमय अग्नि से, योग के विविध प्रयोगों से दूर करके, मन, वचन और काया की शुद्धि प्राप्त करता है और अनुक्रम से आत्मा को परम शुद्ध-सिद्ध-बुद्ध बना लेता है। योग रूपी अग्नि से आत्मा के तमाम कर्ममलों को जलाकर उसे परम शुद्ध बना लेता है।

अविद्या का अर्थ यहाँ अद्वैतोक्त परिभाषा के अनुसार नहीं लेना केवल 'भ्रान्ति' यही इसका सामान्य अर्थ है। सद्भूत ऐसी जिन परमात्मा द्वारा कही गयी तत्त्वरूप वस्तु के विषय में भ्रान्ति अर्थात् अनिश्चय, संशय ऐसा अर्थ टीकाकार करते हैं ॥४१॥

अमुत्र संशयापन्नचेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।
सत्स्वप्नप्रत्ययादिभ्यः संशयो विनिवर्त्तते ॥४२॥

अर्थ : परलोक सम्बन्धी शंकित चित्त वाले का संशय भी इस योगाभ्यास द्वारा सत्य स्वप्नों से तथा प्रत्यय-प्रतीति स्वानुभव से निश्चित ही दूर हो जाता है ॥४२॥

विवेचन : परलोक, पुनर्भव सम्बन्धी संशय जिसके चित्त में हैं, ऐसे व्यक्ति को भी योग का अभ्यास करने से शुद्ध स्वप्न आते हैं, स्वप्न में तथा स्वयं-प्रत्यक्ष अनुभव में परलोक सम्बन्धी दृश्य देखने से उसका परलोक सम्बन्धी संशय चला जाता है। योगाभ्यास करने से मनुष्य को जाति-स्मरण ज्ञान हो जाता है और स्वानुभव तो सभी प्रमाणों में बलवान है। शुद्ध सामाचारी, आचार पालने वाले आत्मज्ञान के अभ्यासी, दर्शन, ज्ञान, चारित्र योग को धारण करने वाले योगी मुनियों का पुनर्भव का संशय चला जाता है। उन्हें अपने शुद्ध-शुभ स्वप्नों में पुनर्भव प्रत्यक्ष अनुभव गम्य हो जाता है।

संक्षेप में योग द्वारा आत्मा जब निर्मल हो जाते है तो परलोक-पुनर्भव उसे प्रत्यक्ष हो जाता हैं। योग द्वारा परलोक अनुभवगम्य वस्तु है ॥४२॥

श्रद्धालेशान्नियोगेन बाह्ययोगवतोऽपि हि ।
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्टदेवतादर्शनादयः ॥४३॥

अर्थ : केवल बाह्य क्रियायोग करने वाले को विशुद्ध अल्प श्रद्धा के कारण ऐसे शुक्ल स्वप्न आते हैं, जिसमें वह इष्टदेव आदि का दर्शन करता है ॥४३॥

विवेचन : पूर्ण श्रद्धा नहीं, अल्प श्रद्धा अर्थात् देवगुरुधर्म के उपर बहुमान-आदर पूर्वक जो श्रद्धा, वह प्रमाण में थोड़ी हो तो भी, बाह्य क्रियायोग से केवल बाह्य तप, जप, देवस्तुति, गुरुभक्ति, दान, शील, भावना आदि करने से भी, चित्त की स्थिरता न हो-चलचित्त हो, तो भी

उज्जवल, शुद्ध स्वरूप प्रकट करने वाले स्वप्न आते हैं, जैसे अपने इष्टदेव की मूर्ति के दर्शन करना, पूजा करना, भक्ति करना, सद्‌गुरुओं के मुख से पवित्र उपदेश सुनना, तीर्थयात्रा करना, मन्दिरों के दर्शन करना आदि शुभ अच्छे स्वप्न आते हैं। तात्पर्य है कि योग का अल्पसेवन भी शुभ प्रतीति करवाता है। योग की अल्पमति भी मनुष्य को जीवन में सुन्दर प्रवृत्ति करवाती हैं ॥४३॥

देवान् गुरून् द्विजान् साधून् सत्कर्मस्था हि योगिनः ।
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति दृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥४४॥

अर्थ : सत्कर्मस्थ योगी लोग प्रायः अपने स्वप्न में देव, गुरु, द्विज और साधुओं को प्रसन्न और सत्प्रेरणा से युक्त देखते हैं ॥४४॥

विवेचन : सच्चे कर्म योगी अर्थात् स्व-सिद्धान्तानुसार आचार पालने वाले, स्वप्न में अपने इष्टदेव, गुरु, माता-पिता, तथा आचार्यादि द्विज, साधु पुरुषों को देखते हैं कि मेरे इष्टदेव, गुरु आदि मेरे उपर प्रसन्न हैं और मुझे उपदेश करने के लिये तत्पर हैं । मुझे प्रसन्न होकर उपदेश दे रहे हों ऐसा अनुभव करते हैं। स्वप्न हमारे सुषुप्त चित्त की ही दशायें है जो गहरे में हमारी आत्मा की अभिव्यक्ति है, प्रतिबिम्ब है ।

द्विज-धर्माचार्य अर्थात् माता-पिता से जन्म पाकर, पुनः दीक्षा लेकर दूसरा जन्म पाये हुये धर्माचार्य । द्विज का, ऐसा अर्थ टीकाकार ने किया है ॥४४॥

नोदनाऽपि च सा यतो यथार्थैवोपजायते ।
तथाकालादिभेदेन हन्त नोपप्लवस्ततः ॥४५॥

अर्थ : द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की योग्यता से वह प्रेरणा भी यथार्थ सत्य सिद्ध होती है। उससे कोई विपरीतता आती नहीं ॥४५॥

विवेचन : स्वप्न में गुरु का उपदेश कैसे सफल हो सकता है ? ग्रंथकर्ता ने इसी को स्पष्ट करने के लिये "कालादिभेद" पद यहाँ पर रखा है । उपदेश में पात्रता, योग्यता आदि की मुख्यता है । बिना योग्यता के कितना भी अच्छा गुरु हो या उपदेश हो, उसका कोई लाभ नहीं । अतः द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परिपक्व होने पर अर्थात् द्रव्य-यह आत्मा, क्षेत्र-उपदेश को ग्रहण करने वाला हृदय, काल-परिपक्वकाल और भाव-भावना। आत्मा की परिपूर्ण तैयारी हो, समय बिल्कुल परिपक्व हो गया हो और भाव का उद्रेक हो तो स्वप्न में की गई परमात्मा अथवा गुरु की प्रेरणा, नोदना, उपदेश यथार्थ-सत्यसिद्ध होता है। सम्यक्त्व का कारण बनता है और मनुष्य इससे प्रेरणा पाकर उत्कृष्ट साधना करने लग जाता है। इससे विपरीतता नहीं आती अर्थात् उपदेश निरर्थक-असत्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वात, पित्त, कफ की विषमता योगी में नहीं होती । योगी में तो तीनों सम होते

है और सत्व-रज-तम भी समान ही होते हैं। जिसकी शारीरिक धातु समान हो और गुरु की प्रेरणा हो ऐसे साधक के स्वप्न सत्य फल देने वाले होते हैं। ऐसे स्वप्न देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा को बढ़ाने वाले होते हैं। अतः ऐसे स्वप्न को सत्य ही समझना ॥४५॥

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च सत्यः स्वप्नोऽभिजायते ।
विद्वज्जनेऽविगानेन सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥४६॥

अर्थ : स्वप्न द्वारा प्राप्त मंत्र के प्रयोग से स्वप्न सत्य हो जाता है। यह तथ्य बिना किसी विप्रतिपत्ति-विरोध के विद्वज्जनों में प्रसिद्ध ही है ॥४६॥

विवेचन : स्वप्न में किसी योगी अथवा साधक को मंत्र उपलब्धि हो और वह उसकी धारणा करके विधि पूर्वक उसकी आराधना करें तो उसका फल प्राप्त होता है। विद्वज्जन-पण्डित लोग स्वप्न में प्राप्त हुये मंत्र को स्मृति पूर्वक, आदर-भक्ति सहित, निःसन्देह होकर, श्रद्धापूर्वक जपें तो परम इष्ट लाभ रूप, फल को प्राप्त करते हैं। यह तथ्य सर्वत्र सभी शास्त्रों में प्रसिद्ध हैं। इसमें किसी विद्वान् को कोई विरोध नहीं है।

अथवा अमुक शुभ स्वप्न को देने वाले मंत्र को गिनने से, उसकी आराधना-जाप करने से इस प्रकार की देवकृपा प्रकट होती है और उससे अच्छे फलदायक स्वप्न आते हैं और थोड़े समय में उसका फल भी मिलता है ॥४६॥

न ह्येतद् भूतमात्रत्वनिमित्तं सङ्गतं वचः ।
अयोगिनः समध्यक्षं यन्नैवंविधगोचरम् ॥४७॥

अर्थ : यह देवतादर्शनादि भूतमात्र से उत्पन्न होता है – ऐसा कथन असंगत है, क्योंकि अयोगियों को इस प्रकार के स्वप्न दृष्टिगोचर नहीं होते ॥४७॥

विवेचन : स्वप्नशास्त्र में बताया है पूर्वकाल में जिसका अनुभव किया हो, ऐसे अनुभव जन्य, वातपित्त के विकार से उत्पन्न होने वाले विकारजन्य, रोगजन्य, कुधातुजन्य, मूल-प्रकृतिगत विकार से पैदा होने वाले स्वप्न सच्चे नहीं होते। अगर देवदर्शनादि के स्वप्नों को भी भूतों के विकार से पैदा होने वाले मानें, तो वह सफल नहीं होने चाहिये, लेकिन वे स्वप्न सफल होते हैं। इसलिये तुम्हारा कथन असंगत हैं, क्योंकि जो योगी नहीं है ऐसे लोगों को ऐसे सुन्दर स्वप्न आते ही नहीं। इष्टदेव, गुरु, धर्म की सेवाभक्ति करने वाले; सच्चारित्र की अप्रमत्तभाव से आराधना करने वाले; सौम्य प्रकृतिवन्त महात्माओं को, देव की कृपा से, जो स्वप्न दिखाई देते हैं, वे सच्चे होते हैं, शीघ्र फलदायी होते हैं। लेकिन जो योगी नहीं; देव, गुरु, धर्म पर जिन्हें कोई श्रद्धा नहीं; दान, दया, शील आदि जो सच्चारित्र की आराधना नहीं करते, जिन्हें महापुरुषों आप्तपुरुषों पर कोई विश्वास नहीं ऐसे

नास्तिकों को, देवतादि की कृपा से, ऐसे अद्भुत स्वप्न नहीं आते। योगी पुरुषों को ही ऐसे सच्चे स्वप्न आते हैं। भूतमात्र को जो स्वप्न आते हैं, वे विकारजन्य है, इसलिये सफल नहीं होते। परन्तु योगियों के स्वप्न शुद्ध सात्त्विक होने से शीघ्र फलदायी होते हैं।

स्वप्नशास्त्र हमारा अनुपम शास्त्र है, उसमें बताया गया है कि कौन से, किस के स्वप्न सत्य और सफल होते हैं। स्वप्न हमारी आत्मा की शुद्धि-अशुद्धि का प्रतिबिम्ब हैं ॥४७॥

प्रलापमात्रं च वचो यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।
यथेहाप्सरसः स्वर्गे मोक्षे चानन्द उत्तमः ॥४८॥

अर्थ : अप्रत्यक्षपूर्वक वचन प्रलापमात्र है, जैसे स्वर्ग में अप्सरा और मोक्ष में उत्तम आनन्द (ऐसा नास्तिक कहते है) ॥४८॥

विवेचन : नास्तिक लोग इन्द्रिय गोचर-प्रत्यक्ष पदार्थ को ही सत्य-यथार्थ मानते हैं, जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं उसे वे नहीं मानते। उनका-कहना है कि मीमांसकों का यह कथन कि स्वर्ग में मेनका, रम्भा आदि अप्सरायें हैं और जैनों और अद्वैतवादियों का मोक्ष में परम आनन्द का मानना, तो केवल गप्पें हैं; कल्पनामात्र है वास्तविक नहीं, क्योंकि हम अपनी नजरों से उसे देख नहीं सकते ॥४८॥

योगिनो यत् समध्यक्षं ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।
आत्मादेरपि युक्तोऽयं तत एवेति चिन्त्यताम् ॥४९॥

अर्थ : योगी प्रत्यक्ष से यदि उक्त अप्सरादि स्वर्ग का निश्चय होता हो तो आत्मादि का निश्चय भी उसी प्रकार युक्त है, यह विचारें ॥४९॥

विवेचन : मीमांसकों का मानना है कि योगी योगबल से दिव्यदृष्टि वाले होते हैं। वे अपनी दिव्यदृष्टि से देव, नारकी आदि जगत के सभी पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिये योगीप्रत्यक्ष होने से हम स्वर्ग, अप्सरा आदि को मानते हैं, तो उन्हें हम यह कहते हैं कि, जैसे तुम योगी-प्रत्यक्ष होने से स्वर्ग आदि को मानते हो, उसी प्रकार मोक्ष में परम आनन्द है ऐसा पूर्ण ज्ञानी ने अपने ज्ञान में देखा है और ऐसे ज्ञानी के प्रत्यक्ष होने से हम मोक्ष में परम आनन्द को और आत्मा, कर्म, ज्ञान आदि को भी जो इन्द्रियप्रत्यक्ष नहीं, उन पारमार्थिक तत्त्वों को ज्ञानी के प्रत्यक्ष होने से उसे मानते हैं। क्योंकि जैसे योगी योगबल से, देवकृपा से अतीन्द्रिय परभव आदि विषयों को प्रत्यक्ष करते हैं, उसी प्रकार देव की कृपा से धार्मिक व्यक्ति को स्वर्ग आदि का स्वप्न में देखना, उस पर सम्यक् श्रद्धा होना, आत्मादिक 'पदार्थों को श्रद्धा पूर्वक मानना' आदि 'यथार्थ घटित होता है' उसमें कहीं भी सन्देह नहीं ॥४९॥

अयोगिनो हि प्रत्यक्षगोचरातीतमप्यलम् ।
विजानात्येतदेवं च, बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥५०॥

अर्थ : अयोगी के लिये जो प्रत्यक्ष गोचरातीत-इन्द्रियातीत है; उसे योगी योगबल से एतदेवं-हस्तामलकवत् जानता है, अत: यहाँ कोई विरोध नहीं ॥५०॥

विवेचन : जिन्होंने योगाभ्यास नहीं किया; जिनको योग सम्बन्धी सिद्धियों का कोई अनुभव नहीं, ऐसा सामान्य मनुष्य केवल अपने चर्मचक्षुओं से इन्द्रियगोचर पदार्थों को ही जान सकता है। इन्द्रियातीत पदार्थों को जानना उसकी शक्ति के बाहर है, लेकिन योगी तो योगबल से, अपनी दिव्यदृष्टि से, इन्द्रियातीत आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि पदार्थों को हस्तामलकवत् जानता है । इसलिये आत्मादि विषय में किसी प्रकार का विरोध या रूकावट नहीं है । जब योगीप्रत्यक्ष आत्मादि सिद्ध है, तो योगीप्रत्यक्ष स्वप्न भी सत्य सिद्ध ही है ॥५०॥

आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु, योगिप्रत्यक्षभावत: ।
परोक्षमपि चान्येषां, न हि युक्त्या न युज्यते ॥५१॥

अर्थ : आत्मादि अतीन्द्रिय वस्तु, योगीप्रत्यक्षगम्य होने से, अयोगीजनों के लिये परोक्ष होने पर भी युक्ति सिद्ध नहीं है, ऐसा नहीं है, अर्थात् वे युक्ति सिद्ध है ॥५१॥

विवेचन : जैसा पूर्व में कहा है योगी योगबल से इन्द्रियातीत – इन्द्रियों से जिसे न जाना जा सके, ऐसे आत्मा, कर्म, परलोक, मोक्ष आदि विषयों को हस्तामलकवत् (हाथ में आँवले की भाँति) प्रत्यक्ष कर लेता है । लेकिन जो योगी नहीं, ऐसे सामान्य मनुष्य के लिये तो यह विषय परोक्ष ही रहा, तो इस पर वे कहते है कि यह तथ्य युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसा नहीं है, अर्थात् सामान्य मनुष्य के लिये चाहे यह विषय परोक्ष ही हो, लेकिन तर्क, युक्ति और बुद्धि से इस विषय की सिद्धि हो जाती है । टीकाकार ने इस विषय को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट किया है।

अचेतनानि भूतानि, न तद्धर्मो न तत्फलम् ।
चेतनास्ति च यस्येयं, स एवात्मेति बुध्यताम् ॥

यदीयं भूतधर्म स्यात्प्रत्येकं तेषु सर्वदा ।
उपलभ्येत, सत्त्वादि, कठिनत्वादयो यथा ॥

काठिन्यादिस्वभावानि, भूतान्यध्यक्षसिद्धित: ।
चेतना तु न तद्रया; सा कथं तत्फलं भवेत् ॥

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश ये पंचभूत है । उनका स्वभाव अचेतन-जड़स्वरूप

है। इसलिये चेतन उनका स्वरूप नहीं हो सकता। "यत्र-यत्र चेतना तत्र-तत्र आत्मा" यह व्याप्ति, सर्वत्र सिद्ध है, क्योंकि आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, उपयोग आदि गुणधर्म से युक्त है और उसे ही चेतना कहते हैं। चेतना का भी यही लक्षण है। अगर इन पंचभूतों में चेतना स्वीकारें, तो इनमें चेतना किसी को भी प्रत्यक्ष नहीं होती। पंचभूतों-पदार्थों में कठिन, कोमल, भारी, हल्का, मोटा, पतला, खुश्क, चिकना, मुलायम और खुरदरा आदि गुण रहते हैं। इन्द्रियों से हम सभी इन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं। इसलिये ये सब जड़ स्वभाव वाले हैं। आत्मा तो चेतन स्वरूप है, भूतों के धर्म उसमें घटते नहीं। जो जड़ है वह चेतन कैसे हो सकता है ? इसलिये दोनों के अपने-अपने धर्म हैं। अपनी-अपनी सत्ता है। संसार में विविध विचित्रताएँ भी कर्म को ही आभारी हैं। अनुमान प्रमाण से हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है जैसा कि टीकाकार ने संस्कृत में कहा हैं।

तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां, केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् ।
परे न तामत्र निगद्यतां मे, कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥

विचित्रदेहाकृति-वर्ण-गंध-प्रभाव-जाति-प्रभवस्वभावाः ।
केन क्रियन्ते भुवनेङ्गिवर्गाश्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥

विवर्ध्य मासान्नव गर्भमध्ये, बहुप्रकारैः कललादिभावैः ।
उद्वर्त्य निष्कासयते सवित्र्याः, को गर्भतः कर्म विहायपूर्वम् ॥

कर्म के अतिरिक्त ये विविधताएँ असम्भव हैं। इस प्रकार योगीप्रत्यक्ष से, अनुमानप्रमाण से, आगमप्रमाण से भी आत्मादि कर्म और पुनर्भवादि अतीन्द्रिय पदार्थ सामान्य मनुष्य को परोक्ष होने पर भी युक्ति से सिद्ध है ॥५१॥

किञ्चान्यद् योगतः स्थैर्यं धैर्यं श्रद्धा च जायते ।
मैत्री जनप्रियत्वं च प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥५२॥

अर्थ : योग से अन्य और भी स्थैय, धैर्य, श्रद्धा, मैत्री, लोकप्रियता प्रतिभा तथा जीवाजीवादि तत्त्वों का ज्ञान सहजबुद्धि जन्य होता है ॥५२॥

विवेचन : पूर्वोक्त योग के अन्य फलों के अतिरिक्त आन्तरिक उपलब्धियां भी प्राप्त होती हैं। योगी को स्थिरता के लिये **श्रीमद् राजचन्द्रजी** ने **अपूर्व अवसर** में सुन्दर लिखा है :-

आत्मस्थिरता त्रण संक्षिप्त योगनी,
मुख्यपणे तो वर्ते देहपर्यंत जो;
घोर परिसह के उपसर्ग भये करी,
आवी शके नहि ते स्थिरतानो अन्त जो ।

योगी को योग से ऐसी स्थिरता प्राप्त होती है कि वह जो प्रतिज्ञा लेता है, उसे पूर्ण रूप से निभाने के लिये जीवन पर्यन्त अडिग रहता है। "प्राण जाय पर वचन न जाय" उसका मनोबल इतना बढ़ जाता है कि दशवैकालिकसूत्र में आता है "चइज्ज देहं नहु धम्म सासनं" – देह भले चली जाय, लेकिन वह अपने स्थिरता धर्म को नहीं छोड़ता। गजसुकुमाल, खंधकमुनि, धन्नामुनि, मेतार्यमुनि, ढंढणमुनि आदि का दृष्टान्त आत्मा की अडिगस्थिति के लिये प्रसिद्ध हैं। योग की साधना करते-करते साधक की धैर्यशक्ति भी इतनी बढ़ जाती है कि सैकड़ों तुफानों और झंझावातों के अन्दर भी वह घबराता नहीं हैं, उन्हें परम शान्ति और समता से सहन करता है। सभी संकटों का सामना वीरता से करता है। अपनी मूल प्रकृति को छोड़ता नहीं है। योगी की श्रद्धा भी अनुपम होती है। सभी प्राणियों के प्रति मित्रभाव होता हैं। गीता में सुन्दर कहा हैं :-

आत्मौपम्येन समं पश्यति सर्वत्र योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि दुःखं वा, स योगी परमो मतः ॥ गीता, अध्यात्मयोग, श्लोक ३१

हे अर्जुन ! जैसे हमको अनुकूल संयोग से सुख और प्रतिकूल संयोग से दुःख अनुभव होता है, वैसे ही जगत के सभी जीवों का सुख-दुःख जानकर किसी को दुःख न हो, सभी सुख का अनुभव करें, ऐसी भावना रखकर, जो योगी सभी आत्माओं को अपने जैसा देखता है वह सच्चा योगी है। जगत में सर्व जीवों के प्रति जब साधक की ऐसी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है तब मैत्रीभाव से अन्दर के सभी तुफान शान्त हो जाते हैं और अनुपम शान्ति का अनुभव होता है। जब योगी की स्थिरता, धीरज, श्रद्धा, और मैत्रीभाव पूर्ण कला से खिल उठती है तब वह सज्जन सत्पुरुषों के प्रेम, प्रीति का भाजन बनता है। लोकप्रियता अपने आप आ जाती है। वह लोकप्रिय हो जाता है। योगी की प्रतिभा भी योगाभ्यास से विकसित होती है। बुद्धि का सहजभाव से उत्पन्न होना- जिसे प्रत्युत्पन्न बुद्धि कहते हैं। (बीरबल, अभयकुमार और तेनालीराम की भांति हर प्रश्न का वह तुरन्त उत्तर दे सकता है।) जीवाजीवादि तथा धर्माधर्मास्तिकाय आदि तत्त्वों का ज्ञान भी प्रतिभाजन्य सहजोपलब्धिजन्य होता है ॥५२॥

विनिवृत्ताग्रहत्वं च, तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।
तदभावश्च लाभश्च, बाह्यानां कालसंगतः ॥५३॥

अर्थ : आग्रह की निवृत्ति, द्वन्द्व सहन करने की शक्ति, द्वन्द्व का अभाव तथा बाह्य परिस्थितियों की अनुकूलता काल के संयोग-संगति से होती है ॥५३॥

विवेचन : योग की साधना करने वाले व्यक्ति में कदाग्रह, हठ, जिद सभी छूट जाते हैं, उसका हृदय बिल्कुल सरल और नम्र हो जाता है। सुख-दुःख, मान-अपमान, लाभ-अलाभ आदि

सभी द्वन्द्वों को समता पूर्वक सहन करने की शक्ति प्राप्त होती है। द्वन्दों का अभाव हो जाता है। बाह्य परिस्थितियाँ साधक की साधना में अनुकूलता प्रदान करती हैं। किन्तु इन सब के लिये काल की अपेक्षा रहती है ॥५३॥

धृतिः क्षमा सदाचारो, योगवृद्धिः शुभोदया ।
आदेयता गुरुत्वं च, शमसौख्यमनुत्तमम् ॥५४॥

अर्थ : शुभोदय करने वाले धृति, क्षमा, सदाचार, तथा योगवृद्धि, आदेयता, गुरुत्व और अनुत्तर ऐसी परम शान्ति का सुख भी (योग से प्राप्त होता है) ॥५४॥

विवेचन : शुभोदय-उत्तमोत्तम प्रशस्त फल देनेवाले धृति-वर्तमान परिस्थिति में परम सन्तोष; क्षमा-निमित्त और शक्ति होने पर भी क्रोध न करना; सदाचार-शिष्ट व्यवहार, सद्व्यवहार; योगवृद्धि-सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र की उत्तरोत्तर प्रगति-विकास; आदेयता-लोगों से आदर प्राप्त होना; गुरुत्व-सर्वत्र गौरव लाभ होना और अन्त में अनुत्तर-जिस सुख के प्राप्त करने पर दूसरा कोई सुख शेष नहीं रहता, ऐसा परम शान्ति का सुख प्राप्त होता है।

योग की साधना करने वाला साधक परम सन्तोषी परमशान्तिवाला, सदाचारी अपने लक्ष्य में प्रगतिशील होता है। परिणाम स्वरूप लोगों से आदर, मान, पूजा प्राप्त करके, इस योग से परमशान्ति-परमसुख का अनुभव करता है ॥५४॥

आविद्वदङ्गनासिद्धमिदानीमपि दृश्यते ।
एतत् प्रायस्तदन्यत् तु, सुबह्वागमभाषितम् ॥५५॥

अर्थ : अभी (इस कलियुग में) भी योग की महत्ता विद्वान् से लेकर स्त्रियों तक में भी प्रायः सर्व प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इस विषय में आगमों में भी बहुत अच्छी तरह से बताया है उसे यहाँ बताते हैं ॥५५॥

विवेचन : योग की महत्ता प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है केवल-लोक में ही नहीं आगमों में भी इसके बहुत प्रमाण मिलते हैं। योगियों के अनुभवों का वर्णन आगमों में मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति में इस प्रकार कहा है :-

आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि जल्लमोसहिचेव ।
संभिन्नसोय उज्जुमई, सव्वोसहि चेव बोधव्वा ॥

चारण आसीविस केवली य, मणणाणीणो नव पुव्वधरा ।
अरहन्त चक्रवट्टी बलधरा वासुदेवा य ॥

आमोषधि, विप्रोषधि, श्लेश्मोषधि, जल्लोषधि (पसीना, मूत्र, थूक आदि) संभिन्नश्रोत (पंचेन्द्रिय के विषयों को एक इन्द्रिय से जानना), ऋजुमति, सर्वोषधि (योगियों का मैल सर्वरोगों को नाश करने वाला है), चारण, आशीविष (भयंकर सर्प बिच्छु, जहरीले जीवों के ज़हर को नष्ट करने की शक्ति), केवलज्ञान शक्ति, मनः पर्यय ज्ञान शक्ति, पूर्वधरशक्ति, अरिहन्त, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि सभी शक्तियां योगी प्राप्त करता है तथा टीकाकार ने और भी कहा है :-

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं, गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च, योगप्रवृत्तेः प्रथमं हि लिङ्गम् ॥

मैत्र्यादियुक्तं विषयेषु चेतः, प्रभाववद्धैर्यसमन्वितम् च ।
द्वन्द्वैरधृष्यत्वमभिष्टलाभो; जनप्रियत्वं च तथा परं स्यात् ॥

दोषव्यपायः परमा च तृप्तिरौचित्ययोगः समता च गुर्वी ।
वैरादिनाशोऽथऋतम्भरादि निष्पन्नयोगस्य तु चिह्नमेतत् ॥

साधक योगमार्ग में प्रवेश करते ही पांच इन्द्रियों के पाँचों विषयों में लालचरूप अत्यन्त आसक्ति को छोड़ देता है। परिणाम-स्वरूप शरीर में कोई रोग नहीं होता, इसलिये उसे आरोग्य लाभ होता है। तामसिक और राजसिक प्रकृतिकारक आहार तथा भोगों को छोड़ देता है इसलिये उसके हृदय में निर्दयता नहीं रहती, अर्थात् सत्त्व प्रकृति कारक आहार करने से उसका हृदय कोमल और संवेदनशील हो जाता है। योगी के शरीर में सुगन्ध प्रकट होती है, क्योंकि दुर्गन्ध देने वाले सभी बुरे विचारों का बिल्कुल अभाव होता है। मूत्र और विष्ठा अल्प-मात्रा में होते है। शरीर में कान्ति प्रकट होती है। लोगों पर प्रभाव पड़ता है। स्वर में-भाषा में सौम्यता, मृदुता आती हैं, इष्टलाभ होता है, वैरादि का नाश होता है। तथा आगम तथा अनुमान द्वारा जानी हुई वस्तु को ध्यानाभ्यास से, तीन प्रकार की द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय कल्पना के द्वारा, जिसका उच्चारण न हो सके परन्तु आत्मा से अपने निजानुभव से ही मालुम हो, ऐसी ऋतंभरा बुद्धिरूप ज्ञान अथवा महाप्रज्ञा आत्मा में योग के बल से ही प्रकट होती हैं। इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा उपरोक्त दोषक्षय और अनेक प्रकार की सिद्धियाँ - लब्धियाँ प्राप्त होती है। उनका स्वरूप आप्तपुरुषों ने, आगमों में बड़ी सुन्दर रीति से समझाया है ॥५५॥

न चैतद् भूतसंघातमात्रादेवोपपद्यते ।
तदन्यभेदकाभावे, तद्वैचित्र्याऽप्रसिद्धितः ॥५६॥

अर्थ : उपरोक्त योगमाहात्म्य भूतसंघात मात्र से घटता नहीं, क्योंकि भूतसंघात से, अन्य-आत्मा के अभाव में भूतसंघात की विचित्रता कैसे घटे ? ॥५६॥

विवेचन : यदि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप मूलसंघात-महामूल समुदाय से अलग स्वतन्त्र आत्मा को नहीं मानते हैं तो योग की महत्ता सिद्ध नहीं होती, सार्थक नहीं होती, इसका समाधान नहीं होता ।

पंच-भूतों का स्वभाव जड़ है और आत्मा का स्वभाव चैतन्य है । चार्वाक मानते है कि पांच महाभूत जब मिलते हैं तब आत्मा नाम की शक्ति पैदा हो जाती है और भूतों के बिखर जाने से वह शक्ति भी बिखर जाती है, परन्तु प्रत्येक पदार्थ-भूत में ही जब चैतत्य का अभाव है तो समुदाय में चैतन्य कैसे आ सकता है? अगर रेत में तेल नहीं हों तो लाखों किलो रेत पीलने पर भी तेल का बिन्दु भी निकल सकता है क्या ? अतः मूल में ही चैतन्य नहीं है तो भूतसंघात से चैतन्य कैसे प्रकट हो सकता है ? अगर जीव भूत संघात से ही पैदा होता है तो मरने पर पंचभूत का शरीर विद्यमान होने पर भी चैतन्य की चेष्टा नहीं दिखाई देती, उसका कारण खोजना चाहिये। डॉक्टर कहते हैं कि प्राणरूप पवन अलग हो जाने से मृत्यु हो जाती है, तो धमनियों द्वारा प्राणवायु पूरने से प्राण आने चाहिये, लेकिन नहीं आते, इसलिये जड़ पदार्थ से भिन्न चैतन्य स्वरूपवाला आत्मा अलग स्वतन्त्र पदार्थ है । संसार में सुख, दुःख, कर्मफलों की विचित्रताएँ सभी जीव के ऊपर ही निर्भर है ॥५६॥

अब योगमहात्म्य से प्रकारान्तर से परलोक सिद्धि करते हैं :-

ब्रह्मचर्येण तपसा, सद्वेदाध्ययनेन च ।
विद्यामन्त्रविशेषेण, सत्तीर्थासेवनेन च ॥५७॥

पित्रोः सम्यक् उपस्थानाद्, ग्लानभैषज्यदानतः ।
देवादिशोधनाच्चैव, भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥५८॥

अर्थ : ब्रह्मचर्य से, तपश्चर्या से, सत् शास्त्रों के अध्ययन से, विद्या मंत्रादि विशेष से, सत् तीर्थों के सेवन से, माता-पिता की सम्यक् सेवा-सुश्रुषा करने से, आतुर को औषध दान देने से, देवादि-देवप्रासादादि का जीर्णोद्धार आदि करवाने से भव्यात्माओं को जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त होता है ॥५७-५८॥

विवेचन : उपरोक्त सभी साधन जातिस्मरण ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) को उत्पन्न करने में निमित्त कारण हैं । उपादान-मुख्य कारण, तो इन साधनों के द्वारा हृदय की शुद्धि, विचारों की शुद्धि, भावोल्लास होना, आत्मा के गुणों का विकास होना ही मुख्य है । जब इन साधनों से आत्मा की शुद्धि हो जाती है तभी जाति स्मरण ज्ञान प्राप्त होता है, केवल क्रियामात्र करने से कुछ नहीं होता।

ब्रह्मचर्य:- मन, वचन, काया से पांच इन्द्रियों के २३ विषयों का त्याग करना, अनासक्त रहना, शुद्ध ब्रह्मचर्य है ।

तपश्चर्या :- अणसण अर्थात् आहार का त्याग करना, उपवास, छठ्ठ, अठ्ठम आदि करना। उणोदरी-भूख से कम आहार लेना। वृत्तिसंक्षेप, जीव को खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने की अनेकों इच्छाएँ होती है, उनका संक्षेप-कम करना। इच्छाओं को सीमित करना। रसत्याग घी, दूध, दही, गुड़, तेल, मधु (शहद), मक्खन आदि मादक, विकार पैदा करने वाले पदार्थों का त्याग करना। कायक्लेश – शरीर को सर्दी, गर्मी, डांस, मच्छर आदि परिषहों से होने वाले दुःखों को शान्ति पूर्वक सहना। संलीनता-अंगोपांग का संकोच करना - विवेक से बैठना, उठना, चलना-फिरना आदि क्रिया करना। ये बाह्य तप हैं।

उपरोक्त बाह्य तपों के अतिरिक्त छः आंतरिक तप है :-

स्वाध्यायो, विनयो ध्यान व्युत्सर्गो व्यावृत्तिस्तथा।
प्रायच्छित्तमिंद प्रोक्तं तपः विद्यामान्त्रम्॥

स्वाध्याय-शास्त्राभ्यास व स्व का अध्ययन करना विनय-गुरुजनों का आदर सत्कार करना, हृदय में सरलता और नम्रता रखनी। ध्यान-धर्म और शुक्लभाव का ध्यान करना। व्युत्सर्ग-शरीर की ममता त्यागरूप काउस्सग्ग करना। व्यावृत्ति-संसार प्रवृत्ति से दूर रहकर, आत्मा में रमण करना। प्रायश्चित्त-प्रमाद, कषायादि के कारण हुये अशुभ आचरण का पश्चात्ताप करना और दुबारा ऐसा न हो, ऐसा दृढ़ निश्चय करना। ये आभ्यन्तर तप हैं, इन से अनन्त कर्मों की निर्जरा होती है और आत्मा हल्का हो जाता है।

सद्वेदाध्ययनः- जिससे आत्मा के प्रमाद और कषाय कमजोर पड़े, आत्मा जड़ चेतन के भेद का पालन करे ऐसे भाववाही वीतराग प्ररूपित सत् शास्त्रों का अध्ययन करना।

विद्यामंत्रविशेष :- अमुक व्यक्ति को वश में करने की विद्या; अथवा भूत, पिशाच, देवता आदि वश में हो, ऐसी साधना; अथवा सोलह विद्या देवियों की आराधना करने की विशेष प्रकार की शक्ति, वह भी विद्या कही जाती है और मंत्रविशेष जिससे सर्प, बिच्छु आदि का जहर उतरता है अथवा ॐकार रूप प्रणवमंत्र, ह्रींकार रूप मायामंत्र तथा सूरिमंत्र आदि आत्मा की शक्ति बढ़ाने वाले मंत्र हैं। इन विद्या और मंत्रों का स्वरूप व्याकरण में प्रसिद्ध है वहीं से जान लेना चाहिये।

सत्तीर्थ की सेवा :-"तारयति भवसमुद्रात् इति तीर्थः"। तीर्थ दो प्रकार के हैं, स्थावर और जंगम-स्थावर-वीतराग परमात्मा की कल्याणक मूर्तियाँ और जंगम-साधु, साध्वी, सुगुरु, सुधर्म और सुदेव की सेवाभक्ति करना, माता-पिता की सम्यक् सेवा करना, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना, उनकी शिक्षा को जीवन में उतारना, उनका आदर सत्कार-विनय करना आदि।

देवादिशोधना :- सुगुरु, सुधर्म, सुदेव की विवेक पूर्वक परीक्षा करना; अठारह प्रकार के

दूषणों से रहित परमात्मा को सुदेव मानना; सर्व प्राणियों पर करुणासभर हृदय रखने वाले, उत्कृष्ट यम, नियम पालने वाले, सत्यमोक्षमार्ग का उपदेश देने, पाँचों इन्द्रियों को संयम में रखने वाले, नौ प्रकार से ब्रह्मचर्य को पालने वाले, पांच समिति और तीन गुप्ति को धारण करने वाले सुदेव हैं और शांति, सत्य, शौच, अकिञ्चनता, दया, दान, ब्रह्मचर्य, तप, भाव, मैत्री-प्रमोदादि भाव, दस प्रकार का यतिधर्म हैं । बीमार, ग्लान, वृद्ध तपस्वी की वैयावच्च करना, वीतराग परमात्मा की प्रतिमा तथा मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाना, ज्ञानप्राप्ति के कारणभूत आगम और पुस्तकों को लिखवाना, शुद्ध करवाना, उनका नाश न हो जाय ऐसी व्यवस्था करवाना, ज्ञान भण्डारों की व्यवस्था करवाना। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका आदि की आत्म समाधि में स्थिरता रहे तदर्थ उपाश्रय आदि बनवाना, धर्म कार्य में उपयोगी स्थान की शुद्धि करवाना, जीर्णोद्धार करवाना, जहाँ न हो, वहाँ पर नया बनवाना इस प्रकार धर्म कार्यों में, ध्यान-समाधि में मदद मिले ऐसे कार्य करवाने से जीव को जाति स्मरण ज्ञान (पूर्व जन्म की स्मृति) प्राप्त होती है । इन सभी साधनों से जीव को जब जाति-स्मरण ज्ञान हो जाता है, तो परलोक स्वयं ही प्रत्यक्ष हो जाता है, फिर किसी दूसरे प्रमाण की जरूरत ही नहीं रहती ॥५७-५८॥

अत एव न सर्वेषामेतदागमनेऽपि हि ।
परलोकाद् यथैकस्मात् स्थानात् तनुभृतामिति ॥५९॥

अर्थ : परलोक से आने पर सभी प्राणियों को जातिस्मरण नहीं होता, जैसे एकस्थान से (दूसरे स्थान पर) आने वाले सभी मनुष्यों को पूर्व की स्मृति नहीं रहत ॥५९॥

विवेचन : जिन्होंने पूर्वजन्म में उपरोक्त ब्रह्मचर्यादि की आराधना की हो, जिनके ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम हुआ हो, उसे ही पूर्वजन्म की स्मृति होती है । सभी का क्षयोपशम समान नहीं होता। जैसे एक स्थान-एक शहर से दूसरे स्थान पर आकर बस जाय, कुछ समय व्यतीत होने पर सभी को एक जैसी पूर्व स्मृति नहीं रहती। कुछ व्यक्तियों की स्मृति लम्बा समय होने पर भी ताजी रहती है, कुछ भूल जाते हैं । इसी प्रकार जैसी क्षयोपशम आराधना वैसी स्मृति । कुछ व्यक्तियों को अपनी बचपन की सभी बातें बिलकुल ताजा होती है लेकिन कुछ लोग भूल जाते हैं । जब इसी जन्म का स्मरण सभी को समान नहीं होता तो परलोक से आने वाले सभी को पूर्व जन्म की स्मृति कैसे रह सकती है, जितनी जिसकी आत्मा जागृत, अप्रमत्त होती है उतना ही स्मृति-ज्ञान तेज होता है ॥५९॥

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः ।
सर्वेषामनुभूतार्थस्मरणं स्याद् विशेषतः ॥६०॥

अर्थ : इसमें भी सभी को उन्माद और ग्रहादि के कारण अनुभूतार्थ स्मरण विशेष रूप से नहीं होता ॥६०॥

विवेचन : जैसे उन्माद-पागलपन से; शरीर में कोई असाध्य रोग होने से; सन्निपात से; स्मरणशक्ति नष्ट हो जाने से; भूतप्रेत, पिशाच आदि से जकड़ जाने पर; इसी प्रकार के अन्य बाह्य और आन्तरिक-मानसिक कारणों से व्यक्ति 'मैं कहाँ से आया', "कौन हूँ" आदि इसी जन्म की अनुभूत स्मृतियों को खो बैठता हैं। उसकी स्मरणशक्ति इतनी कमज़ोर हो जाती है कि उसे कुछ भी पूर्व की बात याद नहीं रहती। इसी प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय कर्म के तीव्र उदय से, क्षयोपशम अल्प होने से पूर्व जन्म सम्बन्धी स्मृति "मैं कहाँ से आया", 'किस कारण से आया", "कौन था" ऐसा विशेष बोध (पूर्वजन्म सम्बन्धी ज्ञान) नहीं होता। किसी विरली महान् आत्मा को ही पूर्वभव सम्बन्धी जातिस्मरण ज्ञान होता है, परन्तु जगत के सभी प्राणियों को ऐसा ज्ञान नहीं होता ॥६०॥

पूर्वभव सम्बन्धी सामान्य ज्ञान जो प्राणीमात्र को उपलब्ध होता है अब उसे ग्रंथकार कहते है :

सामान्येन तु सर्वेषां, स्तनवृत्त्यादिचिह्नितम् ।
अभ्यासातिशयात् स्वप्नवृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥६१॥

अर्थ : सर्वप्राणियों को स्तनपान का स्मरण सामान्यरूप से (पूर्वभय के) अतिशय अभ्यास के कारण होता है। यह बात स्वप्नवृत्ति के तुल्य है ॥६१॥

विवेचन : जन्म लेते ही बालक माता के स्तनपान की जो क्रिया करता है, वह क्रिया यहाँ पर तो किसी ने सिखाई नहीं। बिना सीखे कुदरती उसको कौन सिखाता है ? यह है पूर्वजन्म के संस्कारों की निशानी। दो ढ़ाई महीने के अबोध शिशु को सोया हुआ देखें। सैंकड़ों आकृतियाँ उसके चहेरे पर उपलब्ध होती है, कभी सोया-सोया हंसता है; कभी रोने जैसी आकृति बनाता है; कभी गुस्से-क्रोध की आकृति बनती है। पुराने लोग कहते हैं बच्चों को पूर्वजन्म के अच्छे, बुरे स्मरण-संस्कारों से ऐसा होता हैं। अन्दर-अन्दर रोना, हंसना आदि सभी पूर्वजन्म के संस्कारों की निशानियाँ है। जब वह कुछ बड़ा होता है तब रंग बिरंगें सुन्दर खिलौनों को पकड़ने का प्रयत्न, उसे ग्रहण करने की उसकी आकांक्षा अनादि संस्कारों का परिणाम है। जिन-जिन वस्तुओं का अत्यन्त परिचय हो; जो वस्तु अधिक प्रिय हो; इष्ट वस्तु का बारम्बार स्मरण करने से; अतिशय अभ्यास के कारण-उन वस्तुओं का बारम्बार भोग-उपभोग करने से व्यक्ति के मानसिक संस्कार इतने गाढे हो जाते हैं कि उसे उन्हीं वस्तुओं के स्वप्न बारम्बार आते हैं, इसी प्रकार पूर्वजन्मों के अतिशय अभ्यास से, जन्म लेते ही बालक अपनी क्षुधानिवृत्ति के लिये स्तनपान करता है, इसलिये स्तनवृत्ति

और स्वप्नवृत्ति में समानता रही हुई है । हर जन्म में प्राणी-माता का स्तनपान करता है । जन्म-जन्म के अतिशय अभ्यास की ही तो यह निशानी है ॥६१॥

स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासाद् विशिष्टस्मृतिवर्जिता ।
जागृतोऽपि क्वचित् सिद्धा, सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥६२॥

अर्थ : स्वप्न में भी विशेष प्रकार के अभ्यास के बिना अनुभूत पदार्थ की स्मृति प्राय: नहीं भी रहती ऐसे ही जागते मनुष्य को भी कभी किये हुये विचार अथवा अनुभूत पदार्थ की स्मृति नहीं रहती । सूक्ष्मबुद्धि से विचारें तो वस्तुतत्त्व समझ में आयेगा ॥६२॥

विवेचन : स्वप्न में देखी हुई वस्तु याद आ जाती है, लेकिन स्तनपान पूर्वजन्म के अनुभव का फल है, यह याद नहीं आता इसलिये यह दृष्टान्त यहाँ घटता नहीं इस शंका का निवारण करने के लिये ग्रंथकार ने कहा हैं :-

स्वप्न में भी जिस का तीव्र अभ्यास हो, उसी की स्मृति ताजी रहती है; मन्द-अल्प अभ्यास से स्मृति भी सामान्य होती है । सभी स्वप्न सभी को याद नहीं रहते । जिनका बारम्बार अनुभव किया हो; वैसे अमुक स्वप्न ही याद रह जाते हैं । बाकी सभी भूल जाते हैं । कभी कुछ स्वप्न याद आते हैं तो कभी अस्पष्ट होते हैं, धुंधले होते हैं । जागृत मनुष्य का भी ऐसा ही है, जागृत मनुष्य जगत में सर्वत्र घूमता है, लेकिन अमुक स्थान, अमुक व्यक्ति, अमुक अनुभव ही विशेष याद रहते हैं जिनका कि ज्यादा परिचय हो, सभी कुछ उसे याद नहीं रहता । हर मनुष्य बचपन में अनेक बहनों की गोद में खेला होगा! अनेक लड़कों के साथ खेला होगा! अनेक स्थल देखे होंगे, लेकिन बड़ा होने पर अमुक व्यक्तियों, स्थलों की ही याद रहती है, बाकी सब भूल जाता है । यहाँ तक कि कुछ लोग बचपन के अपने सभी खेल भी भूल जाते हैं, अत: पूर्वजन्म के वे प्रसंग जिनका अभ्यास तीव्र हों, वे ही याद आते हैं । और जिनका ज्ञानावरणीय कर्म क्षयोपशम हों उन्हें ही पूर्व जन्म की स्मृति रहती हैं । इस तथ्य पर सूक्ष्म बुद्धि से विचारें । गम्भीर चिन्तन और सम्यक् दृष्टि के बिना सत्य हकीकत सामने नहीं आती ॥६२॥

श्रूयन्ते च 'महात्मान एते दृश्यन्त' इत्यपि ।
क्वचित् संवादिनस्तस्मादात्मादेर्हन्त निश्चयः ॥६३॥

अर्थ : (जाति-स्मरण ज्ञान को धारण करने वाले) ऐसे महात्माओं के सम्बन्ध में सुना गया है और कहीं-कहीं वर्तमान में भी ऐसे संवादी महात्मा देखे भी जाते हैं इसलिये आत्मादि का निश्चय होता है ॥६३॥

विवेचन : भूतकाल में जातिस्मरण के सैकड़ों दृष्टान्त हम आगम ग्रंथों में पढ़ते हैं । आज

भरुच शहर के 'समली विहार' के मूल में राजा की लड़की सुदर्शना के दृष्टान्त में यही इतिहास उपलब्ध है, जो सर्व विदित है। वर्तमान में भी जातिस्मरण ज्ञान-पूर्वभव की स्मृति के संवादी सैंकड़ों दृष्टान्त देखने में आते हैं, इसलिये जातिस्मरण ज्ञान से आत्मा, कर्म, नरक, स्वर्ग, परलोक, मोक्ष आदि तत्त्वों की सिद्धि निश्चित होती है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं ॥६३॥

एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम् ।
अतो यन्निश्चितैवेयं, नान्यतस्त्वीदृशी क्वचित् ॥६४॥

अर्थ : इस प्रकार तत्त्वसिद्धि में योग ही मुख्य कारण है, क्योंकि योग से तत्त्वसिद्धि निश्चित है जैसी कि अन्य किसी कारण से कभी नहीं होती ॥६४॥

विवेचन : योगी अपने योगबल से जैसा तत्त्व प्रत्यक्ष करता है, वैसा वाद-विवाद, तर्क-वितर्क, खण्डन-मण्डन द्वारा नहीं हो सकता। आनन्दघनजी ने भी श्री अजितनाथ भगवान् के स्तवन में सुन्दर कहा है :-

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे, पार न पहोंचे रे कोय;
अभिमत वस्तु वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय ॥४॥

वाद की परम्परा बढ़ने पर भी तत्त्व हाथ में आता नहीं और योग से प्रत्यक्ष लाभ होता है, इसलिये तत्त्वसिद्धि में योग को मुख्य बताया है ॥६४॥

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।
प्रेक्षावता सदा कार्यो, वादग्रन्थास्त्वकारणम् ॥६५॥

अर्थ : तत्त्वसिद्धि के लिये विवेकी (बुद्धिमान) मनुष्य को सदा यहीं पर ही (योगाभ्यास में ही) महान प्रयत्न करना चाहिये, तर्कग्रंथ तो इसमें कार्यसाधक नहीं होते ॥६५॥

विवेचन : चूँकि योगाभ्यास से तत्त्व-आत्मा, कर्म, परभव, मोक्ष आदि तत्त्वों की सिद्धि निश्चित है; अनुभव गोचर है; प्रत्यक्ष है; इसलिये बुद्धिमान को अपनी पूरी शक्ति इसी दिशा में लगानी चाहिये, क्योंकि तर्क ग्रंथों में परपक्षनिराकरण और स्वपक्ष प्रतिष्ठापन के अतिरिक्त तत्त्व हाथ में आता नहीं है ॥६५॥

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥६६॥

अर्थ : तप द्वारा धो दिया है पापपंक जिन्होंने, ऐसे योग मार्ग के ज्ञाताओं ने भावी योगियों के हित के लिये मोहान्धकार को दूर करने में दीपक के समान वचन की घोषणा की है ॥६६॥

विवेचन : प्रशम प्रधान तप द्वारा जिनकी हृदयशुद्धि हो चुकी है, ऐसे योगमार्ग के मर्म को जानने वाले, अनुभवी योगीन्द्रों-पतञ्जलि आदि तथा सर्वप्रकार के कर्मफल से रहित ऐसे तीर्थंकर केवली भगवन्तों ने भविष्य में होने वाले योगसाधकों के हित के लिये स्वमत-अभिनिवेशरूपी मोह को दूर करने में दीपक समान वचन उद्घोषणा पूर्वक कहे हैं। महापुरुष जानते हैं कि वाद-विवाद बहुल कलिकाल युग आने वाला है। ऐसी स्थिति में लोग वचनजाल में भटक जायेंगे, इसलिये उन्होंने भारपूर्वक यह उद्घोषणा की है ॥६६॥

वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥६७॥

अर्थ : निश्चित ऐसे वाद-प्रतिवाद करने वाले विवादी तिलपीलक(कोल्हू के) बैल की गति की भाँति कभी भी तत्त्व के निश्चय को प्राप्त नहीं करता ॥६७॥

विवेचन : पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष रूप वाद-प्रतिवाद में अत्यन्त निपुण व्यक्ति की स्थिति भी ऐसी ही है जैसी स्थिति गोल-गोल घूमने वाले कोल्हू के बैल की होती है। आँखों पर पट्टा बंधा हुआ है, वैसा कोल्हू का बैल सारा दिन चक्कर काटता रहता है। सारा दिन उसकी गति चालू रहती है, लेकिन फिर भी शाम को वह जहाँ था वहीं पर ही होता है। उसकी गति का अन्त ही नहीं आता। इसी प्रकार वाद-प्रतिवाद करनेवाला स्वमताभिनिवेश रूपी पट्टा बांध कर स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष की उत्थापना की उधेड़बुन में लगा ही रहता है, लेकिन इससे वह तत्त्व के हार्द को नहीं पा सकता। बुद्धिबल से तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद में चाहे वह अपना बुद्धि कौशल्य दिखा दे, परपक्ष को हरा दे और स्वयं जीत जाय, परन्तु अन्दर से वह बिल्कुल कोरा ही रहता है। इसीलिये महापुरुषों ने भाव योग यानीहृदय की शुद्धिरूपी योग को ही श्रेष्ठ बताया है, वाणी-विलास तो पतंगों को जैसे दीपक मोह पैदा करता है, वैसे बुद्धि को मोहित करने वाला है ॥६७॥

अध्यात्ममत्र परम उपायः परिकीर्त्तितः ।
गतौ सन्मार्गगमनं यथैव ह्यप्रमादिनः ॥६८॥

अर्थ : जैसे किसी विशिष्ट नगर में पहुँचने के लिये पथिक को सन्मार्ग का गमन श्रेष्ठ उपाय है, वैसे ही तत्त्वनिश्चय के लिये अध्यात्म को ही श्रेष्ठ उपाय बताया है ॥६८॥

विवेचन : इस श्लोक में ग्रंथकार ने जो दृष्टान्त दिया है, उसमें मुख्य दो बातें बताई हैं एक तो सन्मार्ग का निश्चय और दूसरा प्रमाद रहित होकर उस पर चलना। अगर मनुष्य सावधान होकर ऐसा करे तो वह जरूर अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँच जाता है। इसी प्रकार आत्मादि तत्त्वों का निश्चय करने के लिये अन्य सभी उपायों में अध्यात्म-भावयोग को श्रेष्ठ उपाय बताया है।

जैसे किसी मुसाफिर को किसी अमुक शहर में पहुँचना है, तो जो सड़क-राजमार्ग उस शहर में सीधा पहुँचता है, उस पर प्रमाद रहित होकर चलना शुरु कर दे तो वह अपने इच्छित स्थान को उपलब्ध कर लेता है, इसी प्रकार जिस साधक को आत्मा, कर्म, मोक्ष आदि तत्त्वों का निश्चय करना है उस पथिक के लिये महापुरुषों ने अध्यात्म को अन्य सभी उपायों से श्रेष्ठ बताया है, क्योंकि अध्यात्म योग तत्त्वनिश्चय में राजमार्ग जैसा निश्चित मार्ग है, जिस पर चल कर साधक सभी तत्त्वों का आत्म साक्षात्कार कर लेता है ॥६८॥

मुक्त्वाऽतो वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।
नाविधूते तमस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥६९॥

अर्थ : इसलिये वादसंघटु - वादविवाद के संघर्ष को छोड़कर अध्यात्मभाव का चिन्तन करें (क्योंकि मिथ्यात्वरूपी) अन्धकार, समूह को दूर किये बिना ज्ञेय (आत्मादि) में ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती ॥६९॥

विवेचन : अध्यात्म द्वारा ही संपूर्ण मल नाश हो जाने से योगी की निर्मल आत्मा, आत्मादि तत्त्वों को प्रत्यक्ष देखती है, लेकिन वाद-प्रतिवाद के चक्कर में फंसा हुआ व्यक्ति स्वमत के मिथ्याअभिनिवेश के कारण मानसिक घर्षणरूपी अज्ञानान्धकार से घिरा रहता है, सिवाय शब्द जाल के विवादी कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता । जब तक अज्ञानान्धकार है, ज्ञेय-आत्मादि विषय में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये ग्रंथकार ने वाद-विवाद के संघर्षमय विकल्प को छोड़ देने की और अध्यात्मभाव को अपनाने की सलाह दी है ॥६९॥

सदुपायाद् यथैवाप्तिरुपेयस्य तथैव हि ।
नेतरस्मादिति प्राज्ञः, सदुपायपरो भवेत् ॥७०॥

अर्थ : क्योंकि सम्यक् उपाय से ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है, असम्यक् अन्य उपाय से नहीं; इसलिये बृद्धिमान सम्यक् उपाय का ही आश्रय लें ॥७०॥

विवेचन : प्राज्ञ-बुद्धिमान वह है जो सत्य-असत्य, युक्त-अयुक्त का विवेक रखें । प्राज्ञ पुरुष सर्वत्र विवेक पूर्वक गति करता है । ग्रंथकार का अभिप्राय है कि मोक्षप्राप्ति और आत्मादि तत्त्व निश्चय में जो मार्ग सम्यक् श्रेष्ठ है; सत्य है; बुद्धिमान को उसी सच्चे मार्ग पर चलना चाहिये, उसी का आश्रय लेना चाहिये जो सीधा अपने लक्ष्य तक पहुँचा दें, क्योंकि जो मार्ग लक्ष्य तक न पहुँचाये उस पर चलने वाला पथिक भटक जाता है, और दुःखी होता है ॥७०॥

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्यः संदर्शितो बुधैः ।
दुरापं किंत्वदोऽपीह भवाब्धौ सुष्ठु देहिनाम् ॥७१॥

अर्थ : महापुरुषों ने अध्यात्म के सिवाय अन्य सम्यक् उपाय नहीं बताया, किन्तु इस संसार समुद्र में प्राणियों के लिये अध्यात्म भी अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥७१॥

विवेचन : कर्म-बन्धनों से मुक्त होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय महापुरुषों ने अध्यात्म को बताया है, क्योंकि अध्यात्मभाव का आलम्बन करने वाले जीवों को जगत के सभी पदार्थों के गुण और दोषों का यथार्थ अनुभवरूप सत्यज्ञान प्राप्त होता है और सम्यक्-दर्शन द्वारा संसार को बढ़ाने वाले मोहरूपी अज्ञान के बीज का नाश होता है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, परन्तु संसार समुद्र में भ्रमण करते हुये प्राणियों को अध्यात्म की प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ है ऐसा पूर्वों के रचयिता महापुरुषों ने बताया है, इसलिये अध्यात्म से अन्य, यज्ञ याग, देवियों को पशुबलि देना, आत्मघात आदि अशुद्ध-हिंसक उपायों से आत्म तत्त्व के दर्शनरूप, सम्यक्-दर्शन को प्राप्त नहीं होता। अध्यात्म वस्तुत: ही जीवों को बड़ा दुर्लभ है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो श्रद्धा को भी दुर्लभ बताया है :-

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणि इह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुइसद्धा संजमं वीरिअं ॥

मनुष्यत्व, शुद्ध श्रद्धा, संयम और आचरण की प्राप्ति मनुष्य के लिये अति दुर्लभ है। संसार-चक्र में भटकते प्राणियों को बड़े पुण्ययोग से अध्यात्म की प्राप्ति होती है। सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, अध्यात्मभाव की उपलब्धि बड़ी कठिन साध्य है, सभी को सहज में नहीं मिलती ॥७१॥

चरमे पुद्गलावर्ते, यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदाहृतम् ॥७२॥

अर्थ : जो चरम पुद्गल परावर्त में हो; शुक्लपाक्षिक हो, जानना वही आत्म ग्रंथिभेद करने वाली और चरित्र पालने वाली होती है, ऐसा पूज्य पुरुषों का कथन है ॥७२॥

विवेचन : चरम पुद्गलपरावर्त जैन पारिभाषिक शब्द है। अनन्तकाल चक्रों का एक पुद्गल-परावर्त होता है। विषय कषायों में आसक्त जीव ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तों में अनादि काल से भटक रहा है। परन्तु जब साधना करते-करते जीव की ऐसी स्थिति आ जाती है कि संसार-चक्र कम होते-होते अन्तिम पुद्गल परावर्त रह जाता है, उसे चरम पुद्गलावर्त कहते हैं। शुक्ल पाक्षिक-अपार्ध पुद्गल परावर्त-कुछ न्यून अर्ध पुद्गलपरावर्त वाले साधक को कहते हैं। उसमें भी भिन्न ग्रंथी-कर्मग्रंथी से मुक्त निर्ग्रंथ अर्थात् जिसने अपूर्वकरण रूपी वज्र के प्रहार से अत्यन्त गाढ़ राग-द्वेष, मोह के अध्यवसायों को छिन्न भिन्न कर दिया है। ऐसे साधक को तथा देशविरति चारित्री, सर्वविरति चारित्रधारी आत्मा को अध्यात्म की प्राप्ति होती है ॥७२॥

प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा ।
अतत्त्वाभिनिवेशाच्च, नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥७३॥

अर्थ : अति दीर्घ संसार होने से, अतिशय मलिनता (कर्ममल) होने से तथा अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि का कदाग्रह होने से अन्यों में (उपरोक्त गुणविकलों में) अध्यात्म कदापि संभव नहीं है ॥७३॥

विवेचन : जो चरम शरीरी नहीं, शुक्लपाक्षिक नहीं, जो भिन्न ग्रंथी और चारित्री नहीं उनका संसार तो बहुत लम्बा होता है, क्योंकि उनका कर्ममल खूब प्रगाढ़ होता है । "मैं जो मानता हूँ या मैं जो कहता हूँ, वही सच्चा हैं" ऐसे, मिथ्या अभिनिवेशी, कदाग्रही तथा उपरोक्त गुण विकल विहीन दीर्घ संसारी व्यक्तियों में अध्यात्म सम्भव नहीं है । अध्यात्म की दुर्लभता में संसार की रुचि ही प्रतिकूल कारण हैं, उसमें भी मलिनता की प्रगाढ़ता और अतत्त्वाभिनिवेश याने विपरीत वस्तुस्वभाव के विषय में कदाग्रह धारण करना, वहां अध्यात्म कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कभी नहीं, क्यों ? अन्य सन्त पुरुषों का सत्य उपदेश उनके हृदय में उतरता नहीं मिथ्याभिनिवेश होने से ॥७३॥

अनादिरेष संसारो, नानागतिसमाश्रयः ।
पुद्गलानां परावर्ता, अत्रानन्तास्तथा गताः ॥७४॥

अर्थ : यह संसार अनादि है; नाना प्रकार की गतियों से युक्त है और इसमें प्राणियों के अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो चुके हैं ॥७४॥

विवेचन : संसार का आरम्भ और अन्त कहीं दिखाई नहीं देता, इसलिये इसे अनादि-अनन्त कहा जाता है । चार गतियों से युक्त हैं, उसमें भी विचित्र प्रकार की चौरासी लाख जीवयोनि है। उन चौरासी के उत्पत्ति चक्र में जीव अनन्त-अनन्त बार जन्म-मरण कर चुका है । संसार का कोई प्रदेश, पुद्गल, परमाणु ऐसा नहीं जहां जीव ने अनन्त बार जन्म-मरण धारण न किया हो । जीवविचार में बताया है :-

एवं अणोरपारे संसारे, सायरंमि भीमंमि ।
पत्तो अणंतखुत्तो, जीवेहिं अपत्तधम्मेहिं ॥

इस प्रकार जिसका आदिभाव तथा अन्तभाव अर्थात् जिसकी शुरुआत और समाप्ति नहीं वैसे। अनेक दुःखों से भयंकर, संसार-समुद्र में भटकते हुये जीव को जब तक सम्यक् धर्म की, सम्यक्त्वधर्म की प्राप्ति नहीं हुई, आराधना नहीं की तब तक अनन्त बार जन्म-मरण करना पड़ता है और करेगा कारण कि जीवों में वैसा योग्यतारूप स्वभाव रहा हुआ है, इसी स्वभाव की आवश्यकता को ग्रंथकार नीचे के श्लोक में कहते हैं ॥७४॥

सर्वेषामेव सत्त्वानां, तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।
नान्यथा संविदेतेषां, सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥७५॥

अर्थ : सभी प्राणीयों का अनन्त पुद्गलपरावर्त करने का स्वभाव आवश्यक है अन्यथा

(स्वभावरूप योग्यता को अगर न स्वीकारें, तो) प्राणियों को इनका (अनन्त पुद्गलपरावर्तों का) ज्ञान नहीं हो सकेगा। सूक्ष्मबुद्धि से यह विचारो ! ॥ ७५ ॥

विवेचन : प्राणीमात्र का पुद्गलपरावर्त भी उसके स्वभाव के कारण ही अनन्त हैं, अगर आत्मा के उस स्वभावरूप योग्यता को न माने तो प्राणियों को इन पुद्गलपरावर्तों का ज्ञान नहीं हो सकेगा। क्योंकि कहा भी है :

जीवस्य ज्ञस्वभावत्वात्, मतिज्ञानं हि शाश्वतम् ।
संसारे भ्रमतोऽनादौ, पतितं न कदापि यत् ॥

ज्ञान जीव का स्वभाव है, क्योंकि मतिज्ञान (अतिअल्प भी) शाश्वत है। अनादि काल से संसार में भटकते हुए भी ज्ञान का बिल्कुल अभाव कदापि नहीं होता। अव्यक्त, अत्यन्त सूक्ष्मरूप में भी ज्ञान अवश्य रहता है; उसका सर्वथा नाश कभी भी नहीं होता कहा भी है :-

अक्षरस्य अनन्ततमो भागो नित्योद्घाटित एव हि ।

अक्षररूप जो परमशुद्ध केवलज्ञान, उसका अनन्तवां भाग सर्व संसारी जीवों के लिये नित्य खुला रहता है। निगोदरूप अत्यन्त सूक्ष्म शरीरधारी जीवमात्र को भी अपने सुख-दुःख जानने का सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान उनके अन्दर होता ही है, अगर सूक्ष्म अव्यक्त ज्ञान उन्हें न हो तो वह चेतन नहीं रहेगा, जड़ हो जायेगा, लेकिन ऐसा कभी नहीं होता। सूक्ष्म बुद्धि से गम्भीरता पूर्वक विवेक से विचार करें ॥७५॥

यादृच्छिकं न यत्कार्यं, कदाचिज्जायते क्वचित् ।
सत्त्वपुद्गलयोगश्च, तथा कार्यमिति स्थितम् ॥७६॥

अर्थ : जगत में कोई भी कार्य, कहीं भी-कभी, अचानक नहीं होता; जीव और पुद्गल का योग भी वैसा ही कार्य है; यह सिद्ध है ॥७६॥

विवेचन : कोई भी कार्य, किसी भी काल में या क्षेत्र में, कभी भी अचानक नहीं होता। जगत में हमेशा प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण होता है। कारण बिना कार्य कभी नहीं होता, यह स्पष्ट है, प्रसिद्ध है, सर्वमान्य है। यहाँ सत्त्व याने जीवात्मा और पुद्गल का जो संयोग-सम्बन्ध है वह भी वैसा ही कार्य है। जैसे धुआँ निकलता है वह कार्य, अकेली अग्नि का भी नहीं है और न ही अकेली लकड़ियों का है, परन्तु जब गीली लकड़ियों में अग्नि का संयोग-सम्बन्ध होता है तभी धुंआ रूप कार्य होता है। वैसे ही आत्मा को मनुष्यत्व, राज्यत्व, श्रेष्ठित्व आदि प्राप्त होते हैं, वे भी जीव द्वारा पूर्वभव में किये गये शुभाशुभ विचारों के साथ जब कर्मदल के पुद्गलों का ग्रहण होता है, तभी उसके विपाक रूप में-परिणाम स्वरूप, आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव

होता है; परन्तु कारण बिना अकस्मात् अनुभव नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध होता है कि जो भी कार्य होते हैं वे निश्चय ही जीव को और पुद्गल के स्वभाव के अनुसार दोनों के संयोग-सम्बन्ध से होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि जीव को संसार में भ्रमण करने का कारण अनादि कालीन है और जीव तथा कर्म पुद्गल का संयोग सम्बन्ध रूपी स्वभाव, जीव को अनन्तपुद्गलपरावर्त काल पर्यन्त संसार में रखता है। भवभ्रमणरूप कार्य में स्वभाव की योग्यता ही मुख्य कारण है, उसके कारण ही जीव भटकता है ॥७६॥

चित्रस्यास्य तथाभावे, तत्स्वाभाव्यादृते परः ।
न कश्चिद्धेतुरेवं च, तदेव हि तथेष्यताम् ॥७७॥

अर्थ : इस चित्र प्राणी के (अनन्त पुद्गलपरावर्त रूप कार्य के) तथा भाव में (वैसे होने में) उसके स्वभाव (की योग्यता) के बिना दूसरा कोई कारण नहीं, इसलिये ऐसा ही अंगीकार करें ॥७७॥

विवेचन : अनन्त पुद्गलपरावर्तन = अनन्त संसार में भटकते हुये प्राणी को विचित्र प्रकार की आकृतियों और गतियों के विचित्र अनुभव, कर्मपुद्गल एवं उसके अपने स्वभाव की योग्यता के कारण होते हैं; इसमें दूसरा कोई कारण नहीं। परिणाम पाना उसका स्वभाव है। जीव अपने अच्छे परिणामों-अध्यवसायों से अच्छी गति में जाता है और बुरे परिणामों - अध्यवसायों से खराब गति होती है। अच्छा या बुरा बनना उसके अपने स्वभाव पर निर्भर है। स्वभाव की इस योग्यता को स्वीकारें, क्योंकि जो जीव जिस रूप में होता है, उसमें उसके स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है ॥७७॥

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम् ।
तदन्यवादाभावश्चेन्न तदन्याऽनपोहनात् ॥७८॥

अर्थ : यदि स्वभाववाद में आपत्ति कहो, तो उसमें क्या दोष है ? अगर (स्वभाववाद की स्वीकृति से) अन्यवादों का अभाव कहो, तो वह भी नहीं है, क्योंकि इससे अन्यवादों का निषेध नहीं है ॥७८॥

विवेचन : उपरोक्त श्लोक में ग्रंथकार ने स्वभाव की योग्यता को अंगीकार किया है। इस पर अन्य कोई शंका उठाता है कि अगर सभी में स्वभाव कारण है तो स्वभाववाद ही स्वीकारना पड़ेगा तो उसे कहते हैं कि स्वभाववाद स्वीकार करने में दोष क्या है ? हानि-नुकसान क्या है ? कोई दोष नहीं। अगर आप ऐसा कहें कि स्वभाववाद स्वीकार करने से अन्य वाद - काल, नियति, पुरुष-प्रयत्न आदि का अभाव हो जाता है तो उनका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि -

हम स्वभाव स्वीकार करने से अन्य - काल, नियति पुरुषार्थ आदि का निषेध नहीं करते। इन सभी निमित्त कारणों को हम मानते हैं; किसी का निषेध नहीं करते ॥७८॥

कालादिसचिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः ।
सर्वत्र व्यापकत्वेन, न च युक्त्या न युज्यते ॥७९॥

अर्थ : कालादि सहित स्वभाव महात्माओं को इष्ट है। सर्वत्र व्यापक होने से युक्ति-हीन भी नहीं है ॥७९॥

विवेचन : काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और प्रारब्ध इन पांचों के सहयोग से कार्य सिद्ध होता है; ऐसा श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री मल्लवादी जिनचंद्रगणि क्षमाश्रमण देवर्द्धिगणि क्षमाक्षमण आदि सभी जैन महात्माओं ने स्वीकार किया है। यह तथ्य केवल उनको इष्ट है, इसलिये माना है ऐसी बात भी नहीं, शास्त्रों में - सन्मतितर्क आदि ग्रंथों में यह तथ्य तर्क, हेतु तथा युक्तियों से सिद्ध करके भी बताया है, इसलिये यह तथ्य युक्ति से असिद्ध है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि काल आदि पांचों निमित्त कारणों का समवाय समस्त उपादान कारणों से होने वाले कार्यों में सर्वथा व्यापक ही हैं ॥७९॥

तथात्मपरिणामात् तु, कर्मबंधस्ततोऽपि च ।
तथा दुःखादि कालेन, तत्स्वभावादृते कथम् ॥८०॥

अर्थ : तथाप्रकार के आत्मा के परिणामों से कर्मों का बन्धन होता है और उसके बाद कालानुसार सुख-दुःखादि होता है; यह सब स्वभाव बिना कैसे घटित हो ? ॥८०॥

विवेचन : अकेले काल को संसार का मुख्य कारण नहीं मान सकते, जैसे वर्षाऋतु, शीतऋतु और ग्रीष्मऋतु यथासमय क्रमपूर्वक आती है। इसी प्रकार जीव अपने आत्मपरिणामों, अध्यवसायों, भावना द्वारा जैसा कर्मों का बन्ध करता है, उसका विपाकोदय योग्यकाल में सुख-दुःख का अनुभव होता है, अगर जीव का तथा प्रकार का कर्मबन्ध रूप स्वभाव ही न होगा तो विपाकोदय के समय सुख-दुःख का अनुभव कैसे होगा ? स्वभाव तो मुख्य उपादान कारण है। मुख्य कारण बिना निमित्त कारण क्या कर सकते हैं। घर निर्माण में उपादान मिट्टी ही नहीं होगी तो अन्य निमित्त कारण क्या करेगें। इसलिये सभी कारण तभी उपयोगी है, जब स्वभाव को माने। स्वभाव सहित कालादि उपयोगी है। जैसे बीज होता है, उसे बोते हैं और समय परिपक्व होने पर फल की प्राप्ति होती है, परन्तु बीज ही न हो तो फल कहां से होगा? इसी प्रकार आत्मा का जो परिणाम-स्वभाव है वह बीजरूप हैं, अगर उसे ही नहीं माने तो कर्मों का बन्ध और परिपाक काल में उसका भोग कैसे घट सकता है ? ॥८०॥

वृथा कालादिवादश्चेन्न तद्बीजस्य भावतः ।
अकिंचित्करमेतच्चेन्न स्वभावोपयोगतः ॥८१॥

अर्थ : यदि कालादिवाद को वृथा कहो, तो उचित नहीं है । उसका (कालादि का) बीज (शक्ति) (स्वभाव में) होता है, अगर उसे अकिञ्चित्कर-निरुपयोगी कहो; तो स्वभावोपयोगी होने से वह भी उचित नहीं ॥८१॥

विवेचन : यदि कोई कहे कि वस्तु का स्वभाव ही वस्तु को बनाता है, उसमें काल, नियति, पुरुषार्थ और कर्म आदि को मानने की क्या जरूरत है ? तो समाधान करते हैं कि अकेला स्वभाव कार्यसाधक नहीं हो सकता, क्योंकि स्वभाव में काल, नियति, पुरुषार्थ, कर्म बीजरूप में रहे हुये हैं, उनकी शक्ति रही हुई है । अगर कोई कहे कि वह शक्ति अकिञ्चित्कर-निरुपयोगी है, कुछ भी करती नहीं तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि कालादि सभी स्वभाव के उपयोगी हैं, उपकारक हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का स्वभाव, वस्तु-निर्माण में उपादान-मुख्य कारण हैं और दूसरे कालादि निमित्त कारण और सहकारी कारण हैं । सभी के संयोग से ही कार्य की निष्पत्ति होती है। अकेला उपादान कुछ नहीं कर सकता । उपादान को कार्यरूप में परिणत होने के लिये निमित्त और सहकारी सभी कारणों की जरूरत होती है । इनके बिना वह कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता ॥८१॥

सामग्रयाः कार्यहेतुत्वं, तदन्याभावतोऽपि हि ।
तदभावादिति ज्ञेयं, कालादीनां नियोगतः ॥८२॥

अर्थ : (सर्व कारणों की) सामग्री का सहकार (कार्यसाधक-संयोगमात्र) कार्य में हेतु है, क्योंकि स्वभाव से अन्य (कालादि का) अभाव होने से कार्य का अभाव होता है । इसलिये कालादि का संयोग कार्य में हेतु है, ऐसा निश्चित जानना ॥८२॥

जैसे घट निर्माण में मिट्टी उपादान कारण होने पर भी कुम्भार, उसका पुरुषार्थ, चक्र, दण्ड, पानी, काल और आकाश-स्थान आदि की जरूरत होती है । इन निमित्त और सहकारी कारणों की सामग्री के सहयोग से ही घट तैयार होता है । यदि निमित्त और सहकारी कारणों का सहयोग न मिले तो अकेली मिट्टी घट तैयार नहीं कर सकती । इसलिये कालादि का संयोग भी आवश्यक है, उपकारक है । इसी प्रकार संसार में आत्मा और पुद्गल आदि अपने स्वभाव से परिणाम-पर्याय करने में समर्थ होने पर भी काल, नियति आदि निमित्त, सहकारी कारणों से वह यथायोग्य परिणाम को प्राप्त करते है । इसी प्रकार जीव का मुक्तिरूप कार्य भी स्वभाव, काल, नियति, कर्म पुरुषार्थ के सहयोग से ही होता है, अकेले स्वभाव से कार्य सिद्ध नहीं होता । यद्यपि स्वभाव आत्मा के साथ नित्य रहा हुआ है तथापि जब तक सर्व सामग्री नहीं मिलती तब तक आत्मा मुक्त नहीं हो सकती ॥८२॥

**एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम् ।
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं लेशतस्तूक्तमेव हि ॥८३॥**

अर्थ : यह हकीकत अन्यत्र खूब विस्तारपूर्वक कही है। इसलिये यहाँ तो संक्षेप से बताया है। अधिक विस्तार नहीं किया गया है ॥८३॥

विवेचन : स्वभाव, काल, नियति, पुरुषप्रयत्न कर्म आदि मिलकर ही कार्य सिद्ध करते हैं अकेला कुछ नहीं कर सकता। इस हकीकत का विशद वर्णन, युक्तिपूर्वक, दृष्टान्त देकर '**शास्त्रवार्ता समुच्चय**', '**धर्मसंग्रहणी**' आदि ग्रंथों में विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है। जिनको इस विषय की विशद् जानकारी चाहिये, वे इन ग्रंथों को पढ़कर प्राप्त कर सकते हैं। यहां तो इस ग्रंथ में जितना उपयोगी था उसे ही संक्षिप्त करके बताया है। अधिक-विशेष विस्तार नहीं किया है ॥८३॥

**कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना ।
नाध्यात्मयोगभेदत्वादावर्तेष्वपरेष्वपि ॥८४॥**

अर्थ : यहाँ इतना ही उपयुक्त है; अब हम प्रकृतमूल विषय पर आते हैं। अध्यात्म-जो योग का एक भेद है, वह चरम पुद्गलपरावर्त जीव के अतिरिक्त अन्य को प्राप्त नहीं होता ॥८४॥

विवेचन : कालादि का विशेष विवेचन यहाँ अधिक उपयोगी नहीं इसलिये योग का जो मुख्य विषय चल रहा था, अब उसी सम्बन्ध में कहते हैं – कि चरम पुद्गलपरावर्त में ही अध्यात्म की प्राप्ति हो सकती है। इससे अन्य चरम व्यतिरिक्त अनन्त पुद्गलपरावर्त वाले को योग की प्राप्ति नहीं होती ॥८४॥

**तीव्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानलोचनवर्जिताः ।
सद्वर्त्मावतरन्त्येषु, न सत्त्वा गहनान्धवत् ॥८५॥**

अर्थ : चरम पुद्गलपरावर्त से अन्य परावर्तों में तीव्र पाप से अभिभूत-घिरे हुये होने से ज्ञानचक्षुरहित प्राणी गहन अटवी में (जन्मान्ध) अन्ध व्यक्ति की भाँति सद्मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते हैं ॥८५॥

विवेचन : जैसे कोई जन्मान्ध प्राणी गहन जंगल में मार्ग भूल जाय तो सैकड़ों मुसीबतों को उठाकर भी वह इष्ट मार्ग को नहीं पा सकता, वैसे ही चरम पुद्गलपरावर्त से अन्य अनन्त पुद्गलपरावर्त में भटकता हुआ प्राणी, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमादादि अशुभ योगों की तीव्रता से पापकर्मों में जकड़ा हुआ-घिरा हुआ; ज्ञानरूपी लोचन से रहित अर्थात् योग्य-अयोग्य, कृत्य-अकृत्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, सत्य-असत्य, पेय-अपेय के विवेक से शून्य; सम्यग्ज्ञानरूपी आँखों से रहित

प्राणी; सन्मार्ग, धर्म मार्ग, दया, दान, पुण्य, इन्द्रियनिग्रह, वीतराग की पूजा, सुदेव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा, अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि पांच महाव्रतों का सेवन आदि नहीं कर सकता। क्योंकि चरम पुद्गलपरावर्त से अन्य अनन्त पुद्गलपरावर्तों में भटकने वाले प्राणियों को कृष्णपाक्षिक कहा है। कृष्ण पाक्षिक प्राणियों को ऐसी दृष्टि ही नहीं होती, तो वह सन्मार्ग को कैसे पा सकता है ? ॥८५॥

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।
केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपंक्तिकृतादराः ॥८६॥

अर्थ : भवाभिनन्दी प्राणी प्रायः तीन संज्ञा वाले होने से दुःखी होते हैं। कुछ लोग धर्म कार्य करते हैं तथापि लोकपंक्ति का आदर करने वाले होते हैं ॥८६॥

विवेचन : चरम पुद्गलपरावर्त से अन्य परावर्तों में प्राणी की मानसिक स्थिति कैसी होती है ? यह यहाँ बताई है। भवाभिनन्दी जीव भव संसार में आनन्द मानने वाले होते हैं। प्रायः 'आहार' 'भय' 'परिग्रह' इन तीन संज्ञाओं के गुलाम होते हैं। दुःख का नाश करने वाले विवेक का उनको स्वप्न में भी अभाव होता है इसीलिये वे अत्यन्त दुःखी होते है। वैसे तो शास्त्रों में चार संज्ञाए बताई हैं, परन्तु यहाँ पर ग्रंथकार ने तीन संज्ञाएँ जो व्यक्त हैं; लोगों को दिखाई देती हैं, वेही ली हैं। मैथुन संज्ञा अव्यक्त होती है इसलिये अव्यक्त संज्ञा का यहाँ ग्रहण नहीं किया है। कुछ लोग धर्म कार्य करते हैं लेकिन उनका धर्माचरण शुद्धि मूलक नहीं होता, लोगों को खुश करना ही उनका लक्ष्य होता है। इसलिये उनको लोकपंक्ति (लोकव्यवहार) का आदर करने वाले कहते हैं ॥८६॥

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥८७॥

अर्थ : क्षुद्र, लाभ या लोभ में रति (प्रेम) रखनेवाला, दीन, मत्सरी-ईर्ष्यालु, शठ, अज्ञानी प्रायः भवाभिनन्दी होते हैं। और उनकी क्रिया सच्चे फल को देने वाली नहीं होती ॥८७॥

विवेचन : भवाभिनन्दी का लक्षण टीकाकार ने दिया है :-

"असारोऽपि-एष संसारः सारवानिव लक्ष्यते ।
दधिदुग्धाम्बु ताम्बूलपुण्यपण्याङ्गनादिभिः" ॥

अनेक दुःखों से व्याप्त यह संसार, जो कि असार है, उसे भी भवाभिनन्दी प्राणी सारमय-सारगर्भित मानता है और संसार में जो दही, दूध, घी और अनेक प्रकार के भोजन, पेय पदार्थ, द्राक्ष, मधु, मद्य आदि तथा ताम्बूल, पान, सुपारी, लौंग आदि सुगन्धी द्रव्यों के उपभोग तथा परस्त्री,

वारांगना के नृत्य, संगीत तथा उनके साथ संभोग क्रिया, ये सब पुण्य से मिली है ऐसा मानने वाले जीव संसार में रचे-पचे रहते हैं। संसार में आनन्द मानने वाले होते हैं। संसार में अत्यन्त आसक्ति के कारण उनके भोगों का परिणाम दीर्घसंसार होता है। भवाभिनन्दी की मानसिक स्थिति बहुत गिरी हुई होती है। वे इतनी हलकी वृत्तिवाले होते हैं कि दुःखियों के दुःख को देखकर भी उनका हृदय पिघलता नहीं बिल्कुल दयाविहीन होता हैं। संवेदनशीलता कोसो दूर होती है। लोभी-कञ्जूस भी इतने ही होते हैं। दीन-जिसका मुख देखना भी किसी को अच्छा न लगे ऐसे अदृष्ट कल्याणरूप उपाधि से युक्त होते हैं। ईर्षालु भी इतने ही होते हैं। दूसरे को पैसे-टके, आबरु, प्रतिष्ठा से सुखी देखकर दुःखी होने वाले होते हैं। भयभीत-राजा, चोर, भाई, बन्धु कोई मेरी वस्तु न ले जाय, मेरी वस्तु लूटी न जाय, मुझे मार न दे इस प्रकार हमेशा भयभीत रहने वाले होता है, धूर्त-ठग, दूसरों को ठगने में निष्णात होते हैं। अज्ञानी-मूर्ख होते हैं। अतत्त्वाभिनिवेश-विपरीत वस्तु स्वभाव में कदाग्रह करने वाले होने से जो भी आरम्भ-कार्य करे उसके मूल में अज्ञान होने से निष्फल ही सिद्ध होता है। पारमार्थिक रूप से उनका कोई भी कार्य सफल नहीं होता, क्योंकि ऐसी सम्यक् सुदृष्टि का ही उनको अभाव है ॥८७॥

लोकाराधनहेतोर्या, मलिनेनान्तरात्मना ।
क्रियते सत्क्रिया साऽत्र, लोकपंक्तिरुदाहृता ॥८८॥

अर्थ : लोक पंक्ति का लक्षण बताते हैं :-

लोकरञ्जन हेतु मलिन आशय से जो सत्क्रिया की जाती है; उसे लोकपंक्ति कहते हैं ॥८८॥

विवेचन : आत्मशुद्धि, कर्मनिर्जरा जिसका लक्ष्य नहीं, केवल लोगों को खुश करने के लिये लोगों की दृष्टि में अपने आपको महान् दिखाने के मलिन आशय से, जो सत्कार्य, धर्म, क्रिया आदि की जाती है, उसे लोकपंक्ति या लोक व्यवहार कहा है। ऐसी धर्मक्रियाओं से व्यक्ति कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता। श्री देवचन्द्रजी महाराज ने समकित की सज्झाय में सुन्दर कहा है :-

समकित नवि लह्यु रे, ए तो रूल्यो चतुर्गति मांहे ।
त्रस थावर की करुणा कीनी, जीव न एक विराध्यो,
त्रण काल सामायिक करता शुद्ध उपयोग न साध्यो ॥१॥ सम्०

झूठ बोलवा को व्रत लीनो; चोरी को पण त्यागी ।
व्यवहारादिक महानिपुण भयो, पण अन्तर दृष्टि न जागी ॥२॥ सम्०

उर्ध्वभुजा करी उंधा लटके; भस्म लगा धुम गटके ।
जटाजूट शिर मुंडे झूठो, बिण श्रद्धा भव भटके ॥३॥ सम्०

निजपरनारी त्यागज करके, ब्रह्मचारी व्रत लीधो ।
स्वर्गादिक याको फल पामत्रो, निज कारण नवि सिध्यो ॥४॥ सम्०

बाह्यक्रिया सब त्याग परिग्रह, द्रव्यलिंग धर लीनो ।
देवचन्द्र कहे या विध तो हम, बहुतवार कर लीनो ॥५॥ सम्०

इस छोटी सी सज्झाय में मुनिजी ने गागर में सागर भर दिया है। मुनिजी ने बताया है कि पांच महाव्रतों को हम चाहे कितनी ही सूक्ष्मता से पाल ले, लेकिन अगर हमारी दृष्टि निर्मल नहीं, 'सम्यग्दृष्टि नहीं, सम्यग्श्रद्धा नहीं' तो सब व्यर्थ है। इस प्रकार निर्मल दृष्टि बिना क्रियाएँ तो जीव ने सैकड़ों बार की हैं, लेकिन कोल्हू के बैल की भाँति वह वहीं का वही ही रहता है, कहीं लक्ष्य स्थान पर पहुँच नहीं पाता ॥८८॥

भवाभिनन्दिनो लोकपंक्त्या धर्मक्रियामपि ।
महतो हीनदृष्ट्योच्चैर्दुरन्तां तद्विदो विदुः ॥८९॥

अर्थ : भवाभिनन्दी जीव लोकपंक्ति-लोकरञ्जन से महान् धर्म क्रिया को भी हीन दृष्टि से करते हैं, अतः तत्त्वज्ञ मनीषी इसे दुष्ट परिणाम को लाने वाली क्रिया कहते हैं ॥८९॥

विवेचन : भवाभिनन्दी जीव चाहे कितनी ही ऊँची से ऊँची महान् धर्मक्रिया जैसे दान दे, व्रत पाले, तप करे, प्राणायाम करें, आसन पर स्थिर रहे, उल्टे मस्तक वृक्ष की डाली को पकड़ कर लटके, भस्म लगावे, धुआँ पीये, सूर्य और अग्नि की आतापना ले, पंचाग्नि तप तपे, महान् लोकोत्तर धर्म जिसकी सम्यक् आराधना करने से कल्पवृक्ष, चिन्तामणि, कामधेनु से भी महान् इच्छित फल की प्राप्ति हो, ऐसा लोकोत्तर धर्म - देवपूजा, गुरुभक्ति, जीवदया भी पाले, ब्रह्मचर्य पाले, परिग्रह का त्याग करे; परन्तु इन सभी ऊँची से ऊँची धर्मक्रिया के पीछे लक्ष्य केवल लोकरञ्जन ही हो यानी लोक में यश कीर्ति बढ़े, लोग मुझे महात्मा-महामुनि कहे, मैं सभी लोगों से मान-पूजा प्राप्त करुं, ऐसी केवल लोकेषणा जैसी हीन बुद्धि-वृत्ति ही होती है। अध्यवसाय अशुद्ध होने से नरक, तिर्यञ्च, गति रूप दुष्ट परिणाम ही आता है। इसलिये केवल लोगों को खुश करने के लिये जो धर्मानुष्ठान किया जाता है उसे तत्त्व मनीषी व्याव्य कहते हैं ॥८९॥

यहाँ शंका होती है कि अगर भवाभिनन्दी अच्छे परिणाम वाला और विवेकी हो तो उच्चगति प्राप्त करता है या नहीं ? उसी का उत्तर दिया है :-

धर्मार्थं लोकपंक्तिः स्यात् कल्याणाङ्गं महामतेः ।
तदर्थं तु पुनर्धर्मः, पापायाल्पधियामलम् ॥९०॥

अर्थ : महाबुद्धिशाली को धर्म के लिये लोकपंक्ति कल्याण का अंग-हेतु है, लेकिन लोकपंक्ति निमित्त किया गया धर्म अल्पबुद्धि को, पाप का कारण होता हैं ॥९०॥

विवेचन : ग्रंथकार ने दो बाते कहीं है धर्म क्रिया करते-करते लोकरञ्जन का हो जाना एक अलग बात है, परन्तु लोकरञ्जन के लिये ही धर्म कार्य करना बिल्कुल दूसरी बात है। क्योंकि यहाँ बुद्धिशाली भी सामान्य नहीं वरन् महान् बुद्धिशाली का विशेषण दिया है। महाबुद्धिशाली मनुष्य के पास विवेकबुद्धि होती है। वह धर्मक्रिया, सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र की प्राप्ति के लिये करता है। उसका लक्ष्य शुद्ध है । ऐसी धर्मक्रिया करते हुये कभी लोकरञ्जन भी साथ में हो जाय तो उसे किसी प्रकार की हानि नहीं होती, क्योंकि उसकी क्रिया का लक्ष्य अच्छा है। विवेक बुद्धि उसके पास है इसलिये उसके लिये लोकपंक्ति कल्याण श्रेय का कारण होती है, लेकिन मन्दमति तो लोकरञ्जन के लिये ही धर्म क्रिया करता है। विवेक, बुद्धि और परिणाम की अशुद्धि होने से उस की धर्मक्रिया भी पाप के लिये होती है। ऐसा महापुरुषों ने कहा है ॥९०॥

लोकपंक्तिमतः प्राहुरनाभोगवतो वरम् ।
धर्मक्रियां न महतो, हीनताऽत्र यतस्तथा ॥९१॥

अर्थ : लोकपंक्ति वाले अनाभोगिक प्राणी की धर्मक्रिया (पूर्वोक्त की अपेक्षा से) अच्छी है, क्योंकि उसमें धर्म की हानि नहीं ॥९१॥

विवेचन : लोकपंक्ति-प्रधान प्राणियों में भी तरतमभाव देखा जाता है। उसी की अपेक्षा से ग्रंथकार कहते हैं कि लोकरञ्जनप्रधान धर्मक्रिया करने वाले मिथ्यादृष्टि वालों में भी जो अनाभोगिक-आग्रहरहित, सरल, नम्र प्रकृति वाले होते हैं, उनकी धर्मक्रिया मन्दमति कदाग्रही प्राणियों की धर्मक्रिया से अच्छी होती है, क्योंकि सरल, नम्र और ऋजु व्यक्ति की क्रिया अनर्थ करने वाली नहीं होती। अनाभोगिक का अर्थ टीकाकार ने सम्मूर्छितप्रायःस्वभाव वाला किया है अर्थात् वस्तु स्वभाव को जाने बिना ओघ प्रवाह से जो धर्म क्रिया करता है। उसे कुछ समझ नहीं कि यह धर्मक्रिया क्यों, किस कारण से, किसलिये की जाती है ? परन्तु लोग करते हैं, लोग अच्छा समझते हैं, इसलिये वह भी कर लेता है। परन्तु सरल और नम्र होने से अगर उसे सन्त-पुरुषों का समागम मिल जाय, सन्मार्ग मिल जाय, तो उसके जीवन की दिशा का मोड़ सत्य की तरफ भी हो सकता है। इसलिये ऐसे व्यक्ति की धर्मक्रिया हानिकारक नहीं होती ॥९१॥

तत्त्वेन तु पुनर्नैकाऽप्यत्र धर्मक्रिया मता ।
तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्याल्लोभक्रोधक्रिया यथा ॥९२॥

अर्थ : तात्त्विकरूप से तो यहाँ एक भी धर्मक्रिया मान्य-सम्मत नहीं, क्योंकि लोभ और क्रोध क्रिया की भाँति उनकी प्रवृत्ति विगुण प्रेरित है ॥९२॥

विवेचन : वास्तव में तो यहाँ ऐसी एक भी धर्मक्रिया सम्मत नहीं, क्योंकि जैसे लोभ और क्रोध से प्रेरित क्रिया से आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती वैसे ही अचरम पुद्गलपरावर्त वाले प्राणी की धर्मक्रियाएँ तत्त्व से विरुद्ध होने के कारण और विषय, कषाय, प्रमादादि विगुणों से मलीन आशय मूलक होने से अध्यात्म-आत्मस्वरूप को पाने में असमर्थ होती हैं इसलिये अध्यात्म योगियों ने ऐसी धर्मक्रियाओं को स्वीकार नहीं किया है ॥९२॥

तस्मादचरमावर्तेष्वध्यात्मं नैव युज्यते ।
कायस्थिततरोर्यद्वत् तज्जन्मस्वामरं सुखम् ॥९३॥

अर्थ : अचरमपुद्गलपरावर्त में भटकती आत्मा अध्यात्म भाव को प्राप्त कर सकती नहीं, पर वनस्पतिकाय में उसकी कायस्थिति अनंत पुद्गल परावर्तन काल होती है । वहाँ से निकलकर क्रमशः देव-मनुष्य के सुख प्राप्त करती है, पर सद्धर्म के योग्य आत्मशक्ति प्रकट कर सकती नहीं है ॥९३॥

विवेचन : वनस्पतिकाय में जीव की स्थिति अनन्त उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी प्रमाण होती है, उसमें वह अनन्त रूपों में अनन्त बार जन्म-मरण धारण करता है । उस काय में से निकलते हुये जीव को अनन्त काल व्यतीत हो जाता है। वहाँ उन जन्मों में सुख के हेतुभूत स्वतन्त्र बुद्धि, विवेक, अणुव्रत, महाव्रत का अभाव होता है इसलिये स्वर्ग सम्बन्धी सुख उनके लिये असम्भव बताये है। इसी प्रकार अचरमावर्तों में जीवों को अध्यात्म-आत्मस्वरूप की उपलब्धि असम्भव बताई है । सादी भाषा में जैसे वृक्ष, पेड़, पौधों को स्वर्ग सम्बन्धी सुख असम्भव है वैसे अचरमावर्तों को अध्यात्म असम्भव है ॥९३॥

तैजसानां च जीवानां, भव्यानामपि नो तदा ।
यथा चारित्रमित्येवं, नान्यदा योगसम्भवः ॥९४॥

अर्थ : तेजस्काय जीव, भव्य हों तथापि जैसे उन्हें चारित्र सम्भव नहीं वैसे अन्य आवर्तों में जीवों को योग सम्भव नहीं ॥९४॥

विवेचन : तेजस्काय तथा ऐसी ही स्थिति वाले पृथ्वीकाय, अपकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय तथा स्थावरकाय में रहने वाले जीव, भव्य हों तथापि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना करने में असमर्थ हैं । इसी प्रकार अचरमावर्तों में भटकते प्राणियों को, योग सम्भव नहीं । योग प्राप्ति उनके सामर्थ्य से बाहर हैं ।

जैनों में जीव की भव्य और अभव्य दो स्थितियाँ बताई हैं । भव्य उसे कहते हैं जिसमें

मोक्षप्राप्ति की योग्यता हो और अभव्य वह है जिसमें मोक्ष प्राप्ति की योग्यता न हो। भव्य प्राणियों को भी योग्य काल, क्षेत्र, भाव आदि सभी का योग हो तभी योग-अध्यात्म सम्भव है अन्यथा नहीं ॥९४॥

तृणादीनां च भावानां, योग्यानामपि नो यथा ।
तदा घृतादिभावः स्यात्, तद्वद्योगोऽपि नान्यदा ॥९५॥

अर्थ : तृणादि पदार्थों में (घृत की) योग्यता होने पर भी तृणावस्था में घृतादि नहीं होता; इसी प्रकार जीवों को अचरमावर्तों में, उसी स्थिति में, योग प्राप्त नहीं होता ॥९५॥

विवेचन : गाय आदि पशु तृण-घास आदि खाते हैं और उसका दूध बनता है, फिर दही और दही से क्रमशः घी तैयार होता है। इसलिये घास में घी बनने की योग्यता विद्यमान है, परन्तु योग्यता होने पर भी अगर घास अपनी उसी तृणावस्था में रहे तो घास से सीधे ही कोई भी घी नहीं बना सकता, बन नहीं सकता। उसी प्रकार अचरमावर्तों में जीवों की स्थिति घास जैसी होती है। उनमें भव्यत्व की योग्यता होने पर भी अगर वे उसी ही स्थिति में रहे, चारित्रवान् न बने, पुरुषार्थ न करे, तो योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। योग्यता के साथ-साथ पुरुषार्थ, योग्य क्षेत्र, परिपक्व काल और उच्च भावादि सामग्री का सहयोग अनिवार्य है, तभी अध्यात्मभाव की प्राप्ति हो सकती है ॥९५॥

नवनीतादिकल्पस्तत्तद्भावेऽत्र निबन्धनम् ।
पुद्गलानां परावर्तश्चरमो न्यायसंगतम् ॥९६॥

अर्थ : नवनीतादि की भाँति यहाँ अध्यात्म परिणाम को प्राप्त करने में चरम पुद्गलपरावर्त को हेतु बताना न्याययुक्त है ॥९६॥

विवेचन : जैसे घास में घी की योग्यता विद्यमान है और अनुकूल संयोग प्राप्त होने पर, घास गाय के पेट में दूध रूप में परिणत हो जाता है, फिर दूध क्रमशः दही रूप में और दही अनुकूल संयोग पाकर घृतरूप में बदल जाता है। वास्तव में तृणों में घी के पर्याय को, परिणाम को पाने की योग्यता है। अर्थात् तृण का अन्तिम पर्याय घी और घी का प्रथम पर्याय तृण है, इसी प्रकार जीव में परिणाम प्राप्त करने की योग्यता है, अनुकूल संयोग पाने पर वह अध्यात्म को उपलब्ध कर सकता है। परन्तु अचरमपुद्गलपरावर्त में अनुकूल संयोगमार्गानुसारीत्व गुण - देवसेवा, गुरुमति, योग्यपात्र को दान, सदाचरण, दया, वात्सल्य, प्रीति, भक्ति विवेकादि गुण, जो योग के प्रथम अंग-योग की प्राथमिक भूमिका रूप है; उसे प्राप्त नहीं हो सकता और प्राथमिक भूमिका के बिना अध्यात्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अन्य जीवों को मार्गानुसारीत्व के गुण चरम पुद्गलपरावर्त में ही सम्भव

है इसलिये महापुरुषों ने अध्यात्मप्राप्ति के लिये चरमपुद्गलपरावर्त को हेतु बताया है वह न्याययुक्त है। योग्य ही है ॥९६॥

अत एवेह निर्दिष्टा, पूर्वसेवाऽपि या परैः ।
साऽऽसन्नाऽन्यगता मन्ये, भवाभिष्वङ्गभावतः ॥९७॥

अर्थ : अन्य महर्षियों ने जो पूर्वसेवा निर्दिष्ट की है, संसाराभिमुख होने से, उसे मैं (हरिभद्रसूरि) आसन्न (चरमावर्त के पास) और अन्य (अन्यपरावर्त में) मानता हूँ ॥९७॥

विवेचन : ग्रंथकार का अभिप्राय यह लगता है कि चरमपुद्गलपरावर्त में की गई पूर्वसेवा ही मोक्षाभिमुखी है, उससे अन्य अचरमपुद्गलपरावर्त में की जाने वाली पूर्वसेवा संसाराभिमुखी है इसलिये उन्होंने पतञ्जलि आदि अन्य महर्षियों की पूर्वसेवा को संसाराभिमुखी बताया है, क्योंकि वह चरमावर्त में नहीं है अन्य परावर्तों में है। अर्थात् कपिल एवं पतञ्जलि आदि महर्षियों ने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि आदि जो योग की पूर्वसेवा और योग के अंग बताये हैं, वे भवाभिनन्दी जीवात्माओं को - अचरम पुद्गलकाल में रहने वालों को भी होती है। पतञ्जलि आदि महर्षि ऐसे जीवों को भव परम्परा का नाश करके, मोक्ष के समीप आये हुये मानते हैं, परन्तु सर्वज्ञ शासन में जहाँ सांसारिक भोग-फल की आकांक्षा रखने में आती हो वैसे तप, जप, स्वाध्याय, प्राणायाम अचरमावर्त-अनेक पुद्गल परावर्त में रहने वाले देव, मनुष्य, तिर्यञ्च भव की परम्परा करने वाले भवाभिनन्दी ही है ऐसा मैं (हरिभद्रसूरि) मानता हूँ ॥९७॥

अपुनर्बन्धकादीनां, भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।
नासौ तथाविधा युक्ता, वक्ष्यामो युक्तिमत्र तु ॥९८॥

अर्थ : संसार समुद्र में भ्रमण करने वाले अपुनर्बन्धकादि (सम्यक्दृष्टि) आत्माओं को तथा-प्रकार की पूर्वसेवा इष्ट नहीं। इस विषय में युक्ति आगे कहेंगे ॥९८॥

अपुनर्बन्धक का अर्थ टीकाकार ने सम्यक्दृष्टि किया है। संसार सागर में भ्रमण करने वाले सम्यक्दृष्टि आदि प्राणियों को तथाप्रकार की अर्थात् भोगाभिमुख, संसाराभिमुख पूर्वसेवा इष्ट नहीं है। क्यों ? किसलिये ? इष्ट नहीं है। उसे आगे के श्लोकों में युक्ति पूर्वक समझायेंगे ॥९८॥

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या, युज्यते विमलं मनः ।
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन, यदमीषां महात्मनाम् ॥९९॥

अर्थ : क्योंकि इन (अपुनर्बन्धक-सम्यक्दृष्टि) महात्माओं का मन मोक्षमार्ग परायण होता है और उत्तरोत्तर शुद्ध सम्यकत्वभाव आसन्न (समीप) होने से उनका मन मलरहित होता है, **यह** युक्ति सिद्ध बात है ॥९९॥

विवेचन : मुमुक्षु आत्माओं को ही अपुर्नबन्धक कहा है, क्योंकि अत्यन्त तीव्र विपाक के कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमादादि मलों को उत्तरोत्तर शुद्ध सम्यक्त्व के द्वारा दूर करके; सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की सेवा करने से, सत्य ज्ञान और दर्शन से युक्त होकर, अप्रमत्तभाव से चारित्र पालने से उसकी आत्मा निर्मल अन्तःकरण वाली हो जाती है । और उत्तरोत्तर शुद्ध ऐसी सम्यक्दृष्टि का सम्बल-सहारा उसके पास होता है इसीलिये क्रमशः गुणस्थानक की श्रेणी में आगे बढ़ते-बढ़ते कर्ममल का क्षय करते हुये, भववृद्धि करने वाले कर्म के बीजों का नाश करते हैं और पुनः संसार में आना पड़े ऐसे कर्मों को बांधते भी नहीं है, अतः संसार की पुनरावृत्ति भी उनको नहीं होती। उनका मन हमेशा मोक्षमार्ग परायण होता है इसलिये योगाभिमुख, संसाराभिमुख-पूर्वसेवा ऐसे महापुरुषों को इष्ट नहीं । ऐसे अपुनर्बन्धक महात्मा ही उत्तम आत्म-स्वरूप को प्रकट कर सकते हैं, क्योंकि भवाभिष्वंग याने देवादि भव के भोगों को भी वे हेय समझते हैं अतः उन्हें वह पूर्वसेवा इष्ट है, जो मोक्षाभिमुखी हो और आत्मा को निर्मल बनाये । परन्तु अन्य जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अशुभ योगों में रहने वाले जीव है उनको यह कैसे घटित हो सकती है ? ॥९९॥

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः ।
संगीतमुक्तिभेदेन, यद् गौपेन्द्रमिदं वचः ॥१००॥

अर्थ : योगमार्ग में किया है श्रम जिन्होंने, ऐसे अन्य (योगवेत्ताओंने) भी उक्तिभेद से वही कहा है । उसमें गोपेन्द्र (योगीराज) का यह वचन है ॥१००॥

विवेचन : हमारे पूज्य आप्त पुरुषों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिये जो योगमार्ग विस्तार पूर्वक बताया है, कि चरम-अन्तिम आवर्त में जीव शुद्ध विमल मन वाला होता है, इसलिये वही योग-अध्यात्म के स्वरूप को श्रद्धापूर्वक साध सकता है। योगमार्ग में यानी योग के सम्बन्ध में जिन्होंने खूब परिश्रम करके शास्त्राभ्यास किया है, ऐसे अन्य योगवेत्ताओं ने भी उक्तिभेद से वही बात कही है । केवल भाषाभेद से हमें अलग मालुम होता है वस्तुतः बात वही है जैसे भगवान् श्रीगोपेन्द्रयोगीराज ने यह वचन नीचे के श्लोक में बताया हैं :-

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।
न पुंसस्तत्त्वमार्गेऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥१०१॥

अर्थ : प्रकृति का अधिकार (जोर) जब तक पुरुष से सर्वथा निवृत्त नहीं होता; उसकी तत्त्वमार्ग में जिज्ञासा भी नहीं होती ॥१०१॥

विवेचन : श्री गोपेन्द्र योगीराज बताते हैं कि सांख्य मतावलम्बी भी ऐसा मानते है कि

सत्व, राजस और तामस रूप त्रिगुणात्मक (प्रधान नामक) प्रकृति के सम्बन्ध से ही पुरुष अपने आत्म स्वरूप को भूल कर, 'मैं' और 'मेरे' में घिरा हुआ, संसार में विविध योनियों में, अवाच्य दु:खों को भोगता है। जब तक प्रकृति का जोर रहता है, पुरुष-जीव अपना भान भूल जाता है संसार में ही रचा-पचा रहता है। इसीलिये कहा है कि जब तक प्रकृति का जोर सर्वथा समाप्त नहीं होता पुरुष को इस तत्त्वमार्ग-योगमार्ग को जानने की इच्छा भी नहीं होती, तो फिर उसके अभ्यास की और उसकी प्राप्ति की तो बात ही क्या है। अन्य योगवेत्ता जिसे प्रकृति कहते हैं। जैन उसे ही मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टि का सर्वथा अभाव चरमावर्त में होता है। कोई प्रकृति कहे, माया या कर्मों का जोर कहे सब एक हैं जब तक उस का जीव पर जोर होता है, जीव को मोक्ष मार्ग की तरफ रुचि ही नहीं होती। अन्त: करण की निर्मलता सभी को मान्य है ॥१०१॥

क्षेत्ररोगाभिभूतस्य, यथाऽत्यन्तं विपर्ययः ।
तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्तनियोगतः ॥१०२॥

अर्थ : क्षेत्ररोग से पीड़ित व्यक्ति को जैसे मतिभ्रम हो जाता है वैसी ही स्थिति प्रकृति की सत्ता में उलझे हुये व्यक्ति की जानें ॥१०२॥

विवेचन : योगी गोपेन्द्र के मतानुसार मनुष्य के उपर जब तामसिक और राजसिक प्रकृति के विकारों का जोर होता हैं, तब मनुष्य का ज्ञान नष्टप्राय: हो जाता है, जैसे किसी क्षेत्ररोग से पीड़ित व्यक्ति को मतिभ्रम हो जाने से रोग का यथार्थ सत्य हेतु समझ में नहीं आता और अनेक प्रकार के वहमों से सत्य से भ्रष्ट हो कर दु:खी होता है।

अथवा

जैसे किसी मनुष्य को किसी गांव विशेष में निवास करने के पश्चात् शरीर में कोई कोढ़ आदि रोग हो जाता है। तब अज्ञान दशा वाला जीव वहाँ खराब हवा है, मेरा इस गाँव के साथ कोई लेना-देना नहीं, इसीलिये मुझे अमुक रोग हुआ है, ऐसा मानता हुआ मतिभ्रम में पड़ा है, परन्तु कर्मदोष अथवा आहार की अशुद्धि का विचार ही नहीं करता इसी प्रकार जिस व्यक्ति पर प्रकृति के विकारों की सत्ता कायम है ऐसे प्रकृति-विकारों में दबे हुये, उनमें उलझे हुये व्यक्तियों का ज्ञान नष्ट प्राय: होता है, क्योंकि उनके ज्ञान पर अत्यन्त कठिन आवरणों की काली घटाएँ छायी हुई होती है। इसलिये तत्त्वज्ञान को जानने की भी इच्छा पैदा नहीं होती।

'तदावर्तनियोगत:' का अर्थ टीकाकार ने "अनिवृत्त अधिकार वाली प्रकृति के व्यापार से" ऐसा लिया है अचरमपुद्गलपरावर्त नहीं ॥१०२॥

जिज्ञासायामपि ह्यत्र, कश्चित् सर्गो निवर्तते ।
नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥१०३॥

अर्थ : योग के विषय को जानने की इच्छा होने पर भी अनिर्धारित कितने ही जन्म बिताने पड़ते हैं, क्योंकि एकान्तरूप से जब तक पापक्षीण न हो जाय तब तक कुशलबुद्धि-मोक्षानुगामिनी बुद्धि प्राप्त नहीं होती ॥१०३॥

योग अध्यात्म को जानने की इच्छा होने पर भी, तामसिक और राजसिक वृत्तियों के पटल इतने प्रगाढ–जबरदस्त होते हैं कि, जब तक उनकी उग्रता, भयंकरता, प्रगाढ़ता को दूर न किया जाय तब तक कुशलबुद्धि-मोक्षमार्गपरायण बुद्धि प्राप्त नहीं होती। प्रकृतिजन्य उस गाढ़ आवरण को दूर करने के लिये टीकाकार ने कहा है कि अनिर्धारित-अनिश्चित-जिसकी संख्या निश्चित नहीं ऐसे, असंख्य जन्म-मरण धारण करने पड़ते हैं, क्योंकि पापमय भयंकर प्रवृत्तियों को सर्वथा क्षीण करने में उसे लम्बा काल व्यतीत हो जाता है। उस पापी प्रकृति पर विजय पाने के लिये जन्मोजन्म की साधना चाहिये। क्योंकि मैल जितना अधिक हो, उसे साफ करने में समय भी अधिक लगता है। इसलिये कहा है जिज्ञासा होना कठिन है और जिज्ञासा प्राप्त होने के पश्चात् ही अध्यात्म की उपलब्धि होती है। श्री गोपेन्द्रजी का मत और हमारे आप्त पुरुषों ने जो अध्यात्म की दुलर्भता बताई है, समान ही हैं, केवल उक्ति भेद हैं ॥१०३॥

ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः ।
मन्त्राद्यपि सदा चारु, सर्वावस्थाहितं मतम् ॥१०४॥

अर्थ : मंत्रादि सर्व अवस्था में सदैव चारु-सुन्दर स्वभावों वाले और हितावह होते हैं; इसी प्रकार कुशलबुद्धि उसके प्राप्तिकाल में और भविष्य में तो विशेष कल्याणकारक सिद्ध होती है ॥१०४॥

विवेचन : जैसे मणि, मंत्र आदि सर्व काल, सर्व अवस्था में हितकारक होते हैं। ज्यों-ज्यों चिन्तामणिरत्न और मंत्र आदि की आराधना, श्रद्धा-भक्ति से पूर्ण होकर, विधिपूर्वक करते हैं तो विशेष लाभदायक-हितकारक सिद्ध होती है। इसी प्रकार कुशलबुद्धि-मोक्षमार्गपरायणबुद्धि, उसकी प्राप्ति काल में प्राथमिक प्रथम अवस्था रूप में तो कल्याण कारक श्रेयमार्ग की तरफ ले जानेवाली होती ही है, परन्तु भविष्य में उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता हैं। परिणाम स्वरूप सम्यक्-दर्शन, ज्ञान और चारित्र, की आराधना अपनी चरम सीमा में पहुँच जाती हैं, और कर्ममल सर्वथा क्षीण होने पर आत्मा अपने सहजस्वभाव-आत्मस्वरूप रूपी उत्तम फल को प्राप्त करती है। तात्पर्य यह है कि कुशलबुद्धि प्रथम अवस्था में तो कल्याणकारी है ही; भविष्य में उसका उत्तरोत्तर विकास होने से विशेषकल्याण-मोक्षसुख को देने वाली भी होती है ॥१०४॥

इस प्रकार गोपेन्द्र आदि अन्य विद्वानों के मत को बताकर अब आगे वस्तु स्थिति को कहते हैं :-

उभयोस्तत्स्वभावत्वात् तदावर्तनियोगत: ।
युज्यते सर्वमेवैतन्नान्यथेति मनीषिण: ॥१०५॥

अर्थ : उभय - पुरुष और प्रकृति दोनों का-तथाप्रकार का स्वभावादि सर्व चरम पुद्गलपरावर्त के सामर्थ्य से ही घटता है अन्यथा नहीं, ऐसा मनीषियों का कहना है ॥१०५॥

विवेचन : कुशलबुद्धि प्राप्त करना पुरुष का स्वभाव है और विविध परावर्तों में संसार का विस्तार करना प्रकृति का स्वभाव है । जब तक प्रकृति का अधिकार-सत्ता पुरुष से अलग नहीं हो जाता तब तक पुरुष को मोक्षानुगामिनी बुद्धि प्राप्त नहीं होती, और कुशल बुद्धि की प्राप्ति चरमपुद्गलपरावर्त में ही सम्भव है । चरम से अन्य पुद्गलपरावर्तों में सम्भव नहीं, इसलिये सभी मनीषियों का ऐसा कहना है ॥१०५॥

अथवा

अर्थ : पुरुष और प्रकृति दोनों के अपने-अपने स्वभाव के कारण जीव संसार में परावर्त पाता है और अपने भिन्नत्व स्वभाव को प्रकट करके एक दूसरे से अलग भी हो जाते हैं यह बात अनेकान्तदृष्टि से विचारने पर घटती है, परन्तु एकान्तदृष्टि से बुद्धिमानों को घटती नहीं ।

विवेचन : पुरुष का अर्थ है आत्मा और प्रकृति का अर्थ है कर्मदल, इन दोनों का संयोग अनादि काल का है, परन्तु स्वभाव भिन्न-भिन्न है । एक चैतन्य स्वभाव वाला है दूसरा प्रकृतिरूप-कर्मदलरूप जड़ स्वभाव वाला है । उन दोनों का जो अनादि कालीन संयोग है, वह आत्मा की उस प्रकार की योग्यता के कारण से है । उसी के कारण जीव भिन्न-भिन्न आवर्तों में घूमता है । पूर्व में जिसका विवेचन कर चुके है श्रीकपिलदेव के सांख्यमत में वह सब प्रकृति से होता है, उनके मतानुसार जब तक प्रकृति अपने अधिकार से निवृत्त नहीं होती तब तक संसार में आवर्त अर्थात् परिभ्रमण चालू रहता है ऐसा जो कहा है यथार्थ घटित होता है, क्योंकि प्रकृति की निवृत्ति और पुरुष की कुशलबुद्धि की प्रवृत्ति चरमपुद्गलपरावर्त में ही प्रकट होती है । उसके बिना अध्यात्म की उपलब्धि नहीं होती ऐसा महामनीषियों ने बताया है ॥१०५॥

अत्राप्येतद् विचित्राया:, प्रकृतेर्युज्यते परम् ।
इत्थमावर्तभेदेन, यदि सम्यग्निरूप्यते ॥१०६॥

अर्थ : यहाँ (पुरुष और प्रकृति के स्वभाव के सम्बन्ध में) यदि सम्यक् विचार करें तो प्रकृति की विचित्रता केवल उक्त प्रकार के आवर्तभेद से घटती है ॥१०६॥

विवेचन : पुरुष और प्रकृति का तथाप्रकार का स्वभाव प्रत्येक जीवात्मा में भिन्न-भिन्न

प्रकार का दिखाई देता है। इसलिये प्रकृति को विचित्र स्वभाववाली-नानास्वरूपवाली मानना ही उपयुक्त है, अगर प्रकृति को नानास्वरूप वाली न माने, एक ही स्वरूप वाली माने, तो एक आत्मा से प्रकृति जब अलग पड़े, तो एक आत्मा के साथ सभी जीवात्मा परब्रह्मरूप हो जाय, मुक्त हो जाय। एकजीव के मूक्त होते ही सारा संसार ही खाली हो जाय, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता। इसलिये प्रकृति का यह नानास्वरूप केवल आवर्त की भिन्नता से घटता है। जिस आत्मा पर प्रकृति का अधिकार-सत्ताजोर निवृत्त हुआ हो, वह आत्मा चरमपुद्गल परावर्त में आता है अर्थात् जब एक से ज्यादा पुद्गलपरावर्त में भ्रमण करने का नहीं होता तब वह आत्मा अध्यात्मयोग की प्राप्ति कर सकता है; तभी वह योग का अधिकारी होता है। परन्तु जिसको अभी चरम से अन्य पुद्गलपरावर्तों में भटकने का होता है उसे इस योग की प्राप्ति नहीं होती इस प्रकार यह सब प्रकृति की विचित्रता आवर्त की भिन्नता से ही घटती है, सम्यक् विचार पूर्वक यह बात कही हैं ॥१०६॥

अन्यथैकस्वभावत्वादधिकारनिवृत्तितः ।
एकस्य सर्वतद्भावे, बलादापद्यते सदा ॥१०७॥

अर्थ : अन्यथा एक स्वभाव होने से एक को अधिकार निवृत्ति होने पर सर्वदा सभी को वैसा होने का प्रसंग बलात् आ पड़ता है ॥१०७॥

विवेचन : अगर प्रकृति को विचित्र स्वभावी नानास्वरूपवाली न माने, एक स्वरूपवाली ही माने तो दोष यह आता है कि एक व्यक्ति के उपर से प्रकृति की सत्ता निवृत्त होने पर संसार के सभी प्राणियों पर से पुद्गल अधिकार निवृत्ति का प्रसंग आ जाता है। परन्तु संसार में ऐसा अनुभव में नहीं आता। दूसरी ओर अगर एक व्यक्ति पर से अधिकार निवृत्त होने पर, सभी पर से अधिकार निवृत्त न हो तो उसका एक स्वभाव कैसे घटित हो, सिद्ध हो ? ॥१०७॥

तुल्य एव तथा सर्गः, सर्वेषां संप्रसज्यते ।
ब्रह्मादिस्तंबपर्यन्त एवं मुक्तिः ससाधना ॥१०८॥

अर्थ : तथा ब्रह्मादि से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणियों की सृष्टि और ससाधन मुक्ति भी इस प्रकार तुल्य हो जाय ॥१०८॥

विवेचन : सांख्यशास्त्र में बताया है :-

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥

सात्त्विक प्रकृतिवाले विष्णु, ब्रह्मा, महेश आदि देव ऊपर स्वर्ग में रहते हैं, तमोगुण प्रधान नरकवासी पाताल में रहते हैं और रजोगुण प्रधान प्रकृतिवाले प्राणी मध्यलोक-मनुष्य लोक में रहते

हैं। इस प्रकार ब्रह्म से लेकर जड़ स्तम्ब पर्यन्त अखिल ब्रह्माण्ड में उसी प्रकृति की सत्ता है। ऐसी सर्वव्यापी उस प्रकृति को हम अगर एक ही स्वभाव वाली माने, तो स्वर्ग, नरक और मनुष्यलोक का सृजन एक जैसा ही होना चाहिये। क्योंकि एक स्वभाव वाली प्रकृति के सभी कार्य तुल्यपरिणाम वाले होने चाहिये और प्रकृति का अधिकार निवृत्त होने पर यम, नियम, आसनादि अनुष्ठानों को करके मुक्ति भी सभी की एक साथ होनी चाहिये, परन्तु ऐसा अनुभव में आता नहीं है। अतः प्रकृति को नानास्वरूपवाली ही मानना चाहिये और वह आवर्तभेद ही युक्तियुक्त घटित हो जाता है ॥१०८॥

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम् ।
सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ॥१०९॥

अर्थ : तन्त्रज्ञों ने यहाँ (अध्यात्म की प्राप्ति के लिये) गुरुदेवादि पूजन, सदाचार, तप और मुक्ति में अद्वेष वृत्ति को पूर्वसेवा कहा है ॥१०९॥

विवेचन : आत्मा, कर्म, मोक्ष आदि तत्त्वों की विस्तार पूर्वक चर्चा करके, अध्यात्म की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है ? और कब उसकी प्राप्ति होती है इस बात को भली भाँति समझा कर, अब ग्रंथकार पुनः अपने मूल विषय पूर्वसेवा पर आते हैं। पूर्व सेवायोग रूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिये सीढ़ी रूप प्रथम भूमिका है। वह योग के अंगरूप पूर्वसेवा कैसी है ? योगशास्त्रों का अनुभव पूर्वक सम्यक् अभ्यास करके, उनके तत्त्व को जानने वाले योगीन्द्रों ने अध्यात्म की प्राप्ति के लिये गुरुजनों की पूजा-श्रद्धा पूर्वक विनयभक्ति, आदर, सत्कार सेवा आदि करना; देव-वीतराग उनकी स्तुति करना, उनका ध्यान धारण करना, उनके नाम की माला जपना वह देवपूजा है। परमात्मा की पूजा करना, सदाचार-सत्यपथ की ओर ले जाने वाले सभी सत्य एवं आचारों का पालन करना, तपश्चर्या-छः प्रकार का बाह्य छः प्रकार का अभ्यन्तर तप करना और मुक्ति पर संपूर्ण श्रद्धा रखना। मुक्ति के स्वरूप में द्वेष अरुचि, अनादर न करना आदि को पूर्व-सेवा कहा है ॥१०९॥

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।
वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः ॥११०॥

अर्थ : माता, पिता, कलाचार्य, उनके सम्बन्धी (माता-पिता आदि के सम्बन्धी भाई बहिन आदि) वृद्ध और धर्मोपदेशक सज्जनों को यह गुरुवर्ग अभीष्ट है ॥११०॥

विवेचन : पूर्वसेवा में जो गुरु देव-पूजन आदि बताया है, अब उन सबकी, एक-एक की, विस्तृत व्याख्या बता रहे हैं। सर्वप्रथम गुरुजनों का आदर सत्कार करना चाहिये यह बताया है। अब गुरुवर्ग में कौन-कौन है यह बताते हैं, कि माता-जन्म देने वाली जननी, पालन करने वाली तथा वात्सल्यभाव रखने वाली को भी माता तुल्य समझना चाहिये। इसी प्रकार पिता-जनक तथा हमारे अभ्युदय के लिये सतत् चिन्ता करने वाले, वात्सल्यभाव रखने वाले को भी पितातुल्य मानकर,

आदर देना चाहिये । कलाचार्य-लिपि सिखाने वाला, अंग कसरत सिखानेवाला, काव्य प्रहेलिकादि, गुंथन, पाचन, गणित तथा अन्य प्रकार के उद्योग आदि सर्व प्रकार की कला सिखाने में जो निष्णात निपुण हो; उसे कलाचार्य कहते हैं । ऐसे कला शिक्षकों का भी श्रद्धा पूर्वक सम्मान करना चाहिये। उनके ज्ञातिलोगों का अर्थात् माता-पिता के सम्बन्धी उनके भाई-बहिनादि का, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, चारित्रवृद्ध महापुरुषों का तथा मोक्षमार्ग का उपदेश देने वालों को अपना गुरुजन समझना चाहिये तथा उनकी सेवाभक्ति करना, आदर सत्कार करना, गौरव देना चाहिये । सन्त महात्माओं को गुरुवर्ग में यही अभीष्ट है अर्थात् सन्तों ने उपर्युक्त सभी गुणीजनों को गुरुकोटि में रखा है । अतः ऐसे आदर, बहुमान, गौरव योग्य सर्व पूज्यों की सेवाभक्ति, बहुमान करना ही सन्तों का उपदेश है ॥११०॥

पूजनं चास्य विज्ञेयं, सन्ध्यं नमनक्रिया ।
तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥१११॥

अर्थ : तीनों काल वन्दन - नमस्कार करना इनका (गुरुवर्ग का) पूजन है । उनकी (गुरुजनों की) अनुपस्थिति में भी उनका नाम स्मरण करके, (अत्यन्त भाव पूर्वक) वन्दनादि करना चाहिये ॥१११॥

माता-पिता आदि उन सर्व पूज्यों का पूजन तीन काल वन्दन, नमस्कार करना ही नहीं, जब उनके पास जाने का अवसर न हो, गुरुजन समीप में न हों-दूर हों, साक्षात दर्शन न करें, तो उनकी अनुपस्थिति में भी चित्त में उनका श्रद्धा पूर्वक ध्यान करके; उनका चित्त में नाम स्मरण करके, तीनों (संध्या) काल-प्रातः, दुपहर और शाम के समय वन्दन नमस्कार, गुरुस्तुति आदि करनी चाहिये ॥१११॥

अभ्युत्थानादियोगश्च, तदन्ते निभृतासनम् ।
नामग्रहश्च नास्थाने, नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥११२॥

अर्थ : (उन पूज्यों का) अभ्युत्थानादि से सत्कार करना और उनके पास अप्रगल्भता पूर्वक बैठना चाहिये । अयोग्य स्थान पर उनके नाम का ग्रहण और कभी भी उनके अवर्णवाद का श्रवण नहीं करना चाहिये ॥११२॥

विवेचन : पूज्य गुरुजनों को अपने पास आते देखकर, शीघ्र उठकर सामने से उनको लेने जाना, आदरपूर्वक वन्दन-नमस्कार करना, योग्य आसन देना, सेवाभक्ति आदि करना, कार्यसेवा के लिये उनकी आज्ञा मांगनी । गुरुजन पास में बैठे हों तो शान्त, विनय पूर्वक बैठना चाहिये । असम्बन्धित, अप्रासंगिक तथा अहंकार जनित, गुरुजनों को पसन्द न हो, ऐसा नहीं बोलना चाहिये। अशुचि स्थानों – मलमूत्रादि के स्थानों पर उन पूज्यों का नाम नहीं लेना चाहिये । शुद्ध, पवित्र

होकर पवित्र स्थानों में ही उनका नाम स्मरण करना चाहिये । उनका अपवाद, अवर्णवाद, निन्दा आदि न कभी स्वयं करना और न किसी से सुननी चाहिये ॥११२॥

सारणां च यथाशक्ति, वस्त्रादीनां निवेदनम् ।
परलोकक्रियाणां च, कारणं तेन सर्वदा ॥११३॥

अर्थ : अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम वस्त्रादि समर्पण करना तथा सदैव उनकी परलोक साधना में कारणभूत बनना-सहायभूत बनना चाहिये ॥११३॥

विवेचन : उत्तम क्रियानीष्ठ पूज्य गुरुवरों तथा माता-पिता आदि की शक्ति अनुसार भक्ति करने का निश्चय करके उन पूज्य गुरुओं को उत्तम प्रकार के शुद्ध, उपयोग में आ सके ऐसे उपयोगी, योग्य मूल्य वाले वस्त्र, पात्र तथा पथ्यभोजन आदि समर्पण करना; श्रद्धा भक्तिपूर्वक निमन्त्रण देना; माता-पिता, कलाचार्य आदि को भूषण और धन आदि जो उनको योग्य हो, उनको आदर पूर्वक देना चाहिये। तात्पर्य यह है कि वे उत्तमगुरु अपनी साधना में स्थिर होकर उत्तरोत्तर विकास कर सके; इस प्रकार की प्रत्येक अनुकूलता यथाशक्ति प्रदान करना और उनकी अनुकूलताओं का ध्यान रखना; परलोक के लिये भी यथाशक्ति उनके पुण्यार्थ देवगुरु पूजा, सेवा, भक्ति करना, करवाना; अनाथ दीन दुःखियों को दान देना और उनसे दिलवाना; तीर्थक्षेत्र-शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थभूमियों पर उनके स्मरणार्थ अथवा उनकी याद में, उनके नाम से, देवमन्दिर, धर्मशाला, उपाश्रय आदि धर्मस्थान बनवाना । इस प्रकार उनकी परलोक साधना में भी हमेशा अनुकूल सहायता करनी चाहिये, निमित्त बनना चाहिये ॥११३॥

त्यागश्च तदनिष्टानां, तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।
औचित्येन त्विदं ज्ञेयं, प्राहुर्धर्माद्यपीडया ॥११४॥

अर्थ : उनको (गुरुजनों को) जो इष्ट न हो; उसका त्याग करना; और जो उनको इष्ट हो उसमें प्रवृत्ति करना धर्मादि को किसी प्रकार का नुकसान न हो, ऐसी यथोचित प्रवृत्ति को पूजन कहते हैं ॥११४॥

जो व्यवहार माता-पिता आदि गुरुजनों को इष्ट नहीं, प्रिय नहीं, मान्य नहीं, उसे छोड़ देना; और जो व्यवहार उनको अभीष्ट है, प्रिय है, मान्य है, जिसकी वे अनुमोदना करते हैं, उसे अंगीकार करना, भी उनकी पूजा करना है। धर्मादि को किसी भी प्रकार का नुकसान न हो; ऐसी यथोचित प्रवृत्ति करना भी उनके पूजन में समाविष्ट हो जाता है । क्योंकि श्रेष्ठ गुरुजन धर्म अनुकूल व्यवहार को ही हमेशा पसन्द करते हैं । उनको जो इष्ट है, वैसा करने से उनकी आत्मा प्रसन्न रहती है । गुरुजनों की आत्मा को चित्त को प्रसन्न रखना भी उनका श्रेष्ठ पूजन है ॥११४॥

तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।
तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥११५॥

अर्थ : उनके (गुरुजनों के) आसनादि का अपरिभोग, तीर्थ में उनके द्रव्य का योग्य व्यय करना, उनकी प्रतिमा स्थापन करवाना और प्रतिष्ठा करवाना तथा आदर पूर्वक उर्ध्वदैहिक-देहोत्सर्ग पश्चात् क्रिया करवाना ॥११५॥

विवेचन : मृत्यु के पश्चात उन गुरुजनों की पूजा कैसे करनी, यह बात ग्रंथकर्ता ने इस श्लोक में बताई है। कदाचित गुरुवर्ग माता-पिता आदि गुरुजन की मृत्यु हो जाय, तो उनके आसन, पात्र, वस्त्रादि का स्वयं उपभोग न करे तथा उनकी जो भी स्थावर-जंगम संपत्ति हो, उसका उपयोग तीर्थ में करें। अर्थात् देव मन्दिर, धर्मशाला, उपाश्रय आदि धर्मस्थानों में, जहाँ योग्य हो, उनकी इच्छानुसार वहाँ उसका सदुपयोग करे। परन्तु अगर उन लोगों की इच्छानुसार उनके द्रव्य का सद्व्यय न करके स्वयं ही ग्रहण करे तो उसे गुरुघात का महापाप लगता है। उनकी प्रतिमा-मूर्ति बनवाना और उसकी प्रतिष्ठादि संस्कार करवाना। कुछ लोगों के मत में उन गुरुजनों द्वारा बनवाये हुये देवचैत्यों में मन्दिरों में पूजा सेवा करवाना, ऐसा अर्थ भी करते हैं। उनकी देहोत्सर्ग क्रिया भी महामहोत्सव पूर्वक आदरपूर्वक करवानी चाहिये। तात्पर्य यह है कि मृत्यु के पश्चात् गुरुजनों की कोई भी चीज वस्तु स्वयं अपने काम में न लेकर योग्य स्थान या पात्र में उसका सदुपयोग करें। यह भी गुरुपूजन में ही समाहित हो जाता है ॥११६॥

पुष्पैश्च बलिना चैव, वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।
देवानां पूजनं ज्ञेयं, शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥११६॥

अर्थ : शौच और श्रद्धा से युक्त पुष्प, नैवेद्य, वस्त्र और सुन्दर स्तोत्रों से देवपूजा होती है ॥११६॥

विवेचन : पूर्वसेवा में गुरुपूजा विधि बताकर अब देवपूजा कैसे करनी यह बताते हैं। शौच - शरीर की, वस्त्र की, व्यवहार की शुद्धि करके श्रद्धाभक्ति से युक्त बहुमान पूर्वक जाई, जूही, गुलाब आदि अनेकविध पुष्पों से देव की पूजा करना जल - पक्वान्न, फलादि नैवेद्य प्रभु के आगे रखना; अंगरखे के लिये वस्त्र रखना; और सुन्दर-भाववाही गुणकीर्तनरूप स्तोत्रों से प्रभु की स्तुति करना, जिससे प्रभु जैसे गुण हमारे अन्दर भी प्रकट हो। इस प्रकार यह देवपूजा है। द्रव्यपूजा भाव का निमित्त कारण है। इसलिये मनुष्य की प्राथमिक भूमिका रूप द्रव्यपूजा का विधान प्रथम क्रिया है जो आवश्यक है ॥११६॥

अब देव किस को माने वह अगले श्लोक में बताते हैं —

अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।
गृहिणां माननीया यत्सर्वे देवा महात्मनाम् ॥११७॥

अर्थ : सामान्य रूप से सभी गृहस्थों और महात्माओं को सर्व देव माननीय हैं अथवा जिसकी जिस (देव) पर अतिशय श्रद्धा हो (उस की यथायोग्य पूजा करें)॥११७॥

विवेचन : ग्रंथकार का तात्पर्य यह है कि सामान्य रूप से सामान्य जनों की बुद्धि, अज्ञान, मोह और विषयों में आसक्त होने के कारण पारमार्थिक देव, गुरु और धर्म का यथार्थ निश्चय नहीं कर पाती । इसलिये हरि, हर, राम, अल्लाह, बुद्ध, अरिहन्त या ब्रह्मा, लौकिक-अलौकिक सर्वदेव उन गृहस्थों के लिये माननीय, वन्दनीय, पूजनीय है क्योंकि जब तक पारमार्थिक बुद्धि प्राप्त न हो तब तक सामान्य रूप से सर्व देवों को मान्य रखें, सब को आदर की दृष्टि से देखें। महात्मा लोगों की दृष्टि गुणग्राहिणी होने से वे भी सभी देवों को मानते हैं, आदर की दृष्टि से देखते हैं । अथवा गृहस्थों को जिस देव पर विशेष श्रद्धा-प्रीति-विश्वास हो, उनका यथायोग्य पूजन करें ।

अथवा

किसको देव माने ? इसी का उत्तर है :- ग्रंथकार का तात्पर्य है कि सामान्य जनों की बुद्धि अज्ञान, मोह और विषयों में आसक्त होने से पारमार्थिक देव, गुरु, धर्म का यथार्थ निश्चय जब तक नहीं कर सकती, तब तक सामान्यरूप से हरि, हर, ब्रह्मा, राम, अल्लाह, बुद्ध, अरिहन्त आदि लौकिक-अलौकिक सर्वदेवों को माने । अथवा गृहस्थों को जिस देव पर विशेष श्रद्धा, प्रीति, विश्वास हो उनका यथा योग्य पूजन करें । महात्माओं को भी सामान्यरूप से सर्वदेव माननीय है, क्योंकि उनकी दृष्टि बड़ी उदार और विशाल गुण ग्राहिणी होती है । सर्व-धर्म समन्वय, सर्वधर्म आदर की कितनी सुन्दर विशाल भावना है ॥११७॥

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति, नैकं देवं समाश्रिताः ।
जितेन्द्रिया जितक्रोधा, दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥११८॥

अर्थ : एक ही देव को मानकर बैठे नहीं रहते और सभी देवों को जो नमस्कार करते हैं । इन्द्रियों को जीतने वाले और क्रोधादि को जीतने वाले ऐसे लोग सभी दुःखों को तर जाते हैं ॥११८॥

विवेचन : एक देव से तात्पर्य यह है कि जिसकी बुद्धि एक ही देव में अटक जाती है, अवरुद्ध हो जाती है, उसकी दृष्टि कूपमण्डूक जैसी संकुचित हो जाती है । वह व्यक्ति बाहर देखता नहीं; किसी को भी सुनता नहीं; सुनने को तैयार भी नहीं होता, तो वह अनुभव विहीन रह जाता है और यथार्थ तत्त्व के हार्द तक पहुँचने में असमर्थ हो जाता है । इसलिये सत्य-असत्य का जो

भेदज्ञान-विवेकज्ञान है उससे वंचित ही रह जाता है। परन्तु जो सब को देखता है, सुनता है, मानता है, अनुभव करता है, उसका हृदय खुला होता हैं और उसकी विवेकबुद्धि विकसित होती है और वह यथार्थ तत्त्व-सत्यतत्त्व को पा लेता है। और इस प्रकार धीरे-धीरे जितेन्द्रिय होकर सभी राग, द्वेष, क्रोधादि दोषों को जीतकर नरक, तिर्यञ्चगति रूप दुःखों से भरे हुये संसार समुद्र से पार हो, तर जाता है। उत्तम गति को पा लेता है। तात्पर्य है कि जिसकी बुद्धि एकदेव में अटक जाती है; उसका ज्ञान कूपमण्डूक जैसा होता है। ऐसा व्यक्ति सत्य—असत्य का विवेक खो बैठता है। इसलिये ग्रंथकार ने सर्वदेवों को मान्य रखा है ताकि मनुष्य सत्य—असत्य की विवेक बुद्धि को जन्म दे सके ॥११८॥

चारिसंजीवनीचारन्याय एष सतां मतः ।
नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्याद् विशेषेणादिकर्मणाम् ॥११९॥

अर्थ : चारिसञ्जीवनी (औषधि विशेष) का 'चरणे भक्षेण न्याय' सज्जनों-संतो को इष्ट-मान्य है। अन्यथा यहां इष्ट सिद्धि ही न हो। विशेषरूप से यह आदिकर्म-प्राथमिक भूमिका में है ॥११९॥

विवेचन : चारिसञ्जीवनी न्याय में उस महिला की कहानी विहित है जिसने अपने पति को वश में करने के लिये किसी फकीर द्वारा बताई गई औषधि खिलाई और वह बैल बन गया। फिर तो उसके पश्चाताप का पार नहीं रहता। लेने गई पूत और खो दिया पति, जैसी बात बन जाती है। प्रतिदिन की भाँति वह एक दिन अपने पतिबैल को वटवृक्ष के नीचे घास चराने के लिये बहुत ही दुःखी होकर खड़ी है। आकाश में विद्याधर का एक जोड़ा उस रास्ते से निकलता है। उस स्त्री को दुःखी देखकर, विद्याधरी एक अपने पति विद्याधर से उसका कारण पूछती है। विद्याधर अपनी पत्नी को कहता है कि यह बैल नहीं है। इसकी पत्नी ने अपनी मूर्खता से जड़ी बूटी खिलाकर इसे बैल बनाया है। करुणासभर विद्याधरी ने अपने पति विद्याधर से उसके दुःखनाश का उपाय पूछा। तब विद्याधर ने कहा कि इस वटवृक्ष के नीचे तने के मूल में चारु या चारि संजीवनी नामक औषधि उगी हुई है। उस औषधि का वह बैल भक्षण करे तो बैल से परिवर्तित होकर पुनः अपने पुरुष स्वरूप में आ सकता है। उस महिला ने विधाधरों की यह बात सुनी और चारु सञ्जीवनी औषधि को खोजने लगी। परन्तु उसके आकार, रंग और स्वाद आदि से अनजान होने से वह वटवृक्ष के नीचे की समस्त वनस्पति, घास आदि पतिबैल को खिलाने लगी। उसमें चारु सञ्जीवनी औषधि भी साथ ही आ गई और खाई गई उस औषधि से बैल पुनः अपने असली पुरुष स्वरूप में आ गया। वे स्त्री और पुरुष दोनों, आनन्द मनाते अपने घर गये।

यहाँ सञ्जीवनी का सम्यक् ज्ञान-पहचान न होने से वह महिला बिना भेदभाव के, सभी प्रकार

के घास चारे को अपने पति बैल को चराती रही और इस प्रकार उसमें सञ्जीवनी भी साथ में आ जाने से कृत्रिम बैल परिवर्तित होकर पुरुष बन गया। इसी प्रकार जब तक जीवों को सम्यक् ज्ञान अथवा विवेक बुद्धि प्रकट नहीं होती; जब तक जीव योग्य भूमिका में आने में समर्थ न हुए हों तब तक, वे जो भी-जैसी भी देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप आदि शुभ प्रवृत्ति करते हों उन्हें करने देना चाहिये, उसमें कोई दोष नहीं। क्योंकि अगर सर्वदेवों के प्रति ऐसा करने का निषेध करें, चारिसञ्जीवनी न्याय को न माने, तो देवगुरु की पूजाभक्ति आदि सद्गुणवृद्धि रूप जो इष्ट सिद्धि है, कैसे हो ? अतः जब तक जीव अत्यन्त सामान्य भूमिका में है तब तक का यह न्याय है। क्योंकि अत्यन्त भोले-सीधे प्राणियों के लिये गीता में भी कहा हैं :- "न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्" बाह्यभावमात्र से जो क्रिया में अनुरक्त है, आन्तरिक आत्मज्ञान पर जाने के लिये जिनकी बुद्धि असमर्थ है, ऐसे अज्ञानी जीवों को बुद्धिभेद पैदा नहीं करना चाहिये, क्योंकि पारमार्थिक ज्ञान को प्राप्त करना उनके सामर्थ्य से बाहर है। इसलिये वे जो करते हो, वहाँ से उनको विचलित नहीं करना चाहिये, विशेषतः प्राथमिक भूमिका में ।

तात्पर्य यह है कि सामान्य लोगों की जैसी जिस पर भी श्रद्धा है। उसी में उनको रहने देना चाहिये, उनकी श्रद्धा को विचलित नहीं करना चाहिये, क्योंकि निर्णयात्मक बुद्धि उनके पास होती नहीं और वे लोग इतोभ्रष्ट स्ततोभ्रष्ट हो जाते हैं। गीता में भी कहा है 'संशयात्मा विनश्यति'। कितनी सुन्दर, तटस्थ, विशाल-दृष्टि है ! ॥११९॥

गुणाधिक्यपरिज्ञानाद्, विशेषेऽप्येतदिष्यते ।
अद्वेषेण तदन्येषां, वृत्ताधिक्य तथाऽऽत्मनः ॥१२०॥

अर्थ : गुणाधिक्य के परिज्ञान से, स्वयं को अधिक श्रद्धा होने से; अन्य देवों के प्रति बिना द्वेषभाव के विशेष इष्टलाभ होता है ॥१२०॥

सभी देवों, गुरुओं और धर्मों को जान लेने पर मनुष्य को गुण-दोष का ज्ञान होता है अर्थात् किसमें क्या, कितने गुण हैं और कौन से दोष हैं, वह इस सत्य को जान लेता है। तत्पश्चात् जिसमें वह गुणों की अधिकता देखता है, सामान्यतः उसके उपर उसे विशेष पूज्य बुद्धि पैदा होती है। फिर उसे उसकी भक्ति करने की इच्छा होती है और जो अन्य देव हैं, उनके प्रति अद्वेषपूर्वक मध्यस्थ भाव पैदा होता है, क्योंकि अब उसके अन्दर ज्ञान का-विवेक का प्रकाश है। इसी प्रकार गुरुओं में और धर्मों में भी वह व्यक्ति अपने-आप निश्चय करता है। ग्रंथकर्ता का तात्पर्य यह है कि स्वयं अपनी बुद्धि की कसौटी से कसकर; सत्य-असत्य को यथार्थ जानकर; जो देव, गुरु, धर्म को अपनाता है; उसे अवश्य ही इष्ट सिद्धि होती है। क्योंकि बुद्धिबल से जो श्रद्धा मजबूत होती है, उसे कोई भी विचलित करने में समर्थ नहीं हो सकता। लेकिन जिनकी बुद्धि एक में अटक जाती है वह अडिग नहीं रह सकता ।

गुरु, बैल जैसे शिष्यों को विविध देवों के पूजनादि में (चराते-चराते) लगाते हुये, अन्त में सम्यक्देव रूपी सञ्जीवनी बताते हैं और योग्य ज्ञान-भूमिका पर ले आते हैं । अनेक देवों की पूजा करते-करते जब सभी देवों से अमुक देव गुण में अधिक है, ऐसा निश्चय हो जाता है, तब अन्य देवों पर द्वेष भी नहीं होता और विशेष देव पर पूर्णश्रद्धा रूप इष्ट सिद्धि हो जाती है ॥१२०॥

पूर्व सेवा में गुरु, गुरुपूजा-विधि, देव और देवपूजा-विधि बताकर, अब उन योग्य सुपात्रों को दान कैसे और किन-किन को देना, यह बताते हैं –

पात्रे दीनादिवर्गे च, दानं विधिवदिष्यते ।
पोष्यवर्गाविरोधेन, न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥१२१॥

अर्थ : योग्य पात्र में और दीनादिवर्ग में विधिपूर्वक किया हुआ दान (बुद्धिमानों को) इष्ट हैं; और वह दान स्वयं के लिये बाधक न हो और न ही पोष्यवर्ग के लिये बाधक बनता है ॥१२१॥

विवेचन : योग्य पात्र अर्थात् जिस व्यक्ति को दान देने से धर्म की वृद्धि होती हो; दान लेने वाले के जीवन का विकास होता हो; उस व्यक्ति की जरूरत को ध्यान में रखकर, उसकी रक्षा करें । दानपात्र कौन-कौन है ? यहाँ ग्रन्थकार बताते हैं दीन, अनाथ, दुःखी आदि जिनका स्वरूप आगे कहेगें, उनको अपनी शक्ति के अनुसार, विधिपूर्वक दान देने की प्रवृत्ति बुद्धिमान लोग रखते हैं । पोषण करने योग्य जो माता-पिता आदि स्वकुटुम्बीजन या जो वृद्ध हो; उनकी पूज्यभाव से विधिपूर्वक सारसम्हाल लें तथा अपने घर में नौकरी-चाकरी करते-करते जो वृद्ध हो गया हो; अशक्त हो गया हो; आजीविका के लिये काम करने में असमर्थ हो गया हो; उनकी आजीविका का छेद-नाश न हो जाय; इस प्रकार का दान देना चाहिये । वह दान भी स्वयं को अर्थात् देने वाले को अथवा लेने वाले को किसी प्रकार सभी बाधक नहीं होना चाहिये । अर्थात् दान योग्य वर्ग को यथाशक्ति, विधिपूर्वक इस प्रकार दान देना चाहिये कि जिससे किसी प्रकार का दोष न लगे, धर्म में किसी प्रकार की बाधा न आये । अपितु धर्म की वृद्धि हो, ऐसा दान देना चाहिये । हल, मुसल, चक्की, चाकू आदि, जो देने वाले दाता को भी पाप का कारण होते है और लेने वाले को भी पाप का कारण होते हैं, अपितु ऐसी वस्तुओं का दान, पापवृद्धि का कारण होने से, उनका दान निषिद्ध बताया है, वर्ज्य है ॥१२१॥

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्रमपचास्तु विशेषतः ।
स्वसिद्धान्ताविरोधेन, वर्तन्ते ये सदैव हि ॥१२२॥

अर्थ : व्रतस्थ, मुनिलिंगी (दान के) विशेष पात्र हैं, क्योंकि वे अपचा-अपने लिये रसोई न बनाने वाले और सदा अपने शास्त्र-सिद्धान्त के अनुकूल आचरण करने वाले हैं ॥१२२॥

विवेचन : व्रतस्थ-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच महाव्रतों को

धारण करने वाले; (उन व्रतों के सूचक) मुनि के जो लिंग-रजोहरण, मुहपत्ति, डंडा आदि साधुवेश को धारण करने वाले, साधु सन्त विशेष सुपात्र हैं, क्योंकि वे मुनि आहार के लिये स्वयं रसोई बनाते नहीं हैं और न ही बनवाते हैं। परन्तु अन्य गृहस्थों के घरों में उनके अपने कुटुम्ब के लिये जो रसोई बनी हो, उसमें से ही मधुकरी अथवा गोचरीवृत्ति के अनुसार घर-घर घूमकर, अल्प-अल्प ग्रहण करके वे अपनी आत्मा को संयम में संतुष्ट रखते हैं। दशवैकालिक अध्ययन में इस प्रकार कहा भी हैं:-

महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया ।
नाना पिंडरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो ॥ त्तिबेमि ॥ दशवैकालिक १/५

सदा अपने आगम शास्त्रों के अनुसार संयम जीवन व्यतीत करते हैं। वीतराग देव की आज्ञा का उल्लंघन न हो जाय इस प्रकार की सतत् जागृति रखकर वैसा आचरण-व्यवहार रखने वाले हैं। इसलिये ऐसे आत्मलक्षी, संयमी साधु सन्तों के प्रति हमेशा भक्तिभाव रखकर, पूज्यभाव से विधिपूर्वक दान देना चाहिये, क्योंकि वह योगमार्ग को पाने का महान उपाय है। इस श्लोक में ग्रंथकार ने अपनी इच्छानुसार फकीरी ग्रहण करने वाले आत्मसाधकों को लिया है। ऐसे लोग हमेशा आदरणीय, वन्दनीय होते हैं ॥१२२॥

दीनान्धकृपणा ये तु, व्याधिग्रस्ता विशेषतः ।
निःस्वाः क्रियान्तराशक्त्या, एतद्वर्गो हि मीलकः ॥१२३॥

अर्थ : दीन, अन्ध, कृपण, व्याधिग्रस्त, निर्धन, क्रियान्तराशक्त-अन्य कार्य करने में असमर्थ, ये सब (वर्ग) दान से विशेष पोषण करने योग्य हैं ॥१२३॥

विवेचन : इस श्लोक में अनुकम्पनीय वर्ग बताया है कि दीन-दयनीय स्थिति वाले, अन्धे-जो आंखों से देखने में असमर्थ हों और जो पुरुषार्थ करने में कृपण हैं वे, तथा रोगग्रस्त-रक्तपित्त से हाथ और पैरों से पांगले(अपंग) हो तथा क्षय, भगन्दर, जलंदर तथा अनेक भयंकर रोगों से पीड़ित-दुःखी हो; जिनकी धन-सम्पत्ति नष्ट हो गई हो और व्यापार करने में असमर्थ हो गये हों; अन्य आजीविका कमाने में जो असमर्थ हो; वे सभी प्राणी दयनीय हैं। अनुकम्पा करने योग्य है इसलिये ऐसे लोगों पर विशेष दया लाकर, उनकी मदद करनी चाहिये। उनका भरण-पोषण करना चाहिये। इस श्लोक में ग्रंथकार ने उस वर्ग को लिया है जो लाचारी, दुर्भाग्य और शारीरिक, मानसिक, भौतिक कारणों से दयनीय हैं - अनुकम्पनीय हैं। अतः ऐसे वर्ग को भी योग प्राप्ति की इच्छा वाला व्यक्ति आदर से, दयापूर्ण हृदय से, अपने धन का उत्सर्ग करे, दान दें। करुणा को धर्म का मुख्य अंग कहा गया है और करुणापारायण हृदय दूसरे के दुःखों को देख नहीं सकता। उनका नवनीत जैसा कोमल हृदय पिघल-पसीज जाता है और दुःखियों के दुःख को दूर करके, उसे परम शांति का, समाधि का अनुभव होता हैं ॥१२३॥

दान कैसा दें :-

दत्तं यदुपकाराय, द्वयोरप्युपजायते ।
नातुरापथ्यतुल्यं तु, तदेतद् विधिवन्मतम् ॥१२४॥

अर्थ : दिया गया दान, रोगी को अपथ्य जैसा नहीं होना चाहिये, (वह दान) दाता और ग्राहक दोनों के उपकार के लिये हो, इस प्रकार विधिपूर्वक दिया हुआ दान बुद्धिमानों को इष्ट है ॥१२४॥

विवेचन : अन्न-वस्त्र आदि जो भी दूसरों को दिया जाय, वह दान बीमार को अपथ्य भोजन जैसा न हो, अर्थात् दान देने में भी विवेक होना चाहिये कि किस को क्या देना चाहिये । ज्वर, क्षय, श्वास, खांसी आदि से पीड़ित रोगी को, अपथ्य घी, मिष्टान्न आदि अपाच्य पदार्थ देने से उसका रोग बढ़ता है और रोगों से पीड़ित होकर मनुष्य मृत्यु-शरण हो जाता हैं । ऐसा दान ग्राहक की मृत्यु और दाता को पाप का कारण होता है । इसलिये दाता को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वह जो भी दे वह रोगी को अपथ्य जैसा सिद्ध न हो, प्रत्युत दाता और ग्राहक दोनों के उपकार के लिये हो । देने वाले दाता और ग्रहण करने वाले ग्राहक, दोनों के हित के लिये हो । दाता को पुण्यलाभ हो और ग्राहक को हितकारी-उपयोगी हो वही दान विधिपूर्वक देना चाहिये । अयोग्य-जिससे अधर्म होता हो, नुकसान होता हो, ऐसी अयोग्य वस्तुओं का दान बुद्धिमानों को इष्ट नहीं है । उपयोगी व हितकारी दान इष्ट है ।

धर्मस्यादिपदं दानं, दानं दारिद्र्यनाशनम् ।
जनप्रियकरं दानं, दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥१२५॥

अर्थ : दान धर्म का आदि पद है; दान दारिद्रय का नाश करने वाला है; दान (दाता को) लोकप्रिय करने वाला है और दान यशकीर्ति आदि को बढ़ाने वाला है ॥१२५॥

विवेचन : चार प्रकार का जो धर्म-दान, शील, तप और भावना बताया है; इन चारों में दान को प्रथम स्थान दिया है । दान से दारिद्रय दूर होता है, क्योंकि खुले दिल से अपनी लक्ष्मी का सद्व्यय करने वाले मानव पर लक्ष्मी अधिक खुश होती है । ज्यूं-ज्यूं वह देता है; त्यूं-त्यूं दुगुना-चौगुना होकर, उसके पास आता है । दान देने वाला लोगों में प्रिय होता है, सभी लोगों का वह प्रियपात्र हो जाता है । और दान देने से दुनिया में उसकी यशकीर्ति बढ़ती है । जहाँ भी वह जाता है मान सम्मान पाता है । दान का महत्त्व दर्शाने के लिये ही ग्रंथकार ने चार बार दान शब्द का प्रयोग किया है ॥१२५॥

लोकापवादभीरुत्वं, दीनाभ्युद्धरणादरः ।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्त्तितः ॥१२६॥

अर्थ : लोकापवाद से डरना, दीनजनों के उद्धार का प्रयत्न करना, कृतज्ञता और दाक्षिण्य को सदाचार कहते हैं ॥१२६॥

विवेचन : यद्यपि 'शुद्धं लोकविरुद्धं न करणीयं नाचरणीय' लोक विरुद्ध का त्याग करना। सज्जन लोग जीवन में ऐसा किसी भी प्रकार का व्यवहार नहीं करते, जिससे लोक में उनकी निन्दा हो, क्योंकि लोक-निन्दा को वह मृत्यु से भी बुरा समझते हैं । उनका व्यापार-धंधा, लेना-देना, बोलना-चालना, जीवन की समग्र क्रिया सतत् जागृति पूर्वक होती है । अतः लोकापवादभीरुत्व भी सदाचार है और धर्मयुक्त उसकी प्रवृत्ति होती है। दीन-दुःखी, अनाथ, लूले-लंगड़े, बहरे, अन्धे आदि, जिनकी सार सम्हाल लेने वाला कोई नहीं, उनको यथाशक्ति सहायता देना, उनको दुःखों से उबार लेना भी सदाचार है। कृतज्ञता-किये उपकार को याद रखना; विपत्ति के समय, संकट वेला में जिसने हमको मार्गदर्शन दिया हो; हमारी मदद की हो; हमारा रक्षण किया हो; भय प्रसंग उपस्थित होने पर संपूर्ण सहायता दी हो; वह हमारा उपकारी है, उस उपकारी के उपकार को कभी नहीं भूलना चाहिये। हमेशा उसके प्रति कृतज्ञ रहना और समय आने पर उसके उपकार का बदला चुकाना भी सदाचार है । सुदाक्षिण्य अर्थात् चातुर्य अभिमान, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष आदि का त्याग करके, विनय-विवेक पूर्वक दूसरों की मदद करना । शिष्टता पूर्वक व्यवहार करना । व्यवहार कुशलता भी सदाचार है। ऐसा सदाचार योगमार्ग में प्रवेश दिलवाने के लिये समर्थ होता हैं ऐसा महापुरुषों ने कहा है ॥१२६॥

सर्वत्र निन्दासंत्यागो, वर्णवादश्च साधुषु ।
आपद्यदैन्यमत्यन्तं, तद्वत् संपदि नम्रता ॥१२७॥

अर्थ : निन्दा का सर्वत्र त्याग; सत्पुरुषों की प्रशंसा; आपत्ति में अदैन्यवृत्ति और सम्पत्ति में अत्यन्त नम्रभाव (रखना सदाचार है) ॥१२७॥

योग मार्ग में प्रवेश पाने वालों को किसी की भी, कहीं भी निन्दा नहीं करनी चाहिये । जहाँ भी सत्पुरुषों में गुणों को देखे; प्रमोद भावना से उनका गुणकीर्तन करे । कहा भी है - "गुण थी भरेला गुणीजन देखी; हैयुं मारुं नृत्य करे; ए सन्तो ना चरण कमल मां मुज जीवन नुं अर्ध्य रहे" । मेरी भावना में भी सुन्दर कहा हैं :- "गुणीजन देख हृदय में मेरे प्रेम उमड़ आवे; बने जहां तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे" । आपत्ति, संकट, समय, दुःख के समय दीनता न लावे और सम्पत्ति समय खूब नम्रता रखें; अभिमान, अहंकार, घमंड, गरूर न लायें । जैसा कहा है "होकर सुख में मग्न न फूले; दुःख में कभी न घबराये" ऐसी ऊँची भावना को अपने जीवन

में लाना चाहिये । सर्वत्र निन्दा का त्याग; गुणों की प्रशंसा, हर हालत में सुख-दुःख में समभाव से रहना भी सदाचार है । सज्जनों का आचार है, सदाचारी के लक्षण है ॥१२७॥

प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।
प्रतिपन्नक्रिया चेति, कुलधर्मानुपालनम् ॥१२८॥

अर्थ : प्रसंग आने पर मितभाषण, सत्यपालन, प्रतिज्ञा पालन और कुलधर्म का पालन करना (भी सदाचार है) ॥१२८॥

विवेचन : अगर बोलने का प्रसंग आ जाय तो आवश्यकतानुसार, समयोचित मितभाषण करना; व्यर्थ वितण्डावाद, झगड़े में न उतरना, प्रमाण सहित, मीठी भाषा में और जिसमें अपना भी हित हो और दूसरे का भी कल्याण हो ऐसा अल्प, परन्तु वजनदार बोलना चाहिये । विसंवादी वचन नहीं बोलना; अर्थात् मन में कुछ, वचन में कुछ और आचरण में कुछ हो, ऐसा मन, वचन और काया में कहीं मेल न खाय, ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिये । सत्य, मिष्ट और हितकारक ही बोलना चाहिये । जिन प्रतिज्ञाओं को, वचनों को, व्रत-पच्चखाणों को हम पाल सकें, उनका ही पच्चखाण प्रतिज्ञा लेनी चाहिये । और फिर उसे संपूर्ण निभाना चाहिये ।

कुलधर्म अर्थात् पिता, प्रपिता की परम्परागत जो कुल की मान्यता चली आती है, उसे कुलधर्म कहते हैं जैसे कुलदेवी का पूजन, पूर्वजों का पूजन, पुत्र-पुत्रियों के धर्म संस्कार करने आदि धर्मानुकूल जो कुलधर्म हैं, उनका पालन करना चाहिये ॥१२८॥

असद्व्ययपरित्यागः, स्थाने चैतत्क्रिया सदा ।
प्रधानकार्ये निर्बन्धः, प्रमादस्य विवर्जनम् ॥१२९॥

अर्थ : धन का दुर्व्यय नहीं करना (चाहिये), लेकिन योग्य स्थान पर और प्रधान कार्य में व्यय करने का आग्रह हमेशा रखना (चाहिये) और प्रमाद का त्याग करना (चाहिये) ॥१२९॥

विवेचन : लक्ष्मी का दुर्व्यय न करें; पुण्य से प्राप्त लक्ष्मी-धन का उपयोग पापमय आस्त्रव स्थानों में; अनर्थदण्ड में नहीं करना चाहिये, क्योंकि जहाँ अनुपयोगी - आवश्यकता न हो वहाँ तथा पापमय मार्गों में धन का उपयोग करना धन का दुर्व्यय है । परन्तु देवस्थान, तीर्थ, गुरुभक्ति, साधर्मिकभक्ति आदि योग्य पवित्र स्थानों पर तथा प्रधान-मुख्य जो पुरुषार्थ मोक्ष है, उस कार्य में धन का सद्व्यय करने का हमेशा आग्रह रखना चाहिये । और इसी तरह सभी प्रकार के प्रमाद अर्थात् अविवेक को पैदा करने वाले पदार्थ मदिरापान, मांस-भक्षण, जुआ, व्यभिचार आदि सात व्यसनों का त्याग करना चाहिये । नींद और आलस का भी त्याग करना चाहिये ॥१२९॥

लोकाचारानुवृत्तिश्च, सर्वत्रौचित्यपालनम् ।
प्रवृत्तिर्गर्हिते नेति, प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥१३०॥

अर्थ : लोकाचार का पालन, सर्वत्र औचित्य पालन, कण्ठ में प्राण आ जाने पर भी गर्हित कार्य में प्रवृत्ति न करे ॥१३०॥

विवेचन : धर्म को किसी भी प्रकार की आंच न आये, इस प्रकार के लोक-व्यवहार का अनुसरण करना चाहिये । सर्वत्र-स्वपक्षीय और परपक्षीय मिश्रित व्यवहार में तटस्थ रहकर, धर्म के अविरुद्ध जो-जो जहाँ उचित हो ऐसे कार्य प्रसंगों में, विनय, विवेक, नम्रता और दान पूर्वक औचित्य का पालन करना । अर्थात् समयानुकूल उचित प्रवृत्ति सम्भालना और प्राण चाहे कण्ठ में भी आ जाय फिर भी निन्दनीय प्रवृत्ति कभी न करें । संघ में, समाज में निन्दा हो ऐसा कोई भी कार्य न करें। कुव्यसनों का त्याग करे ॥१३०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त पांच श्लोकों में सदाचार की व्याख्या करके अब पूर्वसेवा में तप को बताते हैं :-

तपोऽपि च यथाशक्ति, कर्तव्यं पापतापनम् ।
तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं, मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥१३१॥

अर्थ : पाप को जलाने वाले तप को भी यथाशक्ति करना चाहिये । और वह तप-चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न और पापसूदन (चार प्रकार का) है ॥१३१॥

विवेचन : योग प्राप्ति की इच्छा रखने वालों को उपरोक्त अनुष्ठान के साथ यथाशक्ति तपश्चर्या भी अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि तप सभी पापों को जला देता है, नष्ट कर देता है । स्मृति आदि ग्रंथों में तप चार प्रकार का बताया है चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न और पापसूदन आदि । महापुरुषों ने जहाँ-जहाँ भी तप का उपदेश दिया है वहाँ-वहाँ उसे यथाशक्ति कहा हैं । शक्ति से कम भी नहीं शक्ति से ज्यादा भी नहीं । अगर कोई शक्ति के अधिक तपश्चर्या कर ले तो लाभ की अपेक्षा नुकसान ही अधिक सम्भव है । क्योंकि वह तप अन्दर प्रविष्ट नहीं हो सकता, चित्त की समाधि नहीं रहती और वह केवल शरीर तक ही सीमित रहता है और कभी-कभी शरीर भी बिगड़ जाता है । इसलिये हमेशा तप अपनी शक्ति को माप कर करना चाहिये । अगर शक्ति है और अपनी शक्ति के सामर्थ्य अनुसार तप नहीं करते हैं तो शक्ति छिपाने का दोष लगता है उसे प्रमाद कहते हैं । इसलिये जैनधर्म के ज्ञाताओं ने यथाशक्ति शब्द कितना सुन्दर बढ़िया रखा है ॥१३१॥

एकैकं वर्धयेद् ग्रासम्, शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।
भुञ्जीत नामावास्यायामेष चान्द्रायण विधिः ॥१३२॥

अर्थ : शुक्लपक्ष में एक-एक कवल (ग्रास) बढ़ाये और कृष्णपक्ष में (एक-एक कवल) घटायें । अमावास्या के दिन (बिल्कुल न खायें) यह चान्द्रायण तप की विधि है ॥१३२॥

चान्द्रायणतप एक महीने का तप है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से एक-एक कवल बढ़ा कर पूनम के दिन १५ कवल तक पहुँच जाना और कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से एक से एक-एक कवल कम करते-करते अमावास्या के दिन बिल्कुल भोजन का त्याग करना अर्थात् उपवास करना; यह चान्द्रायण तप की विधि हैं। जैसे शुक्लपक्ष में चन्द्र की कला बढ़े, वैसे कवल-ग्रास की संख्या बढ़ाना और कृष्णपक्ष में चन्द्र की कला घटती है वैसे कवलसंख्या घटाना, इस प्रकार चन्द्र की कला के ऊपर से यह तप चान्द्रायणतप कहा जाता है ॥१३२॥

सन्तापनादिभेदेन, कृच्छ्रमुक्तमनेकधा ।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु, हन्त ! सन्तारणं परम् ॥१३३॥

अर्थ : संतापनादि के भेद से कृच्छ्र (तप) अनेक प्रकार का बताया है। अकृच्छ्र (तप) से अतिकृच्छ्र में विशेष शुद्धि है ॥१३३॥

विवेचन : संतापनकृच्छ्र, संपूर्णकृच्छ्र, पादकृच्छ्र, अतिकृच्छ्र, सन्तारणकृच्छ्र, इस प्रकार कृच्छ्रतप के अनेक भेद होते हैं। सन्तापन, पाद और संपूर्ण कृच्छ्र इनमें मुख्य हैं।

संतापन कृच्छ्र की विधि बताई है :

तीन दिन गर्म जल पीना; तत्पश्चात्
तीन दिन गर्म घी पीना; उसके बाद
तीन दिन गर्म मूत्र पीना; सबसे अन्त में
तीन दिन गर्म दूध पीना। यह संतापन कृच्छ्र की विधि हैं।

एक बार और वह भी बिना मांगे कोई दाता भोजन करवाये तत्पश्चात् उपवास करना यह पादकृच्छ्रतप की विधि है। इसी पादकृच्छ्र को चार बार करने से संपूर्णकृच्छ्र तप होता है। संतापनकृच्छ्रतप के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत हैं, कुछ लोग मानते हैं कि कष्टपूर्ण तप होने से इसे संतापनकृच्छ्र कहते हैं, कुछ कहते है कि स्वर्ण की भांति शुद्ध करता है इसलिये इसे संतापन कहते हैं। इस प्रकार पापों का नाश करने वाले विविध तपों का वर्णन पुराण, स्मृति आदि शास्त्रों में विस्तार पूर्वक किया गया है ॥१३३॥

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युघ्नं तु तपोधनाः ।
मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥१३४॥

अर्थ : मृत्युञ्जय जाप सहित; शुद्ध होकर, विधिपूर्वक जो मासक्षमण (एक मास के उपवास) तप किया जाता है; उसे तपोधनी मुनि मृत्युघ्न तप कहते हैं ॥१३४॥

विवेचन : पंचपरमेष्ठि नमस्कार रूप मृत्युञ्जय जाप सहित अर्थात् पंचपरमेष्ठि नमस्कार को

मृत्युञ्जय कहते हैं । क्योंकि भावपूर्वक किया गया पंचपरमेष्टि नमस्कार, मृत्यु को जीतने वाला होता है । ऐसा पंचपरमेष्ठी का जाप करते हुये; शारीरिक, मानसिक और वचनशुद्धि पूर्वक; विषय कषायों से रहित; मन में किसी भी प्रकार की लोक-प्रशंसा का भाव न रखकर; केवल आत्मशुद्धि का लक्ष्य रखकर, विधिपूर्वक जो मासक्षमण किया जाता है । तप है धन जिनका ऐसे, तपोधनी-तपोयोगी उसे मृत्युघ्न तप कहते हैं । मृत्युघ्न-मृत्यु का हनन करने वाला तप ॥१३४॥

पापसूदनमप्येवं, तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।
चित्रमन्त्रजपप्रायं, प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥१३५॥

अर्थ : विचित्र पापों के कारण, प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होने वाला, नाना प्रकार के मन्त्रों का जाप है जिसमें, ऐसा पापसूदन तप भी होता है ॥१३५॥

विवेचन : मृत्युघ्न तप की भांति पापसूदन तप भी शुद्धिपूर्वक योग्य विधि से करना चाहिये । अज्ञानी मनुष्य जीवन में न करने जैसे कार्य करके विविध-प्रकार के पापों को इकठ्ठा करता है, परन्तु कभी सत्संग का योग मिल जाय तो विवेक प्रकट होने पर उसे अपने दुष्ट कृत्यों पर बहुत पश्चात्ताप होता है । उन पापों का नाश करने के लिये हमारे आप्त पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के तप बताये हैं । भिन्न-भिन्न प्रकार के मन्त्रों का जाप बताया है जिससे व्यक्ति पापों से हलका होकर शुद्ध हो जाता है। जैसे कि आगमों में इसका दृष्टान्त दिया है कि :-

मथुरा में सत्ता के मद में आकर, एक नवयुवक ने वृद्ध तपस्वी ढंढक मुनि को शस्त्र से मरवा दिया, परन्तु बाद में शक्रेन्द्र के उपदेश से, विवेक जागने पर उसे बहुत पश्चात्ताप हुआ । संसार से वह इतना उदासीन हो गया कि उसने दीक्षा ले ली और संन्यास लेकर यह अभिग्रह किया कि जब तक मुनि हत्या की स्मृति रहेगी मैं अन्न-जल कुछ ग्रहण नहीं करुँगा । उनका यह तप छः महीने तक चला । छः महीने तक अप्रमत्त होकर, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र की आराधना करते रहे; बिना अन्न जल लिये । इस प्रकार उन्होंने जो ऋषिघात का पाप बांधा था वह नष्ट हुआ। तब से लोक में इस पापसूदनतप की प्रवृत्ति चली ।

तपशास्त्र एक स्वतन्त्र शास्त्र है उसमें महापुरुषों ने पापक्षय के लिये विविध तपों की व्याख्या की है । इस प्रकार से तप करते हुये आत्मा विशेष शुद्ध हो जाती है ॥१३५॥

पूर्वसेवा में अन्तिम, मुक्ति में अद्वेष को अब कहते है:-

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंक्लेशवर्जिता ।
भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबन्धनः ॥१३६॥

अर्थ : संपूर्ण कर्मों का क्षय होने पर, भोग और क्लेश से रहित (ऐसी) मुक्ति प्राप्त होती है (लेकिन) भवाभिनन्दी प्राणियों को इसमें (मुक्ति में) द्वेष (होता है वह) अज्ञान मूलक है ॥१३६॥

विवेचन : जब ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि संपूर्ण आठ कर्मों का क्षय हो जाता है। जब आत्मा संपूर्ण कर्म मल से मुक्त होकर सच्चिदानन्द का अनुभव करती है तब वह मुक्ति को प्राप्त करती है। मुक्ति में न तो पुण्य प्रकृति जन्य सुखभोग होते हैं और न ही पापजन्य क्लेश होते हैं, क्योंकि पुण्य और पाप दोनों ही संसार-वृद्धि के कारण है। भोग याने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द के अनुकूल विषयों को भोगने का साधन; इन्द्रियाँ और भोग्य पदार्थ जो कञ्चन, कामिनी, महल, शय्या, अनुकूल खाद्य पदार्थ, वस्त्र आदि अज्ञानी आत्मा को प्रिय है; उसका लाभ लेना अच्छा लगता है और क्लेश का कारण रोग, शोक, दरिद्रता, असौभाग्य, अदृष्ट कल्याणता, नरक उत्पत्ति, दास्यभाव आदि आत्मा को अनिष्ट लगते हैं, बुरे लगते हैं। पुण्य के भोग सुखकारी होने पर भी संसार के बन्धन में कारण होने से दुःखकारी कारण है और क्लिष्ट कर्म क्लेश का कारण होने से, दोनों ही त्याज्य हैं। मोक्षावस्था में (सुख के कारणभूत अनुकूल भोग और प्रत्यक्ष दुःख-क्लेशों) उनका सर्वथा अभाव होता है। मुमुक्षु, सुख और दुःख, पुण्य और पाप को बन्धन कारक समझकर दोनों को छोड़ना चाहता है, परन्तु भवाभिनन्दी जीवों को असार संसार के कृत्रिम सुखों पर ही आसक्ति होती है और वे उसी में ही आनन्द मानते हैं इसलिये शरीर, मन और इन्द्रियों के बाह्य भोग में रत होने से (शाश्वत् सुख देने वाली) मुक्ति में वे लोग द्वेष करते हैं। उनका द्वेष अज्ञान मूलक है। मिथ्यात्वरूप अन्धकार गाढ़ होने के कारण वस्तुस्वरूप को यथार्थ समझने में वे असमर्थ होते हैं। मोक्ष का वास्तविक स्वरूप वे समझते नहीं, यही कारण है अन्यथा स्वभाव ही से सुन्दर वस्तु में विद्वान् को जरा भी द्वेष करने का कारण नहीं ॥१३६॥

श्रूयन्ते चैतदालापा लोके तावदशोभनाः ।
शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्याः सदा सताम् ॥१३७॥

अर्थ : लोक में तथा (लौकिक) शास्त्रों में मूढ़जनों के ऐसे अशोभनीय आलाप (मुक्ति-द्वेषजनक वचन) सुने जाते हैं जो कि सज्जन-सन्तपुरुषों को तो सुनने के योग्य भी नहीं होते ॥१३७॥

विवेचन : लोक में तथा स्मृति, पुराण आदि लौकिक शास्त्रों में भी, कुछ मूढ़जनों ने यानी तत्त्व के प्रति व्यामोह रखने वाले मूर्खजनों ने सज्जनों के मुख पर न शोभे ऐसी गन्दी अशोभनीय बकवास की है कि सन्तपुरुषों को, ऋषियों को तो उसे सुनना भी पसन्द नहीं। जैसे –

जइ तत्थ नत्थि सीमंतिणीओ मणहरपियंगुवन्नाओ ।
ता रे सिद्धान्तिय ! बन्धणं खु मोक्खो न सो मोक्खो ॥

यदि तत्र नास्ति सिमन्तनीका मनोहरप्रियंगुवर्णी ।
तस्मात् रे सिद्धान्तिक ! बन्धनं मोक्षो न स मोक्षः ॥

अगर वहां प्रियंगु वर्णी स्त्रियों का समागम न हो तो सर्वकर्म अभावरूप, जैन सिद्धान्तानुसार माना हुआ वह मोक्ष, वास्तविक मोक्ष नहीं अपितु बन्धन है, कैदखाना है । विषयमार्गों में अत्यन्त आसक्त गिद्ध प्रकृति वाले मूर्ख पण्डितों की यह मान्यता और उनके ये आलाप, नित्य परमात्मा के ध्यान में रहने वाले महर्षियों को कान में सुनना भी पसन्द नहीं, क्योंकि बाह्यविषयों में अत्यन्त आसक्त और यथार्थ सत्यबोध से वञ्चित प्राणियों की यह दशा दयनीय है ॥१३७॥

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमाभिवाञ्छितम् ।
न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ॥१३८॥

अर्थ : रमणीय वृन्दावन में श्रृंगाल(सियार) का अवतार लेना इष्ट है, परन्तु हे गौतम ! अविषय मोक्ष तो कदापि भी वाञ्छनीय नहीं ॥१३८॥

विवेचन : यमुना नदी के किनारे सुन्दर ऐसे वृन्दावन में श्रृंगाल(सियार) का अवतार लेना अच्छा है; क्योंकि वहाँ सुन्दर युवती गोपालकों का मुख देखने को मिले; उनकी सुन्दर क्रीडा, संगीत आदि सब सुनने की मिले, इसलिये वहाँ पर श्रृगाल का जन्म भी मिल जाय तो हरकत नहीं परन्तु जहां कोई विषयभोग नहीं, संगीत, वस्त्र, भूषण, नाटक, नृत्य आदि मन को उल्लसित करने वाला कुछ नहीं, देखने-सुनने को इन्द्रियजन्य विषय नहीं, कोई हलन-चलन नहीं, ऐसे मोक्ष की प्राप्ति किसी भी अवस्था में वाञ्छनीय नहीं ।

गालवऋषि अपने शिष्य गौतम को सम्बोधित करके उपरोक्त बात कहते हैं ॥१३८॥

महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥१३९॥

अर्थ : महामोह से अभिभूत पीड़ित तथा अशुभप्रवृत्ति करने वाले मनुष्यों को यहां (मोक्ष और मोक्ष के साधनरूप योग के सम्बन्ध में) ऐसा (उपरोक्त) द्वेष होता है, जो उनकी संसार वृद्धि का हेतु हैं ।

अथवा

महामोह से घिरे हुये, अशुभ प्रवृत्ति वाले मनुष्यों को यहाँ (मोक्ष में), ऐसा संसार को बढ़ाने वाला द्वेष होता है ॥१३९॥

विवेचन : मोक्ष तथा उसके साधन योगरूप ज्ञान, दर्शन, चारित्र पर तथा योग का उपदेश

देने वाले योगीन्द्रों पर जिनको प्रकृष्ट द्वेष-तिरस्कार होता है, वे महा भयंकर, मोह रूप मिथ्यात्व, अविरति, कषाय के अशुभयोगों में इतने डूबे हुये होते हैं कि उनकी मति-बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। उनकी बुद्धि उल्टी होने से उनकी प्रवृत्ति भी अशुभ, अकल्याणकारी होती है। शुभ कल्याणकारी कार्य करने का उनका मन ही नहीं होता। ऐसे लोगों का परमपुरुषार्थ मोक्ष में ऐसा द्वेष अनन्त संसारवृद्धि का कारण होता है। मोहमाया और अशुभयोगों से भान भूले हुये मनुष्य की यह मानसिक स्थिति है। ऐसा व्यक्ति अपनी अज्ञानता से अनन्तसंसार को बढ़ा लेता है, अतः मुक्तिद्वेष अज्ञानतामूलक है। जिस व्यक्ति को अपने स्वरूप का भान हो जाता है उसे कभी ऐसा नहीं होता। अत्यन्त गाढ़ अथवा मिथ्यात्वरूप मोहमाया में फंसे हुये, अपना भान भूले हुये, और अशुभ कार्यों में ही निमग्न रहने वाले अज्ञानी मनुष्यों को, परम पुरुषार्थ मोक्ष में ऐसा द्वेष होता है। उनका द्वेष अनन्त संसार को बढ़ाने वाला होता है। अतः उनका मुक्तिद्वेष अज्ञानमूलक है। आत्मस्वरूप को जानने वाले दोषों से रहित पुरुषों को ऐसा द्वेष नहीं होता। ऐसे अशुभ अध्यवसायों से संसार बढ़ता है ॥१३९॥

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्त्तिताः ।
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभागिनः ॥१४०॥

अर्थ : जिनको वहाँ (मुक्ति में) द्वेष नहीं, वे धन्य हैं तथा भवबीज (रागद्वेषादि) के परित्याग से कल्याण के भागी हैं ॥१४०॥

विवेचन : जिन आत्माओं का संसार अर्धपुद्गलपरावर्त से भी कम शेष हो अथवा दो, तीन संख्याता भव में मोक्ष जाने वाले ऐसे जीवों को ही मोक्ष में द्वेष नहीं होता। उनको तो मोक्ष का उपदेश सुनते ही और उसका स्वरूप समझते ही मोक्ष और मोक्ष के साधनरूप योग क्रिया-अनुष्ठान पर अत्यन्त प्रीति पैदा होती है। ऐसे भव्य जीवों को धन्य कहा हैं क्योंकि वे भवबीज-रागद्वेषादि दोषों को सर्वथा क्षीण करके, तीर्थंकरादि पद प्राप्ति द्वारा मोक्षरूप-कल्याण के अधिकारी होते हैं ॥१४०॥

सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः ।
मलनायैव तत्रापि न चेष्टैषां प्रवर्तते ॥१४१॥

अर्थ : सम्यक् ज्ञानादि जो मुक्ति का उपाय कहा है, उनके विनाश के लिये इनकी (भव्यजीवों की) चेष्टा नहीं होती ॥१४१॥

विवेचन : "सम्यक् दर्शन ज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः", जैनसिद्धान्तों में हमारे आप्तपुरुषों ने मुक्ति का यह उपाय बताया है। मुक्ति के प्रति जिनको द्वेष नहीं, ऐसी भव्यात्माओं को मन,

वचन और काया की सर्वप्रवृत्ति, उन गुणों के विनाश के लिये नहीं होती अर्थात् वे लोग जिस प्रवृत्ति से आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप गुणों का विनाश होता हो ऐसी प्रवृत्ति से हमेशा दूर रहते हैं, बचकर रहते हैं और सत्प्रवृत्ति से आत्मगुणों को प्रकट करने में सतत् उद्यमशील रहते हैं ॥१४१॥

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।
मलनातस्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥१४२॥

अर्थ : जैसे इनकी (आत्मगुणों की) सम्यक् आराधना से सर्वोत्कृष्ट फल (मोक्ष) कहा है; उसी प्रकार उनके (सम्यक् ज्ञानादि आत्मगुणों के) विनाश से अनर्थ भी महान् होता है ॥१४२॥

विवेचन : मोक्ष को सर्वोत्तम फल कहा है क्योंकि संसार में सभी पौद्गलिक सुख क्षणिक है, परन्तु मोक्ष का जो सुख है वह शाश्वत-नित्य रहने वाला है । सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्रादि आत्मा के गुणों की सम्यक् आराधना से जब पूर्ण विकास हो जाता है अर्थात् सर्वमल नष्ट हो जाता है और सर्वशुद्धावस्था प्राप्त होती है तब मनुष्य सर्वोत्तम फल मोक्ष को प्राप्त करता है । उसी प्रकार उन गुणों के विनाश से अनर्थ भी बहुत होता है, क्योंकि कर्ममल के कारण ही तो मनुष्य दुःखदायी अनेक नरकादि पामर योनियों तथा गतियों में भटकता है और महान दुःख रूप अनर्थ को पाता है ॥१४२॥

उत्तुङ्गारोहणाद् पातो विषान्नात् तृप्तिरेव च ।
अनर्थाय यथाऽत्यन्तं मलनाऽपि तथेक्ष्यताम् ॥१४३॥

अर्थ : अति ऊँचे पर्वत शिखर से गिरना और विषमिश्रित अन्न से तृप्त होना, जिस प्रकार अत्यन्त अनर्थ के लिये होता है; मल के लिये भी वैसा ही समझें ॥१४३॥

विवेचन : अति ऊँचे पर्वत शिखर से गिरना और विषमिश्रित भोजन करना जैसे उसके जीवन विनाश (पीडायुक्त कुमरण) का कारण होता है । उसी प्रकार जीवहिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार परिग्रह, अभक्ष्य-भक्षण, रात्रिभोजन, असत्य बोलना, भावना पापोपदेश (कुगुरु, कुधर्म, कुदेव की आराधना), मिथ्यात्व, कषाय, अशुभयोग आदि एवं जीव हिंसारूप कर्ममल भी अनर्थकारी है । मल-कर्ममल तो ऐसा अनर्थ करने वाला है कि मनुष्य के असंख्यात् भवों को बिगाड़ देता है, क्योंकि अनादि काल से उसका ऐसा स्वभाव चला आता है ।

जैन सिद्धान्तानुसार उपरोक्त मृत्यु को बालमरण कहते हैं । बालमरण से मनुष्य का संसार बढ़ता है इहलोक-परलोक दोनों बिगड़ते हैं । क्योंकि उसके मूल में अज्ञानता है, ऐसा माना गया है । इसलिये इसकी मल के तौर पर उपमा उपयुक्त ही दी हैं ॥१४३॥

अत एव च शस्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।
श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥१४४॥

अर्थ : इसीलिये महात्माओं ने शास्त्र में श्रामण्यदुर्ग्रह को शस्त्र, अग्नि और व्यालदुर्ग्रह की भाँति अशुभ परिणाम वाला कहा है ॥१४४॥

विवेचन : चूंकि मुक्ति का उपाय जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। उसकी मलिनता अर्थात् उन गुणों का विनाश महान् अनर्थ को करने वाला है, इसीलिये महापुरुषों ने शास्त्र में श्रामण्यदुर्ग्रह को यानि असम्यकत्व अंगीकार को अशुभ परिणामी कहा है, अर्थात् उसका परिणाम-अन्त अकल्याणकारी होता है। जैसे गलत तरीके से पकड़े हुये शस्त्र, अग्नि और सांप द्वारा कारा जाना, जलाना और दंश रूप अशुभ परिणाम को लाते हैं उसी प्रकार श्रामण्य-चारित्र और उसका दुर्ग्रह - गलत तरीके से ग्रहण करना अर्थात् उसके परमार्थ - वास्तविक लक्ष्य को भूलकर, सांसारिक - पौद्गलिक सुखों और एषणाओं के लिये ग्रहण करना भी अशुभ है, महाअनर्थ को करने वाला है। हमारे आप्त पुरुषों ने श्रामण्यधर्म का सार उपशम बताया है। उपशम मोक्ष का कारण होता है। श्रामण्यधर्म का वास्तविक लक्ष्य जो मोक्षप्राप्ति है; वीतराग देवों की आज्ञा है; उसे न मानकर, उस पर श्रद्धा न रखकर केवल मेरी पूजा हो, महिमा हो, मेरी यशकीर्ति बढ़े ऐसी लोक एषणा का मलिन आशय रखकर, जो चारित्र की विराधना करता है, तप, जप, अनुष्ठान रूप क्रियाएँ करता है वे केवल कायक्लेश का कारण होती हैं। क्योंकि संसार भ्रमण का कारण मिथ्यात्व, कषाय, प्रमाद, अशुभ योग वैसे के वैसे ही ढंके पड़े रहते हैं, उनका सर्वथा विनाश नहीं होता बिना सम्यक्त्वप्राप्ति के सभी धर्मानुष्ठान व्यर्थ है कहा भी है :-

जह चेव उमोक्खफला, आणा आराहिआ जिणिंदाणं ।
संसारदुक्खफलया तह, चेव विराहिया नवरं ॥ [पंचवस्तु-११९]

जैसे जिनवर की आज्ञा के आराधक को, वह आराधना मोक्षफल का हेतु है; परन्तु जिनवर की आज्ञा के विराधकों को, वही आराधना संसार दुःख का कारण होती है ।

जैसे शस्त्र, अग्नि और सांप को गलत तरीके से पकड़ना अशुभ के लिये होता है वैसे ही श्रामण्य-चारित्र का दुर्ग्रह गलत उपयोग दुरूपयोग भी नरकादि अशुभ परिणाम को लाने वाला है। इसलिये श्रमणधर्म का अंगीकार समयग् दृष्टि पूर्वक करना चाहिये। लोक—एषणा के लिये तप, जप, आतापना आदि करना चारित्र का दुरूपयोग है, चारित्र की विराधना ही है। ॥१४४॥

कुछ लोग शंका करते हैं कि जब दुराग्रही श्रमण धर्म श्रामण्य (दुर्ग्रह) की आराधना से सुरलोक की प्राप्ति होती है फिर इसे दुर्गति का कारण क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर देते है :-

ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं नातः श्लाघ्या सुनीतितः ।
यथाऽन्यायार्जिता संपद् विपाकविरसत्वतः ॥१४५॥

अर्थ : ग्रैवेयक देवलोक की प्राप्ति भी, इस प्रकार परिणाम के विमर्श-विचार से, श्लाघ्य नहीं है जैसे कि अन्याय से उपार्जित सम्पत्ति परिणाम में दुःखदायी होती है ॥१४५॥

विवेचन : सम्यक्त्व के बिना केवल धन-सम्पत्ति, वैभवविलास, यशकीर्ति आदि भौतिक सुखों के लोभ से की गई आराधना, तप, जपादि-धर्मानुष्ठान आदि से मनुष्य कभी सबसे ऊँचे स्वर्ग ग्रैवेयक की प्राप्ति भी कर ले, फिर भी महापुरुषों ने उसे सराहनीय नहीं कहा है, क्योंकि उसका परिणाम-अन्त दुःखदायी है । जैसे अन्याय, जीवहिंसा, चोरी, जुआ, व्यभिचार, विश्वासघात, स्वामीद्रोह से कभी मनुष्य धनवान बन भी जाय; सम्पत्तिशाली बन भी जाय फिर भी वह निन्दनीय है और उसका परिणाम दुर्गति की प्राप्ति है क्योंकि अन्याय से प्राप्त धन रौद्रध्यान मूलक होने से दुर्गति में ले जाता है । इस लोक में वह भले ही मौज-मजा ले ले, परन्तु अन्त में उसके दुष्कृत्य उसे दुर्गति रूप दुःख के गड्ढे में डाल देते हैं । इसी प्रकार अभव्य, भवाभिनन्दी प्राणी सम्क्त्व श्रद्धा से विहीन होते है । इसलिये उनका ऊँचे से ऊँचा धर्मानुष्ठान भी अधिक से अधिक ग्रैवेयक नामक स्वर्ग की प्राप्ति करवा देता है । परन्तु जब उनका पुण्य समाप्त हो जाता है तब पुनः वे अपने दुष्कर्मों से नरक, निगोद, वनस्पतिरूप दुःखदायी योनियों में आ गिरते हैं । जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, मनुष्य मोक्ष में नहीं जा सकता । इतने ऊँचे देवलोक में जा कर भी वह वापिस उसी दुःखमय संसार सागर में आ कर भटकता है । परिणाम भयंकर होने से महापुरुषों ने समकित रहित क्रिया को हेय और निन्दनीय कहा हैं । श्रीदेवचन्द्रजी ने समकित की सज्झाय में सुन्दर कहा है ।

समकित नवि लह्युं रे, ऐ तो रूल्यो चतुर्गति मांहि ॥

मोक्ष के प्रति अश्रद्धाशील जीवों को पापानुबंधी पुण्य से कदाचित ऊँचा देवलोक ग्रैवेयक मिल भी जाय परन्तु मोक्ष का जो उपादान कारण समकित की प्राप्ति है, वह उसे प्राप्त नहीं होती। इसीलिये उनका संसार चक्र चालू रहता है । कोल्हू के बैल की भाँति परिणाम कुछ नहीं आता और परिश्रम व्यर्थ जाता है । इतने कायक्लेश-देहिक कष्ट सहन करने पर भी अगर दृष्टि निर्मल नहीं, तो उसकी कोई कीमत नहीं ॥१४५॥

अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभावोऽत्र तत्त्वतः ।
हितस्तु यत् तदेतेऽपि तथा कल्याणभागिनः ॥१४६॥

अर्थ : इस प्रकार से यहाँ (मोक्ष में) द्वेष का अभाव ही वास्तविक (मोक्षमार्ग की प्राप्ति के लिये) हेतु कारक है (द्रव्य क्रिया नहीं), ऐसे लोग ही कल्याण के भागी होते हैं ॥१४६॥

विवेचन : इस प्रकार मोक्ष में द्वेष का अभाव अर्थात् मोक्ष की श्रद्धा ही चारित्रशुद्धि का वास्तविक कारण है, द्रव्य क्रिया नहीं । जो मोक्ष में संपूर्ण श्रद्धा रखते हैं, वे ही चारित्रशुद्धि द्वारा

कल्याण-मोक्ष को प्राप्त करने के लिये भाग्यशाली होते हैं । मोक्ष की श्रद्धा बिना सर्वधर्म क्रिया गोबर पर लिंपन जैसा है श्री आनन्दघनजी ने भगवान अनन्तनाथजी के स्तवन में कहा है :-

शुद्ध श्रद्धान विन सर्व किरिया करी
छार पर लींपनु तेह जानो ।

कदाचित किसी परिस्थितिवश कुछ त्याग न कर सके परन्तु श्रद्धा तो हमेशा मनुष्य को दीपक के समान मार्गदर्शक है, उससे मनुष्य मार्ग भूलता नहीं, मार्ग से भटकता नहीं ॥१४६॥

येषामेवं न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥१४७॥

अर्थ : जिनको मुक्ति आदि में द्वेष नहीं अर्थात् प्रेम है वे गुरु आदि का विधिपूर्वक पूजन करते हैं (मुक्तिद्वेषरूप) महादोष वाले अन्य नहीं ॥१४७॥

विवेचन : मुक्ति आदि शब्द से मुक्त, मुक्तिमार्ग तथा तत् सम्बंधी शास्त्र के प्रति जिनको द्वेष नहीं, अर्थात् उनके प्रति प्रेम है; वे ही सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की सेवा भक्ति, पूजा, आराधना आदि वास्तविक, संपूर्ण, शुद्ध हृदय से विधिपूर्वक करते हैं। ऐसे चरमावर्ती भव्य जीवों को ही वास्तविक अध्यात्म की प्राप्ति होती है। लेकिन जिनको मुक्ति, मुक्त, मुक्तिमार्ग, मुक्ति सम्बंधी शास्त्रों के प्रति द्वेष है; अरुचि है, ऐसे महान दोष वाले प्राणी, अभी अन्तिम परावर्त से बहुत दूर हैं। इसलिये उनको योग की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिनको मुक्ति आदि के प्रति अनादर है, वे बाह्यरूप से चाहे कितनी ही उत्कृष्ट क्रिया करें, लेकिन मुक्ति आदि में अनादर रूप भयंकर दोष होने से, अपने संसार को ही बढ़ाते हैं। उनकी बाह्य क्रिया का कोई महत्त्व नहीं होता ॥१४७॥

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥१४८॥

अर्थ : महान् दोष वाले का थोड़ा सा भी सदनुष्ठान भौतहन्ता के पादस्पर्श के निषेध की भाँति व्यर्थ है (उसका कोई अर्थ नहीं) ॥१४८॥

विवेचन : महान अपराधी कभी थोड़ा सा अच्छा काम भी कर ले, तो भी उसकी कोई कीमत नहीं होती। वह भौतहन्ता के पादस्पर्श के निषेध की भांति बिल्कुल अर्थहीन है। इस दृष्टान्त में एक छोटी सी कहानी निहित है। जंगल में शबरी लोग और तपस्वी भी रहते थे। तपस्वियों के मुख से शबरी लोगों ने सुना था कि जो गुरु हमारे पूजनीय है; आदरणीय हैं; उनके चरणों का मारने की बुद्धि से स्पर्श नहीं करना चाहिये। मारने की बुद्धि से उनके चरणस्पर्श करने से महान्

पाप लगता है। एकदा शबरी लोगों को मोरपंखों की जरूरत पड़ी; मोरपंख तपस्वियों के पास थे, परन्तु उनसे माँगने पर तपस्वियों ने देने के लिये इन्कार कर दिया। शबरियों के राजा को बहुत क्रोध आया और उसने अपने साथी भीलों को, तपस्वियों से मोरपंख लाने की आज्ञा फरमाई। परन्तु साथ में यह भी कहा कि उनके पाद को स्पर्श नहीं करना, ताकि महापाप न लगे। भीलों ने जाकर पैरों को छुये बिना तपस्वियों को मार दिया। अब ऐसे पादस्पर्श के निषेध का क्या उपयोग ? जैसे वह व्यर्थ है वैसे ही महान् दोष वाला, जिसको मुक्ति में द्वेष है; जिसके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और प्रमाद अशुभ योग क्षीण नहीं हुये; सम्यक् दर्शन के बिना वह चाहे कितनी ही कष्टदायी धर्मक्रिया कर ले, उसका कोई अर्थ नहीं, उपयोग नहीं। जैसे गुरु के चरण स्पर्श निषेधरूप गुण को सम्भालते हुये भी गुरु को मार देने के महान दोष के सामने वह नगण्य है, उसी प्रकार सम्यक् दृष्टि रहित धर्म की सर्व क्रिया का कोई महत्त्व नहीं ॥१४८॥

गुर्वादिपूजनान्नेह तथा गुण उदाहृतः ।
मुक्त्यद्वेषाद् यथाऽत्यन्तं महापायनिवृत्तितः ॥१४९॥

अर्थ : यहाँ (पूर्व सेवा में) गुरु आदि के पूजन से (आप्त पुरुषों ने) इतना लाभ नहीं बताया (आप्तपुरुषों ने) जितना कि अत्यन्त महान् अनर्थ को दूर करने वाले मुक्ति के अद्वेष से बताया है ॥१४९॥

विवेचन : अध्यात्म योग के अंगरूप जो पूर्वसेवा-गुरूपूजनादि तथा मुक्ति-अद्वेष आदि को बताया है, उनमें ग्रंथकर्ता मुक्ति के अद्वेष को अधिक महत्त्वपूर्ण बताते हैं, क्योंकि मुक्ति का अद्वेष संसार-रूपी अनर्थ को दूर करता है। लेकिन जिसको मुक्ति आदि के प्रति द्वेष है, वह चाहे कितनी ही ऊँची गुरु पूजन आदि धर्मक्रिया कर ले फिर भी वह क्रिया मोक्ष का कारण न होकर, संसारवृद्धि का ही कारण बनती हैं। क्योंकि मुक्ति का द्वेष ही संसार के प्रति उसके राग को प्रकट करता है। संसार बहुत बड़ा अनर्थ है, और संसार का राग तो संसार ही बढ़ाता है, घटाता नहीं है उसके दुःख का भी अन्त नहीं आता। इसलिये मुक्ति में अद्वेषपूर्वक, अर्थात् प्रेम पूर्वक की गई गुरु धर्म आदि की आराधना ही कल्याण करने वाली है, अन्य नहीं ॥१४९॥

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः ।
साध्वनुष्ठानमेवाहुर्नैतान् भेदान् विपश्चितः ॥१५०॥

अर्थ : बुद्धिमानों ने भवाभिष्वंग भाव से (संसार की आसक्ति से) तथा अनाभोग (विवेकहीन) योग से (किये जाने वाले) इन भेदों को (आगे बताये जाने वाले विषादि तीन प्रकार के अनुष्ठानों को) सदनुष्ठान नहीं कहा है ॥१५०॥

विवेचन : आप्तपुरुषों ने विविध प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान बताये हैं । उनमें तीन प्रकार के जो विषादि अनुष्ठान मनुष्य सांसारिक धन सम्पति, वैभव विलास, यशकीर्ति आदि प्रलोभनों में आकर करता है और ओघप्रवाह से गतानुगतिक न्याय से करता है । उनकी धर्मक्रिया संमुर्च्छिम प्राणियों जैसी होती है, अर्थात् उनमें विवेक का अभाव होता है इसलिये बुद्धिमानों ने ऐसी धार्मिक क्रिया को अच्छा नहीं बताया है ॥१५०॥

इहामुत्रफलापेक्षा, भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥१५१॥

अर्थ : इहलोक और परलोक के फल की अपेक्षा को भवाभिष्वंग संसार की आसक्ति कहा है और अनध्यवसाय को अनाभोग कहते हैं ॥१५१॥

विवेचन : इस लोक में सुख, सम्पत्ति, यशकीर्ति आदि की लालसा से तथा परलोक में इन्द्र, देवेन्द्र सम्बंधी भोगों की लालसा से किये जाने वाले धार्मिक अनुष्ठानों को महापुरुषों ने भवाभिष्वंग नाम दिया है । क्योंकि उस प्रकार की, की जानेवाली सभी धर्म क्रियाओं के पीछे संसार के प्रति राग-आसक्ति रही हुई हैं, इसलिये वह संसार को बढ़ाती है । अनध्यवसाय-अध्यवसाय जिसमें न हों अर्थात् विवेकविहीन देखा-देखी, गतानुगतिक न्याय से तथा ओघ प्रवाह से की जाने वाली धार्मिक क्रिया को महापुरुषों ने अनाभोग नाम दिया है । संमुर्च्छिम प्राणियों में जैसे मन नहीं होता उसी प्रकार इन संज्ञी जीवों की क्रियाओं में मन होने पर भी मन का कोई उपयोग नहीं होता है, इसलिये ऐसी अनाभोग क्रिया को केवल द्रव्यानुष्ठान कहते हैं, और इन अनुष्ठानों को उपादेय नहीं बताया गया है अपितु हेय कहा है ॥१५१॥

एतद्युक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद्ध्रुवम् ।
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजाल्पमलत्वतः ॥१५२॥

अर्थ : उपर्युक्त (भवाभिष्वंग और अनाभोग) अनुष्ठान अन्य आवर्तों में ही होता है। स्वभावतः ही (कर्म) मल अल्प रह जाने से चरमावर्त में तो इससे अन्यथा जानें ॥१५२॥

विवेचन : उपर्युक्त भवाभिष्वंग और अनाभोग आदि नाम से बताये गये धार्मिक अनुष्ठानों के मूल में संसार के प्रति तीव्र आसक्ति, प्रमाद और अज्ञानता होती है, इसलिये ऐसे संसारवर्धक धार्मिक अनुष्ठान चरमावर्त से अन्य आवर्तों में होते हैं । अर्थात् जीव जब चरमावर्त से अन्य आवर्तों में भ्रमण करता है तब उसके अध्यवसाय निम्नकोटी के होते हैं । कषायों का जोर होता है । मोक्ष के प्रति द्वेष होता है । संसार के पौद्गलिक सुखों को ही वह परम सुख समझता है । इसलिये उसके धार्मिक अनुष्ठान अशुद्ध होते हैं परन्तु अन्तिम पुद्गलपरावर्त में जीव की कर्मबंधन की योग्यता में

परिवर्तन हो जाता है; आत्मा का मल सहज ही अल्प हो जाने से परमार्थभाव की योग्यता प्रगट होती है; शास्त्रविहित मोक्षस्वरूप के प्रति श्रद्धा पैदा होती है और विष, गरल आदि अनुष्ठानों को हेय समझ कर, उनका त्याग कर देता है। सभी धार्मिक देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप आदि अनुष्ठानों का लक्ष्य आत्मशुद्धि, कर्मनिर्जरा और मोक्ष होता है। संक्षेप में ग्रंथ कर्ता ने इस श्लोक में कौन से प्राणी चरमावर्त में हैं ? और कौन से अचरमावर्त में हैं ? उनके लक्षण बताये हैं। चरमावर्ती प्राणी को ही योग की प्राप्ति होती हैं। योग से तात्पर्य मोक्षलक्षी अध्यात्मयोग से हैं ॥१५२॥

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।
सरुजेतरभेदेन भोजनादिगतं यथा ॥१५३॥

अर्थ : एक ही अनुष्ठान कर्ता भेद से भिन्न हो जाता है, जैसे भोजनादि रोगी और निरोगी भेद से भिन्न हो जाता है ॥१५३॥

विवेचन : एक ही प्रकार के देवपूजा, गुरुभक्ति, साधर्मिक वात्सल्य, व्रत, पच्चखाण, तप, जप आदि धार्मिक अनुष्ठान बाह्यरूप से समान दिखाई देने पर भी कर्ता के अध्यवसाय-परिणाम, भावना, अभिप्राय के भेद से भिन्न हो जाते हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न फल देते हैं, क्योंकि "यादृशी भावना यस्य सिद्धि-र्भवति तादृशी" अनुष्ठान एक ही होता है लेकिन सभी लोग अपने-अपने अध्यवसाय-परिणामों की जैसी-जैसी शुद्धि–अशुद्धि होती है, वैसा-वैसा फल प्राप्त करते हैं। जैसे भोजन, असन, पान, मिष्टान आदि में तुष्टि पुष्टि देने की समानशक्ति होने पर भी, वह भोजन रोगी को दुःख कर अर्थात् रोग की वृद्धि का कारण बनता है और निरोगी स्वस्थ मनुष्य को शक्तिवर्धक और पुष्टिकारक सिद्ध होता है। दूध स्वस्थ व्यक्ति को शक्ति देता है परन्तु वही दुध अतिसार वाले को दुःखी करता हैं ॥१५३॥

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा ।
विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥१५४॥

अर्थ : इस प्रकार (अध्यवसाय भेद से) योगियों ने यहाँ (योगबिन्दु ग्रंथ में) विषादि अनुष्ठानों को सामान्यरूप से पांच प्रकार का बताया हैं ॥१५४॥

विवेचन : (हमारे) योगवेत्ता आप्त पुरुषों ने इस योगबिन्दु ग्रंथ में अध्यवसाय (भावना के) भेद से इन अनुष्ठानों के सामान्य पांच भेद किये हैं। इन अध्यवसायों द्वारा ही मनुष्य की वास्तविक पहचान होती है कि वह चरमावर्ती है ? या अचरमावर्ती है ? कौन से अनुष्ठान हेय हैं ? कौन से उपादेय हैं ? इनका विस्तृत विवेचन ग्रंथकार ने आगे आने वाले श्लोकों में किया है ॥१५४॥

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुरमृतं परम् ।
गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥१५५॥

अर्थ : गुरु आदि की पूजारूप अनुष्ठान, अध्यवसाय की अपेक्षा से विष, गरल, अननुष्ठान, तदहेतु और अन्तिम अमृत (ये पांच प्रकार हैं) ॥१५५॥

विवेचन : महापुरुषों ने गुरुभक्ति, देवपूजा, तप, जप, साधर्मिक वात्सल्य रूप आदि सभी अनुष्ठानों को अध्यवसायभेद से विष, गरल, अननुष्ठान, तद्हेतु और अमृत इन पांच भागों में बाँट दिया है। विष-क्रिया किसे कहते हैं, गरल क्रिया क्या होती हैं, अननुष्ठान तद्हेतु आदि सभी का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है ॥१५५॥

विषं लब्ध्यारूपेक्षात इदं सच्चित्तमारणात् ।
महतोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लधुत्वापादनात् तथा ॥१५६॥

अर्थ : आत्मा के शुद्ध अध्यवसायों का लब्ध्यादि की अपेक्षा से जो मारण विनाश हैं, वह अल्प लाभ के लिये महा प्रयास (जैसा) लघुता लाने वाला (पट) विष है ॥१५६॥

विवेचन : जगत में मेरा मान बढ़े, यश कीर्ति फैले, चमत्कार करने की शक्ति प्रकट हो और लोग मेरी आज्ञा अनुसार चले इत्यादि लब्धियों की प्राप्ति के लिये जो सेवा, पूजा, भक्ति, तप, जप आदि अनुष्ठान किये जाते हैं, उसे विषअनुष्ठान कहते हैं, वह भाव विष है। जैसे विष जीवित प्राणी के प्राणों को तात्कालिक नष्ट कर देता हैं, उसी प्रकार विषानुष्ठान आत्मा के परम शुद्ध अन्तःकरण को मलीन कर देता हैं। उसके शुद्ध अध्यवसायों का नाश करता है, जिससे उसके अनन्त जन्म-मरण बढ़ जाते हैं। ऐसा अनुष्ठान जीव की संसार वृद्धि का कारण बनता है तथा जिस तप, जप, व्रत, पच्चखाण आदि से आत्मा के शुद्ध परिणामों द्वारा बड़ा लाभ आत्मदर्शन, आत्मशुद्धि, कर्मनिर्जरा, मोक्षप्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार आदि प्राप्त होने वाला था; वह बाह्य सुख कीर्ति लोक पूजादि रूप अत्यन्त तुच्छ क्षणिक, अशाश्वत लाभ प्राप्त करने की इच्छा करने से आत्मगुणों को हलका करने जैसा है। अर्थात् वह चिन्तामणिरत्न को छोड़कर, कंकर को ग्रहण करने जैसा है। ऐसी भावना से किया गया अनुष्ठान विष अनुष्ठान कहा जाता है। लोकेषणा, पुत्रेषणा और वित्तेषणा ये तीनों एषणाएँ मनुष्य के पतन का कारण बनती है। इसलिये महापुरुषों ने इन से दूर रहने की आज्ञा दी है ॥१५६॥

दिव्यभोगाभिलाषेण, गरमाहुर्मनीषिणः ।
एतद् विहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥१५७॥

अर्थ : देव सम्बंधी भोगों की अभिलाषा से जो धर्मानुष्ठान किये जाते हैं; वे आत्मा के शुद्ध परिणामों के नाशक और कालान्तर में (आत्मा के) अधःपतन का कारण होते हैं, इसलिये पण्डित लोग इसे गरल अनुष्ठान कहते हैं ॥१५७॥

अर्थात् दिव्यभोगों की अभिलाषा से किये गये धर्मानुष्ठान आत्मा के शुद्ध परिणामों को नाश

करते हैं और कालान्तर भवान्तर में आत्मा का पतन कराते हैं इसलिये बुद्धिमानों ने इसे गरल अनुष्ठान नाम दिया हैं ।

विवेचन : दिव्यभोगों की अभिलाषा से अर्थात् मैं स्वर्ग में जन्म लूं; दिव्यरूपवाली सुन्दर अप्सराओं का स्वामी बनूं; दिव्य भोगों को भोगुं; स्वर्ग में अपार सुखसम्पत्ति वैभव विलास, सुख के तमाम साधन मुझे प्राप्त हों । इस प्रकार की दिव्यभोगों की चित्त में अभिलाषा रखकर, जो व्यक्ति धर्मानुष्ठान-देवपूजा गुरुभक्ति, पंच महाव्रतों को धारण करे अथवा श्रावक के १२ व्रतों को धारण करे, दान दे, तप करे, जप करें, सर्वजीवों को प्रति दयाभाव रखें; परोपकार करे, इहलोक सम्बंधी सभी प्रकार के भोगों पर संयम रखें; उनकी अभिलाषा न करे; अनेक परिषह-कष्ट सहन करे, विविध प्रकार के अनुष्ठान करें तो भी बुद्धिमानों ने इसे गरल अनुष्ठान कहा है। क्योंकि विहीन नीति-अर्थात् शुद्ध परिणामों का घातक होने से तथा भविष्य में (भवान्तर में) आत्मा को भान भुलाने वाला होने से योगी इसे गरल अनुष्ठान कहते हैं। विष और गरल दोनों एक ही प्रकार के जहर हैं लेकिन विष जैसे तत्काल प्राण हरण करता है जबकि गरल धीरे-धीरे प्राणों का हरण करता है उसी प्रकार गरल अनुष्ठान तात्कालिक नहीं, भवान्तर में आत्मा को भान भूला देता है और उसके शुद्ध परिणामों का नाश करता है। इसलिये दोनों ही प्रकार के अनुष्ठान मनुष्य के पतन के कारण हैं इसलिये दोनों ही त्याज्य है। इहलोक सम्बंधी भोगों की अभिलाषा से जो धर्मक्रिया की जाती है वह विष कहलाती हैं क्योंकि उस का फल तात्कालिक मिल जाता है । गरल क्रिया परलोक सम्बंधी भोगों को लक्ष्य में रखकर की जाती है और वह भवान्तर में आत्मा के पतन का कारण बनती है । जिनको यथार्थ सम्यक् दर्शन नहीं हुआ वैसे दीर्घ संसारी भवाभिनन्दी जीवों को ही विष और गरल अनुष्ठान सम्भव है। जो जीव दो-तीन भवों में मोक्ष जाने वाले हैं उनको विष और गरल अनुष्ठान सम्भव नहीं है ॥१५७॥

अनाभोगवतश्चैतदननुष्टानमुच्यते ।
संप्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ॥१५८॥

अर्थ : विवेकशून्य व्यक्ति की धर्मक्रिया को अननुष्ठान कहा है क्योंकि उसका मन संप्रमुग्ध अर्थात् किंकर्तव्यमूढ़ है, जैसा कि पूर्व में कहा है ॥१५८॥

विवेचन : जिसका मन संप्रमुग्ध हैं; अनिश्चित अवस्था वाला है; वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्तियों की उपयोग बिना की धर्मक्रिया को अननुष्ठान कहा हैं, क्योंकि अनाभोग-जिस में मन का कोई उपयोग ही नहीं; इहलोक या परलोक सम्बंधी विचार करने की शक्ति ही नहीं जिसमें; जिनका मन किंकर्तव्यमूढ है; विवेकबुद्धिरहित, मूढ प्राणी गतानुगति न्याय से, देखादेखी गड़रियां प्रवाह की भाँति क्रिया अनुष्ठान करते हैं, परन्तु अध्यवसाय शुद्ध न होने से तथा क्रिया में उपयोग नहीं होने से वास्तव में वह अनुष्ठान ही नहीं होता । क्योंकि संप्रमुग्ध अर्थात्

संमुर्च्छिम प्राणियों की भांति अत्यन्त मोहदशा का उदय होने से ऐसे प्राणियों की चित्त की दशा अत्यन्त मूढ़ होती है। ऐसे अनुष्ठानों से आत्मा को कोई भी उत्तम लाभ नहीं मिलता। जैसे वीरा सालवी को कोई लाभ नहीं मिला:-

भगवान् श्री नेमिनाथजी द्वारका में समवसरण स्थित थे, तब श्रीकृष्ण ने भगवान को भावोल्लास पूर्वक बड़े राजकीय ठाठ से जुलूस के साथ पांच अभिगम पूर्वक उन्हें वन्दन किया। उनके साथ केवल, कौतुहल बुद्धि से, वीरा नामक किसी जुलाहे ने भी देखा-देखी वन्दन की चेष्टा की। श्री कृष्ण ने भगवान से प्रश्न किया कि देवगुरु के वन्दन से क्या लाभ होता हैं ? भगवान ने कहा, भावपूर्वक वन्दन करने वाला संसार का नाश करता है। इसलिये तुम आने वाली चौवीसी में अमम नामक १२वें तीर्थंकर बनोगे और मोक्षलक्ष्मी के अधिकारी बनोगे। फिर श्री कृष्ण ने पूछा मेरी भांति इस वीरा सालवी ने भी वन्दन किया है क्या उसे भी वैसा ही लाभ होगा ? तब भगवान् ने कहा कि उसने तो केवल काय-क्लेश ही किया है। उसकी वन्दन क्रिया में तुम्हारे जैसी भावना का अमृत नहीं था। अत: उसे अन्य लाभ नहीं मिल सकता। कारण, उपयोग बिना की क्रिया निष्फल है। इसलिये यह अनुष्ठान क्रिया भी हेय है, त्याज्य है। ऐसी विवेकशून्य अन्धक्रिया कभी-कभी घातक भी बन जाती है, इसलिये उसे महापुरुषों ने हेय बताया है ॥१५८॥

एतद्रागादिदं हेतु: श्रेष्ठो योगविदो विदु: ।
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगत: ॥१५९॥

अर्थ : पूर्वसेवादि (तात्त्विक अनुष्ठान) के उपर जो राग होता है, उसे योगविशारदों ने सदनुष्ठान का उत्तम हेतु कहा है क्योंकि उसमें शुभभाव-सद्भाव का अंश विद्यमान हैं॥१५९॥

विवेचन : चतुर्थ भेद है तद्हेतु क्रिया। इसमें मुख्य दो तथ्य हैं, एक तो मुक्ति-अद्वेष अर्थात् मुक्ति के प्रति राग; और दूसरा मुक्ति के लिये परम्परा से जो निमित्त कारण हैं तथा योग का जो मुख्य अंग पूर्वसेवादि (सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की आराधना रूप जो पूर्व सेवादि) है, उस पर परम, अपूर्व प्रेम, आदर, बहुमान पैदा होना और उसे जीवन में क्रियात्मक रूप देना, अर्थात् सत् की श्रद्धा और सत्य पर आचरण करना। सदनुष्टान का उत्तम हेतु होने से इसे हेतु कहते हैं। इसमें मुक्ति अद्वेषरूप सद्भाव का अंश रहता है, इसलिये वह सद्भाव का हेतु हैं। इसलिये योग विशारदों ने इसको सदनुष्ठान का मुख्य हेतु बताया है, क्योंकि यह मोक्षमार्ग का परम्परा से हेतु है। ऐसे अनुष्ठानों के मूल में व्यक्ति की शुद्ध भावना, शुद्ध अध्यवसाय का मुख्य ध्येय मोक्ष रहा हुआ है। मोक्ष के साथ सम्बंध कराने वाले सभी अनुष्ठान सराहनीय हैं ॥१५९॥

जिनोदितमिति त्वाहुर्भावसारमद: पुन: ।
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवा: ॥१६०॥

अर्थ : श्रेष्ठ मुनियों ने जिनेश्वर प्ररुपित, शुद्ध श्रद्धाप्रधान, अत्यन्त संवेगगर्भित (निर्वाणैकाभिलाषयुक्त) अनुष्ठान को अमृत क्रिया कहा है ॥१६०॥

विवेचन : सुदेव, सुगुरु, सुधर्म की सेवा-भक्ति रूप जो पूर्वसेवा है उसे जब खूब शुद्ध श्रद्धा पूर्वक अर्थात् इहलोक, परलोक सम्बंधी संपूर्ण वासनाओं, कामनाओं, आसक्तियों का त्याग करके, केवल निर्वाणाभिलाषा को अपना लक्ष्य बना कर, जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्ररूपित एवं उनकी आज्ञानुसार उच्चभावना तथा सत्य एवं श्रद्धा पूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है, उसे मुनिपुङ्गव महापुरुष अमृतक्रिया कहते हैं अर्थात् ऐसी क्रिया जन्म-मरण के दुःखों से मुक्त करवाती हैं। जब संसार की संपूर्ण आसक्ति दूर हो जाती है और केवल मुक्त होने की ही एकमात्र अभिलाषा रह जाती हैं, तब ऐसी स्थिति में जो धार्मिक अनुष्ठान किया जाता है वह अमृत जैसा शाश्वत् सुखशान्ति का देने वाला होता है। ऐसी क्रिया से व्यक्ति अमर हो जाता है, क्योंकि इसमें भाव श्रेष्ठ कोटि के होते हैं। श्रेष्ठ भावों से श्रेष्ठ फल की प्राप्ति होती हैं ॥१६०॥

एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ।
पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥१६१॥

अर्थ : इस प्रकार कर्ता भेद से चरमपुद्गलपरावर्त में गुरुदेवादि का पूजन विलक्षण प्रकार का ही होता है ॥१६१॥

विवेचन : जैसे विष, गर, अननुष्ठान, तद्हेतु और अमृत इन पांच भेदों में साधक की उत्तरोत्तर भाव की वृद्धि और मल का क्षय ही कारण है, क्योंकि सेवा वही की वही फिर भी उसमें भेद पड़ते हैं। उसी प्रकार अतीव अल्प मल वाले चरमावर्त में सेवा (धर्मानुष्ठान) में जो विलक्षण परिवर्तन होते हैं, वह कर्ता की अपेक्षा से होते हैं, स्वरूप से भेद नहीं पड़ते। चरमावर्त में रहने वाले जीव तथा चरमावर्त से अन्य आवर्तों में रहने वाले जीवों में, तथाप्रकार की योग्यता के अनुसार, मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग के प्रति अद्वेष या द्वेषरूप अध्यवसायों के कारण ही देवगुरूपूजादिरूप पूर्वसेवा में विलक्षण बहुत भेद पड़ जाते हैं। उसका मूल कारण यही हो सकता है कि अद्वेष से तद्हेतु और अमृत अनुष्ठान होता है और द्वेष से विष, गरल और अननुष्ठान क्रिया होती हैं। इसलिये कहा है कि चरमपुद्गलपरावर्त में रहने वाले प्राणियों की देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप, ध्यान आदि मुक्ति के लिये होने से मुक्तिरूप है और अन्यों से विलक्षण होते हैं ॥१६१॥

यतो विशिष्टः कर्ताऽयं तदन्येभ्यो नियोगतः ।
तद्योगयोग्यताभेदादिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥१६२॥

अर्थ : क्योंकि यह (चरमावर्ती) कर्ता उसकी योग योग्यता के कारण अन्य (अचरमावर्ती कर्ताओं) से निश्चित ही विशिष्ट है, इसे अच्छी तरह से विचार करें ॥१६२॥

विवेचन : चरमावर्त से अन्य आवर्तों में व्यक्ति जो भी धर्मानुष्ठान करता है; वह धन-सम्पत्ति, यशकीर्ति तथा देव-देवेन्द्र की ऋद्धि आदि इहलौकिक-पारलौकिक प्रलोभनों से आकृष्ट होकर करता है। जो कि उसके पतन का कारण बनते हैं। इसलिये ऐसे विष और गरल अनुष्ठानों को करने वाली आत्माओं में मोक्ष का कारणभूत जो योग है उसकी योग्यता नहीं होती, लेकिन चरमावर्त में आने पर जीवों का मल अल्प रह जाता है; श्रद्धा और भावना की उत्तरोत्तर वृद्धि और शुद्धि होती जाती है; मुक्ति के प्रति राग होता है, ऐसी स्थिति में जीव जो भी धर्मानुष्ठान तप, जप, व्रत, पच्चखाण, देवपूजा, गुरुभक्ति आदि करता है, वह अध्यवसायों की विशेष शुद्धि के कारण अचरमावर्ती कर्ताओं से विशिष्ट हो जाता है। उसका अनुष्ठान भी उन अचरमावर्तियों से विशिष्ट प्रकार का होता है क्योंकि निर्वाणैकाभिलाषा मात्र रह जाने से योग की योग्यता उसमें (चरमावर्ती में) होती हैं, आ जाती हैं ॥१६२॥

चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः ।
सहजाल्पमलत्वं तु, युक्तिरत्र पुरोदिता ॥१६३॥

अर्थ : चतुर्थ (तद्हेतु) अनुष्ठान प्रायः चरमावर्ती महात्माओं का समझे; इसमें सहज अल्पमलत्वरूप हेतु पहले कह दिया है ॥१६३॥

विवेचन : पांच प्रकार के अनुष्ठानों में चौथा तद्हेतु अनुष्ठान है। जीव जब चरमपुद्गलपरावर्त में आता है; उस समय वह जो भी तप, जप, देवगुरु की सेवाभक्ति करता है वह प्रायः तद्हेतु अनुष्ठान माना जाता है, क्योंकि चरमावर्त में आते-आते स्वभावतः ही उसकी आत्मा कर्ममल से हलकी हो जाती है, निर्मल हो जाती है। (यह बात पूर्व में १५२ वें श्लोक में कह चुके हैं) ॥१६३॥

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम् ।
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः ॥१६४॥

अर्थ : क़र्म सम्बंध की योग्यता ही सहज मल है, क्योंकि आत्मा का और कर्म का अनादि काल से जो संयोग सम्बंध है, वह योग्यता बिना सम्भव नहीं ॥१६४॥

विवेचन : संसारी आत्मा में सहज कर्म मल होता है। वह सहज कर्ममल आत्मा के साथ उसकी तथाप्रकार की योग्यता से ही सम्बन्धित होता है। कर्म सम्बंध की योग्यता अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम कर्म, गोत्र कर्म और अन्तराय इन आठ प्रकार के कर्मों का संयोग सम्बंध आत्मा के साथ होता है वह उसकी योग्यता से ही होता है। वह योग्यता अनादि होने से कर्मबंध भी अनादि माना गया है। प्रवाह की अपेक्षा से (अन्य अपेक्षा) से समय-समय पर जीव को कर्म का बंध होता रहता है और कर्म का क्षय भी चालु रहता है अतः यह

सम्बंध सादि सान्त भी है। जीव की योग्यता बिना वह कर्मबंध कभी भी सम्भव नहीं हो सकता इसलिये जीव तथा कर्म का अनादि काल का जो संयोग सम्बंध है वह जीव की योग्यता से ही सम्भव हैं ॥१६४॥

अनादिमानपि ह्येष बन्धत्वं नातिवर्तते ।
योग्यतामन्तरेणापि भावेऽस्यातिप्रसङ्गता ॥१६५॥

अर्थ : यह बंध (आत्मा और कर्म का सम्बंध) अनादि होने पर भी बंधत्वरूप योग्यता का उल्लंघन नहीं करता, क्योंकि योग्यता बिना इसके (बंध के) होने में अतिव्याप्ति दोष होता है ॥१६५॥

विवेचन : प्रवाह की अपेक्षा से अनादिकालीन (आत्मा और कर्म का सम्बंध) बंध भी बंधत्व रूप योग्यता की अपेक्षा रखता है, क्योंकि ऐसा मानने से अतिव्याप्ति दोष नहीं आता। कहा भी है :-

"**यो यो बंधः बध्यमानयोग्यतामपेक्षते**" ।

जो-जो भी कर्मबंध होता है, वह सर्वकर्मदल, कर्म बांधने वाले जीव के स्वभाव की योग्यता की अपेक्षा रखता है। जैसे सूती या ऊनी कपड़ा अपनी योग्यतानुसार ही **मजीठी** या **किरमची** आदि रंग को पकड़ता है, वैसे ही जीव अपने स्वभाव की योग्यता के अनुसार ही वैसा कर्म बांधता है। अगर ऐसी स्वभाव की योग्यता को न स्वीकारें, अर्थात् आत्मद्रव्य और कर्म-द्रव्य की ही अकेली सत्ता स्वीकारें, तो सिद्ध, मुक्त, परमात्मा को भी कभी कर्मसंयोग हो सकता है अतः यहाँ अतिव्याप्ति दोष आता है। इसलिये योग्यता को स्वीकार करना ही चाहिये ॥१६५॥

एवं चानादिमान् मुक्तो योग्यताविकलोऽपि हि ।
बध्येत कर्मणा न्यायात् तदन्याऽमुक्तवृन्दवत् ॥१६६॥

अर्थ : इस न्याय से (अर्थात् स्वभाव की योग्यता न स्वीकारना) तो योग्यता रहित अनादि मुक्त आत्मा संसारी आत्मायें की भांति पुनः कर्म से बंध जायेग ॥१६६॥

विवेचन : अगर स्वभाव की योग्यता न स्वीकारें तो अनादिमान जो मुक्त आत्मा है, वह योग्यतारहित होने पर पुनः बंध में (संसार में) पड़ेगा, क्योंकि बंध योग्यता की अपेक्षा बिना, स्वयं ही लागु हो जायगा। जब स्वभाव की योग्यता ही नहीं माननी, तब जिस कारण से संसारी को बंध संभव हो सकता है वैसा मुक्त आत्माओं को भी बंध होगा, इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष हो जाता है। अन्य दर्शनकार आत्मा को नित्यमुक्त, योग्यता बिना स्वीकार करते हैं, उनको ग्रंथकार ने कहा है कि अगर स्वभाव की योग्यता न स्वीकारें तो संसारी व्यक्तियों की भांति मुक्त आत्मायें भी संसार में बंध जायगें। संसारी हो जायेंगे ॥१६६॥

तदन्यकर्मविरहाद् न चेत् तद्बंध इष्यते ।
तुल्ये तद्योग्यताऽभावे न तु (नु) किं तेन चिन्त्यताम् ॥१६७॥

अर्थ : पूर्वकालीन कर्म बिना बंध (वर्तमानकालीन) इष्ट नहीं; इसके बारे में विचार करें तो योग्यता का अभाव दोनों में तुल्य है । उससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता ॥१६७॥

विवेचन : अगर आत्मा के वर्तमान कालीन कर्मबंध में पूर्व कालीन कर्म को हेतु न माने तो कर्म आदिभूत हो जाता है और वह आदिभूत बंध किसी को भी इष्ट नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से सर्वबंधनों से मुक्त परमात्मा, ईश्वर आदि को भी कर्मबंध पड़ेगा । फिर संसारी और मुक्त में कोई अन्तर नहीं रहेगा । इसलिये स्वभाव की योग्यता को मानना ही उचित है, क्योंकि पूर्वसञ्चित कर्मों के भोग के समय भी, नया-नया कर्मबंध जीव अपनी स्वभाव की योग्यता के अनुसार ही बांधता है । इसलिये अनादि की कर्म-परम्परा, नये-नये कर्मबंध में योग्यता के कारण ही, हेतुत्वभाव को प्राप्त करती है । योग्यता को स्वीकार न करने से तुम्हारे मत की भी सिद्धि नहीं होती, अतः विचार यह करना चाहिये कि अगर पूर्वकालीन कर्म-बंध को न माना जाय अर्थात् पूर्व काल में आत्मा पूर्णशुद्ध थी ऐसा माने और उसी आत्मा को वर्तमान काल में कर्मबंध की कल्पना करना, उसका अर्थ क्या है ? कुछ भी नहीं । तात्पर्य यह है कि अगर योग्यता के बिना सर्व संसारी जीवों को कर्मबंध हो सकता है तो मुक्त को भी होगा क्योंकि योग्यता का अभाव संसारी और मुक्त दोनों में तुल्य है । उनको पूर्व कालीन कर्मबंध का अभाव मानकर, उत्तरकालीन कर्मबंध की कल्पना करने से क्या लाभ हैं ? ॥१६७॥

तस्मादवश्यमेष्टव्या स्वाभाविक्येव योग्यता ।
तस्यानादिमती सा च मलनान्मल उच्यते ॥१६८॥

अर्थ : इसलिये आत्मा की उस स्वाभाविक योग्यता को अवश्य मानना चाहिये । अनादिकालीन वह योग्यता आत्मा को मलीन करती है, इसलिये उसे मल कहते हैं ॥१६८॥

विवेचन : योग्यता को स्वीकार न करने पर अतिव्याप्ति दोष आता है, इसलिये आत्मा की उस स्वाभाविक योग्यता को अवश्य स्वीकार करना चाहिये । वह योग्यता जीवात्मा के स्वभावरूप होती है और अनादिकाल से आत्मा के साथ रहकर, आत्मा को मलीन करती है । कर्मबंध में वही मुख्यरूप से हेतु बनती है । वह कर्मबंध की योग्यता आत्मा को अनादिकाल से मलीन करती है इसलिये इस कर्मबंध की योग्यता को महापुरुषों ने मल भी कहा हैं, कर्ममल कहा है ॥१६८॥

दिदृक्षाभवबीजादिशब्दवाच्या तथा तथा ।
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ॥१६९॥

अर्थ : क्योंकि अन्य मुक्तिमार्गावलम्बियों ने भी (अपने-अपने) दर्शनभेद से इसे (कर्मबंध योग्यता को) दिदृक्षा, भवबीज आदि शब्दों से स्वीकारा है ॥१६९॥

विवेचन : मोक्षमार्ग में विश्वास रखने वाले अन्य सभी दर्शनकारों ने भी आत्मा की इस योग्यता को स्वीकारा है। सांख्यदर्शन वाले इसे 'दिदृक्षा' (आत्मा की प्रकृति के विलासों को देखने की इच्छा) कहते हैं। शैव दर्शनकार इसे 'भवबीज' कहते हैं। वेदान्ती इसी को अविद्या नाम से पुकारते हैं। बौद्ध इसे 'अनादि क्लेशमय वासना' नाम देते हैं। सभी दर्शनकारों ने अपने-अपने दर्शनशास्त्र में दिदृक्षा, भवबीज, अविद्या, अनादि क्लेशवासना आदि विभिन्न नामों से उसी की सिद्धि की है, जिसे हमने स्व-स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार, जीव को संसार में रहने का कारण, एकमात्र 'आत्मा की कर्मबंध योग्यता' कहा है। केवल नाम भेद है वस्तुतत्त्व में कोई भेद नहीं है, क्योंकि सभी का साध्य मात्र मोक्ष ही है। ऐसे मुमुक्षुओं के शुभ अध्यवसाय किसी भी भाषा में हों, बाह्य रूप से चाहे कितने भी भिन्न हों, अन्दर से वस्तुतत्त्व एक ही होता है। संसार में रहने का जो कारणभूत कर्ममल है, उसे किसी भी नाम से पुकारें कोई अन्तर नहीं पड़ता ॥१६९॥

एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्तं सुनीतितः ।
स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धिरपि ध्रुवा ॥१७०॥

अर्थ : इस प्रकार इसका (योग्यता का) अपगम-ह्रास भी प्रत्येक आवर्त में युक्तिपूर्वक घटिता होता है और उसके अल्प होने पर भावशुद्धि भी निश्चित ही सिद्ध होती है ॥१७०॥

विवेचन : कर्मबंधन में कारणभूत इस योग्यता का प्रत्येक आवर्त में क्रमशः ह्रास होता है। युक्ति सिद्ध है कि जब तक इस योग्यता का ह्रास अर्थात् कर्मबंधन कमजोर नहीं पड़ता तब तक संसार भ्रमण की प्रवृत्ति नष्ट नहीं होती। जैसे-जैसे यह योग्यता कमजोर पड़ती है वैसे-वैसे भावों की, अध्यवसायों की, परिणामों की उत्तरोत्तर शुद्धि निश्चित होती है। जितनी भावों की शुद्धि अधिक उतनी यह योग्यता-कर्मबंधन अल्प होता है, यह बात युक्ति पूर्वक सिद्ध है। अगर योग्यता को कर्मबंधन में कारण न माने तो कर्ममल कभी जाय ही नहीं। व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं बने ॥१७०॥

ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम् ।
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥१७१॥

अर्थ : उससे (भावशुद्धि होने से) निश्चित ही बंध अल्प-अल्पतर होने पर, कदाग्रह छूट जाता है और तब जीवात्माओं के सभी अनुष्ठान कल्याणकारी होते हैं ॥१७१॥

विवेचन : जीव के अध्यवसाय जब निर्मल होते हैं तब कर्मबंध अल्प-अल्पतर होता है।

जब कर्ममल अल्प रह जाता है और भावों में निर्मलता आ जाती है, तब कदाग्रह छूट जाता है। मनुष्य चाहे कितना ही महान् क्यों न बन जाय परन्तु कदाग्रह की वृत्ति उसे पथभ्रष्ट कर देती है। उसका सत्य भान भूला देती है। कदाग्रह बड़ी खराब वस्तु हैं। ग्रंथकार कहना चाहते हैं कि जिन व्यक्तियों की कदाग्रहवृत्ति छूट जाती है वे व्यक्ति जो भी देवपूजा, गुरुभक्ति, दान, पुण्य, तप, जप, व्रत पच्चखाण आदि पूर्वसेवा रूप जो भी धार्मिक अनुष्ठान करते हैं, वे निश्चित ही उनके शुभ के लिये होते हैं। निःसन्देह कल्याणकारी होते हैं। क्योंकि उनमे मिथ्यात्व, अज्ञान, प्रमाद, कषायों की क्षीणता अति कमजोर है। जब ज्ञानदशा जागृत होती है तब व्यक्ति सत्योन्मुख होता है ॥१७१॥

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत् सङ्क्लेशहेतवः ।
तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रशुभभावतः ॥१७२॥

अर्थ : आग्रह निवृत्त होने पर अति उत्तम शुभ भावों द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि होने से चरमावर्ती जीव के कर्म-अणु पूर्वावर्त की भांति क्लेशकारक नहीं होते ॥१७२॥

विवेचन : चरमावर्त में आने पर जीव का मिथ्याभिनिवेश-अतत्त्व में तत्त्व बुद्धिरूप कदाग्रह छूट जाता है। आग्रहनिवृत्त होने पर भावों में निर्मलता आती है और अन्तःकरण उत्तरोत्तर शुद्ध होता जाता है। इसलिये पूर्वावर्तों में जो कर्मदल अत्यन्त गाढ़ होने से जीव को दुःखी करते थे; वे अब चरमावर्त में कमज़ोर पड़ जाते हैं; उनका बल क्षीण हो जाता है; आत्मशक्ति अधिक बलवान हो जाती है इसलिये चरमावर्ती जीव के कर्मदल पूर्व की भाँति क्लेशकारक नहीं होते, क्योंकि दुनियाँ का नियम है बलवान कमजोर को दबाता है। पहले आत्मशक्ति कमजोर थी इसलिये जीव पर कर्मों का आधिपत्य था। चरमावर्त में आत्मा बलवान होती है इसलिये वह कर्मों पर अपना आधिपत्य जमा लेती हैं ॥१७२॥

सत्साधकस्य चरमा समयाऽपि विभीषिका ।
न खेदाय यथाऽत्यन्तं तद्वदेतद् विभाव्यताम् ॥१७३॥

अर्थ : जैसे सत्साधक को चरम समय की विभीषिका अत्यन्त खेद उत्पन्न नहीं करती वैसा ही चरमावर्तों के बारे में विचारे करें ॥१७३॥

विवेचन : जब कोई साधक किसी मंत्र या विद्या की साधना में प्रवृत्त होता है, तो उसके साधना-काल के दरम्यान तथा उसकी सफलता की अन्तिम घड़ी-पर्यन्त उसे भूत, वेतालादि की तरफ से अनेक विभीषिका-भय-उपद्रव, उपसर्ग खड़े हो जाते हैं, भयंकर दृश्य सामने आते हैं, लेकिन जो सच्चा साधक हैं; वह कभी भी इससे खिन्न नहीं होता। उस पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। उसका मन इससे विचलित या क्षुभित नहीं होता। इसी प्रकार चरमपुद्गल परावर्त में

जब जीव आता है; तब कर्मबंधन तो अवश्य होता है, लेकिन मोक्ष मार्ग में राग होने से वे किसी प्रकार की रूकावट नहीं डालते, उसे खिन्न नहीं करते। कर्मबंधन कमजोर होते हैं, इसलिये चरमावर्ती जीव उसपर स्वयं प्रभुत्व रखते हैं ॥१७३॥

सिद्धेरासन्नभावेन यः प्रमोदो विजृम्भते ।
चेतस्यस्य कुतस्तेन खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ॥१७४॥

अर्थ : सिद्धि समीप होने से (विद्या साधक के) हृदय में जो खुशी पैदा होती है, उससे खेद को अवकाश ही कहाँ से होता है ॥१७४॥

विवेचन : विद्या साधक को जब यह अनुभव होने लगता है कि अल्प समय में मेरी सर्व विद्या सिद्ध होने वाली है, तब उसके चित्त में जो खुशी-आनन्द उछलता है, उसको वही जान सकता है; उसका वर्णन करना असम्भव है। ऐसे अवर्णनीय आनन्द के सामने खेद को स्थान ही कहाँ है? अर्थात् सफलता की खुशी में साधना काल में उपस्थित होने वाली विभीषिकाएँ उपसर्ग, परिषह, अनेकविध कष्ट सभी भूल जाते हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि वह भविष्य की खुशी में भूतकाल के दुःखों को भूल जाता है। इस दृष्टान्त से ग्रंथकर्ता यह कहना चाहते हैं कि इसी प्रकार चरमावर्ती जीव को मोक्षसिद्धि समीप होने से कर्मजन्य दुःखों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे उनकी परवाह नहीं करते ॥१७४॥

न चेयं महतोऽर्थस्य सिद्धिरात्यन्तिकी न च ।
मुक्तिः पुनः द्वयोपेता सत्प्रमोदास्पदं ततः ॥१७५॥

अर्थ : न यह सिद्धि महान अर्थ को सिद्ध करने वाली हैं; न ही सतत् साथ रहने वाली है, लेकिन मुक्तिरूपी सिद्धि तो दोनों से (महान अर्थ को देने वाली और सतत् साथ रहने वाली है) युक्त है इसलिये वही सर्वोत्कृष्ट प्रमोदास्पद है ॥१७५॥

विवेचन : प्रज्ञप्ति, रोहिणी आदि विद्याओं की सिद्धि से साधक को कोई महान लाभ नहीं होता। वे केवल इसी भव में अल्पसमय तक साथ रहती हैं परभव में वे काम नहीं आती। इससे केवल अज्ञानीजन ही आश्चर्यमुग्ध होते हैं। ऐसे साधक चतुर्गति के दुःखों को दूर करने में असमर्थ हैं। परन्तु आप्तपुरुषों ने जो मुक्तिरूपी सिद्धि बताई है, वह तो संसार भ्रमण के तमाम दुःखों को काटने वाली है। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करवाती है और सतत्-शाश्वत साथ रहने वाली है। उसकी प्राप्ति होने पर कभी भी उसका विच्छेद नहीं होता। द्रव्य से सर्वकर्मक्षय रूप और भाव से सच्चिदानन्दमय-अनन्तसुख समृद्धिरूप अवस्था, सद-शाश्वत्, चित्-ज्ञान और आनन्दस्वरूप मुक्ति, सर्वोत्कृष्ट प्रमोद का स्थान है। इसलिये यह मुक्तिसिद्धि महान है, शाश्वत है। तात्पर्य है कि लौकिक सिद्धियाँ तो क्षणिक और तुच्छ है, परन्तु मुक्ति तो शाश्वत् और महान है ॥१७५॥

आसन्ना चेयमस्योच्चैश्चरमावर्तिनो यतः ।
भूयांसोऽमी व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किंचन ॥१७६॥

अर्थ : इसीलिये (मुक्ति आसन्न होने से) भावसार (तत्त्वपरिणति प्रधान) और अपेक्षा (अनाभोग) रहित प्राणियों को योगशास्त्रज्ञों ने अपुनर्बन्धक(सम्यक्दृष्टि और चारित्री) कहा हैं ॥१७६॥

अर्थात्

चरम आवर्त में आये हुये जीवात्माओं की मुक्ति नजदीक में आई हुई (आसन्न) ज्ञान की क्योंकि संसार में प्रत्येक प्राणी के अन्तिम (चरम) के अलावा अनेक परावर्त हुये हैं व उनमें अनंत भवों के अनंत दुःख भोगे हैं । उसकी अपेक्षा से अंतिम आवर्त में कुछ ज्यादा भोग्य शेष नहीं रहा है ॥१७६॥

विवेचन : चरमावर्ती जीवों को मुक्ति आसन्न-समीप होती है । अर्थात् वे दो तीन भवों में ही सिद्ध होने वाले होते हैं, इसीलिये उनके चढ़ते परिणाम होते हैं । वे तात्त्विक बुद्धि प्रधान होते हैं; तत्त्व मोक्ष के प्रति राग रखने वाले होते हैं । मुक्ति में प्रेम होता है और अनाभोग रहित अर्थात् विवेक से चरमावर्ती के लिये मुक्ति अत्यन्त समीप है; क्योंकि उसके अनेकों आवर्त व्यतीत हो चुके हैं; अब तो एक ही शेष बचा है, वह तो कुछ भी नहीं है ॥१७६॥

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः ।
भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षादिवर्जिताः ॥१७७॥

अर्थ : जो शून्य नहीं होते, विवेक प्राप्त ऐसे जीवों को, योगियों ने अपुनर्बन्धक-धर्माधिकारी, सम्यक्दृष्टि और चारित्री कहा है अर्थात् ऐसे जीव ही योग को प्राप्त कर सकते हैं ॥१७७॥

विवेचन : जिनकी मुक्ति समीप है; ऐसे भव्य प्राणी अधिक से अधिक चरमपुद्गल परावर्त अथवा अर्धपुद्गलपरावर्त पर्यन्त ही संसार में रहते हैं, क्योंकि उनके कर्मदल बहुत ही अल्प होते हैं; चूँकि अनादि काल से निगोद - जो कि अव्यवहार राशि कही जाती हैं से लेकर व्यवहार राशि, पृथ्वी, अप, तेज, वायु, वनस्पतिकाय, नरक, तिर्यञ्च, आदि चौरासी लाख जीवयोनि में अनन्त-अनन्त जन्म-मरण करके, जीव अनन्त भवभ्रमण कर चुका है और अनन्त दुःखों को सहन कर चुका है। उनकी अपेक्षा से यह चरमावर्त का दुःख कुछ भी नहीं है । कदाचित प्रमादवश सम्यक्त्व दृष्टि जो प्राप्त की हो, उसे भूल जाय, उसका वमन कर दे, तो भी अर्धपुद्गलपरावर्तन संसार में भ्रमण करके, संसार का अन्त करने वाले होते हैं अतः अनन्त पुद्गलपरावर्त की अपेक्षा से यह इतना भयंकर नहीं होता ॥१७७॥

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।
वर्धमानगुणप्रायो ह्यपुनर्बन्धको मतः ॥१७८॥

अर्थ : भवाभिन्दी दोषों के विरोधी, गुणों से सम्पन्न और जिनके गुण प्रायः क्रमशः वृद्धि पायें, उन्हें अपुनर्बन्धक (धर्माधिकारी) कहा है ॥१७८॥

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो, मत्सरी भयवान् शठः ।
अज्ञो भवाभिनन्दिस्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥८७॥

उपरोक्त सभी दोष भवाभिनन्दी के गिनाये हैं। क्षुद्र-स्वभावी, लोभी, दीन, ईर्षालु, भयभीत, कपटी और अज्ञानी जीवों को भवाभिनन्दी कहते हैं। उनका हर एक प्रयास निरर्थक होता है। इन दोषों से विरोधी गुणों अर्थात् उदारता, निर्लोभता, अदीनता, अमत्सर, निर्भयता, सरलता, विवेक, ज्ञानादि गुणों से युक्त तथा शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की भाँति उत्तरोत्तर विकसित गुणवाले जीवों को अपुनर्बन्धक (धर्माधिकारी) कहा है। अर्थात् उदारता, दाक्षिण्यता, विनय, विवेक आदि गुण धीरे-धीरे बढ़ते ही जाते हैं। ऐसे जीवों के द्वारा की गई देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप, व्रत, पच्चखाण, दान, पुण्य आदि उत्तमकोटि के होते हैं। और भावों की विशेष शुद्धि होने से अपुनर्बन्धक जीव संसार में अधिक समय तक भटकना पड़े ऐसे भयंकर कर्म नहीं बांधते। ऐसे अपुनर्बन्धक जीव ही धर्म के अधिकारी है ॥१७८॥

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता ।
कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारता ॥१७९॥

अर्थ : कल्याण आशय से युक्त होने से इसकी (अपुनर्बन्धक की) पूर्वोक्त पूर्वसेवा मुख्य (वास्तविक) होती है और शेष-अन्य की औपचारिक ॥१७९॥

विवेचन : अपुनर्बन्धकों का आशय सदा कल्याणकारी होता हैं। वैराग्य-सच्चे ज्ञान से परिपूर्ण होता है और भावों की शुद्धि होती है। इसलिये पूर्व में जो पूर्वसेवा बताई है - देवपूजा, गुरुभक्ति, सदाचार, शील, दान, दया, तप, जप, व्रत-पच्चखाण आदि वह उनकी वास्तविक होती है अर्थात् अपुनर्बन्धकों के द्वारा की गई पूर्वसेवा मोक्षलक्षी होती है, इसलिये वह क्रिया मोक्ष में जोड़ देती है। पूर्व में योग का जो लक्षण बताया है "मोक्षेण योजनात् योग" वह लक्षण इसमें पूरा घटित होता है, इसलिये उनकी पूर्वसेवा ही वास्तविक है। अपुनर्बन्धकों से अन्य जो पुनर्बन्धक, सकृतबंधक, असकृत्बंधक है उनकी पूर्वसेवा औपचारिक कही है, क्योंकि इनमें वैसे पारमार्थिक वैराग्य का अभाव होता है; उनकाआशय निर्मल नहीं होता।

अपुनर्बन्धक वह है जो कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को पुनः नहीं बांधता ॥१७९॥

यहाँ शंका होती है कि जब पुनर्बन्धकों की पूर्वसेवा वास्तविक नहीं होती तो उसे पूर्वसेवा ही क्यों कहना चाहिये । उसी का उत्तर देते हैं कि-

कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।
नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥१८०॥

अर्थ : इसका (पूर्वसेवा का) उपन्यास शेषजीवों (पुनर्बन्धकों) की अपेक्षा से (कारण में कार्य के उपचार से) किया है । इसकी (पुनर्बन्धक की) (मुक्ति) आसन्न-समीप न होने पर भी प्रायः अन्य अवस्था में यह (पूर्वसेवा) कदाचित मुक्ति की आसन्नता का कारण बनें ॥१८०॥

विवेचन : यहाँ पूर्वसेवा के दो भेद किये हैं- वास्तविक और औपचारिक । किसी को शंका होती है कि जब पुनर्बन्धकों की पूर्वसेवा वास्तविक नहीं है तो उसे पूर्वसेवा का नाम ही क्यों देना चाहिये । उसी का उत्तर देते हैं कि यहाँ हमने औपचारिक पूर्वसेवा को जो पूर्वसेवा नाम दिया है, वह शेषजीवों यानि पुनर्बन्धकों की अपेक्षा से, कारण में कार्य का आरोप करके, किया है । यद्यपि अभी-अभी वर्तमान काल में पुनर्बन्धकों की पूर्वसेवा मुक्ति के समीप नहीं ले जाने वाली है तथापि भविष्य में वह पूर्वसेवा साधक को धीरे-धीरे अपुनर्बन्धकभाव को प्राप्त करवाने में अथवा परम्परा से मोक्ष का कारण होने से, हमने कारण में कार्य का आरोप किया है । इसलिये पुनर्बन्धकों की औपचारिक पूर्वसेवा को पूर्वसेवा कहा है जैसे "नड़्वलोदकं पादरोगः" नड़्वलतृण का पानी ही पादरोग है । वैसे तो नड़्वलतृण का पानी पीने वाले को पैर का रोग होता है परन्तु संसार में कारण में कार्य का उपचार लोकप्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार पुनर्बन्धकों की पूर्वसेवा वास्तविक श्रद्धाभक्ति युक्त न होने पर भी भविष्य में तात्त्विक पूर्वसेवा में कारण बन सकती हैं, अतः यह कारण में कार्य का आरोप हैं ॥१८०॥

शुद्ध्यल्लोके यथा रत्नं जात्यं काञ्चनमेव वा ।
गुणैः संयुज्यते चित्रैस्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥१८१॥

अर्थ : लोक में शुद्ध किया हुआ अकृत्रिम - सच्चा स्वर्ण और रत्न जैसे अद्भुत (कान्त्यादि) गुणों से देदीप्यमान हो उठते है, उसी प्रकार आत्मा का भी समझें ॥१८१॥

विवेचन : संसार में विविध बहुमूल्य रत्न और स्वर्ण जब खान से बाहर निकाले जाते हैं, उस समय पता नहीं चलता कि ये रत्न और स्वर्ण इतने मूल्यवान और चमकदार होंगे । वे मिट्टी जैसे ही होते हैं; अनेक प्रकार की कुधातुओं से मिश्रित होते हैं, फिर धीरे-धीरे ताड़न, तापन आदि अनेक क्रियाओं में से उन्हें गुजरना पड़ता है । हीरा घिसने वाले जब हीरे को अच्छी तरह से घिस लेते हैं और सुनार जब स्वर्ण को संपूर्ण शुद्ध कर लेता है, तब वह देदीप्यमान, आकर्षक, मनमोहक हीरा, रत्न और स्वर्ण बनता है । इसी प्रकार आत्मा अनादिकाल से कर्मग्रहण करने की अपनी योग्यता

से विविध कर्मों के मलों से इतना मलीन हो चुका है कि खान से निकले हीरे की भाँति उसकी शक्ति का, उसकी कीमत का कुछ भी ज्ञान नहीं होता और अज्ञानता के कारण संसार में विविध कर्म-विपाकों से दुःखी होकर भटकते फिरते है – परन्तु सद्गुरु का योग, धर्म की आराधना, योग की साधना तथा पूर्वसेवा द्वारा संपूर्ण कर्ममल का जब नाश हो जाता है और आत्मा निर्मल हो जाती है तो वह भी सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र से शोभित है, देदीप्यमान और मन-मोहक हो उठती है ॥१८१॥

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य केचिदेनां प्रचक्षते ।
आलोचनाद्यभावेन तथानाभोगसङ्गताम् ॥१८२॥

अर्थ : कितने ही (शास्त्रकारों ने) ने शेष (सकृत या असकृत्बंधकों) की पूर्वसेवा को आलोचनादि के अभाव के कारण प्रकृति से ही अनाभोगसंग वाली कहा है ॥१८२॥

विवेचन : अन्य दर्शनकारों ने अपुनर्बन्धकों के अतिरिक्त जो सकृत या असकृत्बंधक हैं उनकी पूर्वसेवा को आलोचनादि उहापोह से रहित होने के कारण, प्रकृति के बल से ही अनाभोगसंग वाली कहा है। यह पूर्वसेवा-विवेकशून्य और उपयोग रहित होती है, इसलिये इसे उपचार से द्रव्यसेवा कहा हैं ॥१८२॥

युज्यते चैतदप्येवं तीव्रे मलविषे न यत् ।
तदावेगो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥१८३॥

अर्थ : उपर्युक्त कथन भी युक्तियुक्त है, क्योंकि उनका (शेषजीवों - सकृत्बंधकादि का) तीव्र मलरूपी विष का आवेग, जो संसार प्रतिबंधक है, अत्यन्त निवृत्त नहीं होता हैं ॥१८३॥

विवेचन : उपर जो शेष-सकृत या असकृत्बंध, भवाभिनन्दी जीवों की पूर्वसेवा को निरूपयोगी कहा है, वह उचित ही है। क्योंकि अगर उनकी पूर्वसेवा मुख्य होती तो संसार की निवृत्ति हो जाती परन्तु ऐसा होता नहीं। जीवात्मा को कर्म सम्बंध करवाने वाली जो कर्मबंध की योग्यता है, उसका अत्यन्त बल होता हैं, जो संसारवृद्धि का कारण बनता है। उससे भवपरम्परा की निवृत्ति नहीं होती, इसलिये ऐसी पूर्वसेवा को निरूपयोगी-औपचारिक कहा है (कारण में कार्य का आरोप) और वह जो पूर्वसेवा संसार की निवृत्ति का हेतु न हो, उसे मुख्य कैसे कह सकते हैं ? ॥१८३॥

सङ्क्लेशायोगतो भूयः कल्याणाङ्गतया च यत् ।
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या तूपचारतः ॥१८४॥

अर्थ : तीव्र क्लेश रहित, कल्याण का अंगरूप होने से ही प्रकृति को तात्त्विक-वास्तविक-आत्मा के स्वभाव रूप जानना चाहिये, इससे अन्य को तो, उपचार से (प्रकृति) कहा है ॥१८४॥

विवेचन : प्रकृति-जीव स्वभाव जब क्लेशमय होता है; बार-बार पुनर्बन्धकता होने से उसका संसार बढ़ता है। ऐसी प्रकृतिवाले जीवों द्वारा की गई पूर्वसेवा, संसारवृद्धि का कारण होने से, औपचारिक कही जाती हैं। लेकिन क्लेशकारक ऐसी प्रकृति के सम्बंध से पुरुष-आत्मा जब संसार के आधि, व्याधि, उपाधि से दु:खी होकर, ऊब जाता है, तब धीरे-धीरे वह सत्यधर्म की ओर झुकता है और जब संवेग, निर्वेद, भव-वैराग्य से उत्तरोत्तर स्वभाव में निर्मलता आती है तो क्लेश का अभाव हो जाता है, और प्रकृति-जीव स्वभाव कल्याणकारी हो जाता है । जीव के ऐसे क्लेश रहित कल्याणकारी स्वभाव (प्रकृति) को ही वास्तविक प्रकृति कहा हैं । वही मुख्य है, वही आत्मा का मौलिक स्वभाव है । इसी प्रकृति को ही लक्ष्य में रखकर, पूर्वसेवा कही हैं। अन्य प्रकृति-जीव स्वभाव तो विकृत प्रकृति स्वभाव है । विकृत प्रकृति से की गई पूर्वसेवा औपचारिक है, और आत्मा की वास्तविक प्रकृति से की गई पूर्वसेवा वास्तविक तात्त्विक है ॥१८४॥

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहार: प्रवर्तते ।
ततश्चाधिकृतं वस्तु नान्यथेति स्थितं ह्यद: ॥१८५॥

अर्थ : इसी (तात्त्विक प्रकृति) के आधार पर ही शास्त्रों में पूर्वसेवा का व्यवहार किया है अत: शास्त्रकारों ने जिस वस्तु को स्वीकार किया है वह उचित ही है अन्यथा नहीं ॥१८५॥

विवेचन : आप्त पुरुषों ने योगशास्त्र में शुद्ध प्रकृति के आधार पर ही पूर्वसेवा-देवपूजा, गुरुभक्ति-तप-जप आदि का तात्त्विक प्रतिपादन किया है, क्योंकि अपुनर्बन्धकों की ही ऐसी तात्त्विक प्रकृति होती है अत: अपुनर्बन्धक ही योगरूप मोक्षमार्ग के वास्तविक अधिकारी हैं, अन्य नहीं । इसलिये शास्त्रविहित तात्त्विक सेवा ही उचित हैं, अन्यथा नहीं ॥१८५॥

शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंवेदनानुगम् ॥१८६॥

अर्थ : यहाँ शान्त और उदात्त प्रकृति को ही शुद्ध अनुष्ठान का साधन माना है, जो सूक्ष्मविचारों (बंधमोक्ष के सूक्ष्म विचारों) से युक्त है और तत्त्वज्ञान की अनुगामी हैं ॥१८६॥

विवेचन : शुद्धप्रकृति ही जीव का स्वभाव है । अन्य तो विकृति है । इसीलिये कहा है कि शान्त इन्द्रियों के विकारों और क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषायों से रहित अर्थात् इन्द्रिय जन्य विकारों और कषायों से शान्त तथा उदात्त-मन की उच्च्व उच्चत्तर भावना द्वारा आश्रव द्वारों को रोकने का जो प्रयत्न हैं, ऐसी शान्त और उदात्त प्रकृति ही, शुद्ध अनुष्ठान पूर्वसेवा का मुख्य कारण है; क्योंकि शान्त और उदात्त प्रकृति वाला साधक ही बंध और मोक्ष की सूक्ष्म विचारणा कर सकता है और तत्त्वज्ञान का अनुगामी हो सकता है । ऐसी शान्त और उदात्त प्रकृति अपुनर्बन्धकों को ही होती है इसलिये वे ही योग के अधिकारी हैं। जिनका चित्त विकारों और कषायों से चंचल हैं, जिनकी

प्रकृति अनुदात्त हैं, वे इतने ऊँचे लक्ष्य का विचार नहीं कर सकते। जितनी योग्यता होगी वैसा ही विचार होगा ॥१८६॥

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः ।
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥१८७॥

अर्थ : धनवान्, रूपवान और युवक जैसे भोगसुख को आश्रय देने वाले होते हैं वैसे ही यहाँ प्रकृति से शान्त और उदात्त जीवात्मा शुभभाव को देने वाले होते हैं। ऐसा योगियों का मत है, अतः वह धन्य है ॥१८७॥

विवेचन : जैसे कोई भाग्यशाली आत्मा सुन्दर हो, जवान हो, धनवान भी हो, तो वह भोगसुख को आश्रय देती हैं अर्थात् इन्द्रियजन्य सभी प्रकार के सुखों का उपभोग करते हुए भी साथ–साथ लोकोपकार के कार्य भी करती है। इसलिये वह व्यक्ति लोकप्रिय होता है; ऐसे जीवात्मा की सभी लोग प्रशंसा करते हैं और उसे धन्यवाद देते हैं। इसी प्रकार जो जीवात्मा इन्द्रिय और मन के विकारों पर निग्रह करते हैं और कषायों को जीत लेते हैं, ऐसी शान्त और उदात्त प्रकृति आत्मा शुभ भावना द्वारा चित्त के अध्यवसायों को उत्तरोत्तर शुद्ध करती है। ऐसे लोगों को योगी लोग धन्यवाद देकर, उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे जीव ही अध्यात्ममार्ग में प्रवेश कर सकते हैं। शान्त से तात्पर्य इन्द्रियजन्य विकारों और कषायों की शान्ति है और उदात्त उत्तरोत्तर भावना की शुद्धि हैं ॥१८७॥

अनीदृशस्य च यथा, न भोगसुखमुत्तमम् ।
अशान्तादेस्तथा शुद्धं, नानुष्ठानं कदाचन ॥१८८॥

अर्थ : जो ऐसा नहीं (धनवान रूपवान, जवान नहीं) उसे जैसे उत्तम भोगसुख की प्राप्ति नहीं होती वैसे ही अशान्त, अनुदात्त प्रकृति जीव का अनुष्ठान कभी भी शुद्ध नहीं होता ॥१८८॥

विवेचन : जिसके पास धन नही; जिस का शरीर निरोगी नही; जिस की इन्द्रियाँ क्षीण हो चुकी है ऐसा निर्धन, रोगी और वृद्ध व्यक्ति जैसे उत्तम भोगसुखों का अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि योग के लिये भी धन चाहिये स्वस्थ शरीर चाहिये और इन्द्रियाँ समर्थ होनी चाहिये। जो इन तीनों से वंचित है, वह इच्छा होने पर भी इन्द्रिय जन्य सुखों से वंचित रहता है और लोग भी उसके प्रति तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं। किसी को भी वह प्रिय नहीं लगता। उसी प्रकार जिसने इन्द्रियों के विकारों पर निग्रह-संयम नहीं किया; कषायों को जीता नहीं; भावनाओं का परिष्कार नहीं किया; उसे शुद्ध अनुष्ठान, तात्त्विक पूर्वसेवा-देवपूजनादि कभी सम्भव नहीं होता। ऐसे लोग योग के अधिकारी नहीं है अर्थात् ऐसे लोगों द्वारा की गई पूर्वसेवा आत्मगुणों को तथा अध्यात्मभाव को प्रकट करने में समर्थ नहीं होती ॥१८८॥

मिथ्याविकल्परूपं तु, द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्त्वतः ॥१८९॥

अर्थ : दोनों का (धन, स्वास्थ्य, यौवन विहीन व्यक्ति का भोग, सुख और अशान्त अनुदात्त प्रकृति के व्यक्ति का शुद्ध अनुष्ठान) दोनों मिथ्या विकल्प रूप है । अपनी बौद्धिक कल्पनारूपी शिल्पी से निर्मित है, वास्तविक नहीं ॥१८९॥

विवेचन : धन, स्वास्थ्य और यौवन विहीन व्यक्ति जैसे भोगसुख के लिये केवल कल्पना के घोड़े दौड़ा सकता है; कल्पना से भोगसुख के स्वप्न देख सकता है, लेकिन यथार्थ भोगसुख उससे कोसों दूर होता है । इसी प्रकार जिसका चित्त शान्त नहीं; उदात्त नहीं; विकार और विषयों को जिसने जीता नहीं; जिसकी उच्च-उच्चत्तर भावना नहीं, उसका अनुष्ठान भी तात्त्विक शुद्ध नहीं, मिथ्या है, बौद्धिक कल्पना मात्र है । तात्पर्य यह है कि बाह्यरूप से धार्मिक होने पर भी अन्दर से जिसे भौतिक सुखों की लालसा बनी रहती है, ऐसे पुद्‌गलभोगी और भोग की प्राप्ति के लिये धर्म करने वाले धार्मिकों को, बाह्यभाव से आकर्षण करने वाले धन, स्त्री, सत्ता आदि भौतिक वस्तुओं में जो सुख की वासना अनादि काल से बंध गई है वह मरु-मरीचिका जैसी मिथ्या भ्रांति ही है। वास्तव में तो वे दुःख के ही कारण हैं । मिथ्यात्वी और अज्ञानी जीवों को ही ऐसा होता है । ऐसे जीवों द्वारा की गई पूर्व-सेवा चौरासी का चक्र ही बढ़ाती है। शाश्वत सुख जो वास्तविक है वह नही दे सकती। इसलिये भोगसुख धर्मानुगत हो, तो वह भी अतात्त्विक ही है । आत्मशुद्धि पूर्वक किया गया धर्मानुष्ठान ही सच्चे सुख मोक्षमार्ग का प्रधान हेतु और तात्त्विक है ॥१८९॥

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यात्, दरिद्रायौवनस्थयोः ।
सुरूपरागाशङ्के च, कुरूपस्य स्वयोषिति ॥१९०॥

अर्थ : दरिद्र को भोग के साधनों का, वृद्ध को शक्ति का अभाव होता है और कुरूप को अपनी सुन्दर स्त्री के प्रति शंका रहती है ॥१९०॥

विवेचन : दृष्टान्त देकर समझाया है कि जैसे विषयभोग की तीव्र इच्छावाले मनुष्य के लिये वात्सायन ऋषि ने भोग के जो अंग-साधन बताये हैं :

रूपवयो वैचक्षण्य सौभाग्य माधुर्यैश्वर्याणि भोग साधनम्-इति ।
तत्रापि रूपवयो वित्ताढ्यत्वानि प्रधानानि इति ॥

रूप-गौरवर्ण, वय - यौवना-अवस्था, वैचक्षण्य-चतुराई, सौभाग्य-सर्वजनप्रियत्व, माधुर्य-भाषा में कोमलता, मिठास, ऐश्वर्य- लोक में सभी उसकी आज्ञा को शिरोधार्य करे, धनाढ्यत्व-

लक्ष्मी की अपार कृपा का होना ये सभी विषयभोग के अनुकूल कारण होने से भोग के अंग कहे जाते हैं। इनमें भी रूप, वय और धन-सम्पति ये तीन मुख्य साधन हैं । ये तीन साधन जिसके पास हैं; वह भोगी ही भोगसुख का अनुभव कर सकता है । परन्तु इन तीनों के बिना व्यक्ति भोग सुख से वंचित रहता है, क्योंकि निर्धन भोग के लिये अनुकूल सामग्री प्राप्त नहीं कर सकता; वृद्धशरीर प्राप्त भोगों को भोगने के लिये असमर्थ होता है और कुरूप को सदा अपनी सुन्दर स्त्री के लिये शंका रहती है । शंकाशील चित्त को सुख-शान्ति कहां ? जैसे रूप, वय और धन से विकलव्यक्ति भोगसुख का अनुभव, आनन्द नहीं ले सकता उसी प्रकार जिस जीव में शान्ति, उदारता आदि गुण नहीं वह अध्यात्म रस का आनन्द भी नहीं ले सकता ॥१९०॥

अभिमानसुखाभावे, तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।
अपायशक्तियोगाच्च, न हीत्थं भोगिनः सुखम् ॥१९१॥

अर्थ : तथा अभिमानसुख के अभाव में आत्मा के अन्दर क्लेश होता है, इस प्रकार अपायशक्ति के योग से भोगी को सुख नहीं ॥१९१॥

विवेचन : भोगी को कहीं भी सुख नहीं होता, भोग सामग्री उपलब्ध होने पर उसे अभिमान होता है कि 'मैं सुखी हूँ', 'मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, सत्ता है'; सर्वशक्ति सम्पन्न हूँ; 'मै ही सर्वेसर्वा हूँ' ऐसा अभिमानजन्य सुख भी तत्काल नष्ट हो जाता है। जब वह अपने से अधिक सम्पत्ति, सत्ता और ऐश्वर्य देखता है उसका अभिमान चूर-चूर हो जाता है । अभिमान किसी को आगे बढ़ता नहीं देख सकता; इसलिये अभिमानी हमेशा अन्दर से दुःखी रहता है और सुख के साधन नहीं होने पर, उन्हे प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के झूठ, चोरी, ठगी आदि आर्त और रौद्र ध्यान में सदा ही चित्त लगा रहने से वह बेचैन और दुःखी रहता है । प्राप्त भोग की सामग्री भी क्षण स्थायी है; कब तन, धन, यौवन मनुष्य को धोखा दे जाय किसी को मालुम नहीं अतः अनेक विघ्नों से भरे हुये अपायशक्ति से युक्त भोगी को सच्चे सुख की प्राप्ति कहीं हो सकती है ? भोगसुख की प्राप्ति भी, प्राप्ति की सम्हाल भी और उसका अन्त परिणाम भी दुःखदायी है, इसलिये महापुरुषों ने भोगसुख को हेय और शाश्वत मोक्ष सुख को ही उपादेय बताया है । उसी मोक्षसुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये ॥१९१॥

अतोऽन्यस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम् ।
यथा तथैव शान्तादेः, शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥१९२॥

अर्थ : इससे अन्य भोगी के भोगसुख को जैसे अत्यन्त उत्तम कहा है; वैसे ही शान्तादि के शुद्ध अनुष्ठान को इससे भी उत्तम कहा है ॥१९२॥

विवेचन : इससे अन्य-भोगी अर्थात् धनवान, रूपवान, जवान भोगी के सुख को जैसे अत्यन्त उत्तम कहा है और धन्यवाद का पात्र कहा है। वैसे ही जिसके विषय और कषाय शान्त हो गये है वैसे उच्च-उच्चतर आशय वाले के शुद्ध अनुष्ठान को योगी लोग इससे भी अनन्तगुना उत्तम कहते हैं, और धन्यवाद देते हैं। वैसे तो संसार सुख की तुलना मोक्षसुख के साथ नहीं की जा सकती परन्तु लोक की दृष्टि से यह तुलना की है। जैसे लोगों को भोगसुख अत्यन्त उत्तम प्रतीत होता है वैसे ही योगियों को मोक्षसुख उससे भी अनन्त गुना अधिक प्रतीत होता है इसका कारण नीचे श्लोक में दिखाया है ॥ १९२ ॥

क्रोधाद्यबाधितः शान्त उदात्तस्तु महाशयः ।
शुभानुबन्धिपुण्याच्च, विशिष्टमतिसङ्गतः ॥१९३॥

अर्थ : क्रोधादि (कषायों से) अबाधित, शान्त चित्त, महान आशय वाला, उदात्त हृदय और शुभ पुण्यानुबंधी पुण्य से उसकी बुद्धि मार्गानुसारी विशिष्ट गुणों से युक्त होती है ॥१९३॥

विवेचन : क्योंकि उसका चित्त क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायों से दूषित नहीं होता, इसलिये शान्तचित्त उसे कहा है। उसे उदात्त भी कहा है क्योंकि उच्च-उच्चतर आशय-भावना होने से हृदय उसका उदात्त होता है। हमेशा शुभानुबंधी पुण्य योग से उसकी बुद्धि मार्गानुसारी विशिष्ट गुणों से युक्त होती है। हमेशा उसका झुकाव सुख की ओर ही रहता है। ग्रंथकार का आशय है कि सांसारिक भौतिक अनन्त सुखों की अपेक्षा, कषायों से अदूषित शान्तचित्त, उदात्त हृदय रखनेवाला महा आशय वाला, पुण्यानुबंधी मार्गानुसारी बुद्धि रखने वाला प्रज्ञावंत प्राणी ज्यादा सुखी है, क्योंकि उसकी दृष्टि मोक्षानुलक्षी है ॥१९३॥

ऊहतेऽयमतः प्रायो, भवबीजादिगोचरम् ।
कान्तादिगतगेयादि, तथा भोगीव सुन्दरम् ॥१९४॥

अर्थ : यह (शुभमतिवाला अपुनर्बन्धक जीव) इससे (विशिष्टमति के योग से) प्रायः भवबीजादि (राग-द्वेषादि भवकारण-भवस्वरूप-भवपरिणाम रूप) गोचर-विषय पर विचार करता है जैसे भोगी सुन्दर स्त्री के मुख से गाये जाते संगीत आदि में तल्लीन हो जाता है ॥१९४॥

विवेचन : जैसे भोगी पुरुष दिव्य-सुन्दर संगीत गाने वाली स्त्री में रसिक बनता है वैसे ही अपुनर्बन्धक जीव शुभमति का सातत्य होने से प्रायः संसार के जन्म, मरण, रोग, शोक, आधि व्याधि ग्रस्त स्वरूप को विवेकशील प्रज्ञा से जानकर, भवनिर्वेद-वैराग्य को प्राप्त होते हैं और आध्यात्मिक विचारणा में रसिक बनते हैं; अध्यात्मभाव में स्थिर बनते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे भोगी भोग में आनंद मानता है वैसे ही त्यागी त्याग में आनंद को उपलब्ध होता है, क्योंकि शुभमति

का सातत्य-सहयोग सतत् उसके साथ ही रहता है। जैसे विषयभोग में आसक्त युवक स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले सुन्दर गानों से आसक्त होता है वैसे ही धर्ममार्ग का अनुसरण करने वाला अपुनर्बन्धक आत्मा भव के कारणों पर सूक्ष्म विचार करता हुआ भवनिर्वेद को प्राप्त करता है। उसका वैराग्य और भी दृढ़ होता जाता है ॥१९४॥

प्रकृतेर्भेदयोगेन, नासमो नाम आत्मनः ।
हेत्वभेदादिदं चारु, न्यायमुद्रानुसारतः ॥१९५॥

अर्थ : प्रकृति के भेदयोग से आत्मा का चैतन्यस्वरूप भिन्न नहीं रहता, क्योंकि (प्रकृतिरूप) हेतु भिन्न नहीं; यही न्यायानुसार उत्तम है ॥१९५॥

विवेचन : सांख्यदर्शनकार प्रकृति के सत्त्व, रजस, तमस तीन प्रकार मानते हैं; जैन उसे स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय, नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म और वेदनीय कर्म के मुख्य आठ प्रकार मानते हैं। प्रकृति कहें अथवा उसे कर्म कहें दोनों एक ही वस्तु है। ग्रंथकर्ता कहना चाहते हैं कि प्रकृति अथवा कर्म जब आत्मा से एकान्त-अलग पड़ जाते हैं तो आत्मा का शुद्ध चैतन्यस्वरूप भिन्न नहीं रहता। कर्म से मुक्त सभी आत्माओं का चैतन्यस्वरूप समान ही होता हैं - एक ही होता है क्योंकि हेतु जो प्रकृति अथवा कर्म है, वह सब का एक ही है। यही न्यायानुसार उत्तम है और न्याययुक्त है। जैसे सूर्य स्वभाव से ही प्रकाशक स्वभाव वाला है लेकिन जब बादल सूर्य को ढक देते हैं, तो सूर्य पृथ्वी को पूर्ण प्रकाश नहीं दे सकता, किन्तु जब बादल हट जाते हैं तो सूर्य पूर्ण प्रकाश देता है। उसी प्रकार प्रकृति या कर्म के आवरण जब आत्मा से एकान्तरूप से दूर हो जाते हैं, आत्मा का सहज स्वरूप प्रकाशित होता है। अगर प्रकृति या कर्म से मुक्त होने पर भी आत्मा का नानात्व (भिन्न-भिन्न अस्तित्व) प्रकार रहे तो संसारी और मुक्त में कोई अन्तर नहीं रहेगा, मुक्त भी संसारी हो जायेगा। नानात्व प्रकार तो प्रकृति या कर्म के कारण है, प्रकृति-कर्म नहीं तो नानात्व भी नहीं ॥१९५॥

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा ।
भवे भवेदतः सर्वप्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥१९६॥

अर्थ : इस प्रकार प्रकृति-कर्म के संयोग से सर्व जीव संसार में नाना प्रकार की योनियों में जन्म लेते हैं। इसलिये सर्व प्राप्ति (संसार और अपवर्ग की प्राप्ति) आत्मा के विरोधिनी नहीं है ॥१९६॥

विवेचन : कर्मरूप प्रकृति के कारण ही जीव नाना प्रकार के अध्यवसायों द्वारा विविध गतियों का बंध करता है। जिनमें कर्मबंध की योग्यता रूप रागद्वेष का बीज रहा हुआ है, वे सर्व

आत्माएं संसार में कर्म के कारण ही ऊँच-नीच योनियों में भटकती हैं। जीवात्मा में संसार और मोक्ष प्राप्ति, दोनों प्रकार की योग्यता रही हुई है। जब कर्म का संयोग होता है तो संसार होता है और वियोग होने पर मुक्त हो जाता है। अतः संसार और मोक्षप्राप्ति आत्मा का विरोधी नहीं ॥१९६॥

सांसिद्धिकमलाद् यद्वा, न हेतोरस्ति सिद्धता ।
तद् भिन्नं यदभेदेऽपि, तत्कालादिविभेदतः ॥१९७॥

अर्थ : सांसिद्धिकमल-स्वभावसिद्धमल को छोड़कर, अन्य हेतु की सिद्धि नहीं होती और वह हेतु अभिन्न होने पर भी काल नियति आदि की भिन्नता से भिन्न है ॥१९७॥

अर्थात्

आत्मा के साथ अनादिकाल की परम्परा से स्वाभाविक रूप से संसिद्ध मेल के अतिरिक्त संसार बन्धन का हेतु अन्य कुछ भी नहीं है। आत्मा से प्रकृति का जो अभेद दिखाई देता है फिर भी कालादि की अपेक्षा से भेदरूप अनुभव होता है, अर्थात् प्रकृति से भिन्न होती ही आत्मा का मोक्ष होता है ॥१९७॥

विवेचन : अनादिकाल से स्वभावसिद्धमल अर्थात् कर्मबंध की योग्यता ही संसार की विचित्रता का हेतु-कारण है, उसे ही प्रकृति कहते हैं। सांसारिक विचित्रता में इस हेतु के सिवाय ईश्वरादि हेतु घटता नहीं है। वह सहजमल नाना स्वरूपवाला है। इसी से संसार का वैचित्र्य घटता है। चैतन्यस्वरूप सर्वजीवों में समान है, इसलिये अभेद भी है। परन्तु काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत और पुरुषार्थ इन पांच कारणों में जितने अंश में भिन्नता हो, उतने अंश में कार्य में भी विचित्रता, भिन्नता होती है। ग्रंथकार ने टीका में कहा है कि जीवों के परिणाम -शुभाशुभ विचारों के अनुसार ही शुभाशुभ कर्मबंध होता है। इसलिये शुभाशुभ, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों में उस जीव के अध्यवसाय ही कारण है। ईश्वर को उसमें कारण नहीं कह सकते क्योंकि ईश्वर की व्याख्या करते हुये ईश्वरवादियों ने इस कारिका में बताया है :-

ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च, सहसिद्धं चतुष्टयम् ॥

जिसके ज्ञान और वैराग्य को कोई नष्ट नहीं कर सकता; जिसका ऐश्वर्य और दुर्गति में पड़ते जीवों को बचाने वाला धर्म सहजसिद्ध है; वह ईश्वर है। ईश्वर का ऐसा लक्षण किया है। जो विरागी है वह किसी का भला या बुरा कैसे कर सकता है और अगर वह करे तो उसमें राग और द्वेष आ जाने से उसका वैराग्य ही समाप्त हो जाता है। जीवों की योग्यता या अयोग्यता के अनुसार ईश्वर की कृपा या अकृपा होती है, ऐसा अगर तो प्रच्छन्न रूप से हमारा सिद्धान्त-कर्मबंध की योग्यता

स्वीकृत हो ही गया। इसमें ईश्वर को हेतु मानने की कोई जरुरत नहीं। अगर ईश्वर के अनुग्रह या निग्रह को योग्यता या अयोग्यता बिना मानें तो कार्य-कारण भाव नहीं बनता फिर तो कारण बिना सभी भूल होने चाहिये अथवा बिना कारण धर्मी भी अधार्मिकों के साथ से अनेक दोष आते हैं। अत: अनादिकालीन कर्मबंध की योग्यतारूप सहजमल ही जगत का हेतु है और वह मल अपेक्षा से भेदरूप और अभेदरूप है ॥१९७॥

विरोधिन्यपि चैवं स्यात्, तथा लोकेऽपि दृश्यते ।
स्वरूपेतरहेतुभ्यां, भेदादेः फलचित्रता ॥१९८॥

अर्थ : विरोधी मतों में भी ऐसा है और लोक-व्यवहार में भी ऐसा ही देखा जाता है कि स्वरूप और स्वरूप से इतर इन दो हेतुभेद से कार्यफल में विचित्रता आती है ॥१९८॥

विवेचन : विरोधी याने जैनमत से विरुद्ध सिद्धान्तों को मानने वालों को भी भिन्न-भिन्न स्वरूप वाली प्रकृति को ही मुख्यरूप से कार्यसाधक मानना पड़ता है। ईश्वर आदि अर्थ भी प्रकृति से ही सिद्ध होते हैं। लोकव्यवहार में भी कार्य की सिद्धि स्वरूप याने उपादान और तद्-इतर स्वरूप से भिन्न अर्थात् उपादान से भिन्न, जो निमित्त आदि कारण है, इन दो (उपादान और निमित्त) हेतुओं से ही कार्य में वैचित्र्य आता है। किसी एक को मानें और दूसरे को न माने तो नहीं चलता। जैसे मिट्टी, घट का उपादान कारण है; केवल उपादान कारण को ही माने और निमित, चक्र, दण्ड, कुलाल, कुम्भार आदि को न मानें तो सर्वत्र घटमात्र एक ही आकार के होने चाहिये और केवल चक्र, दण्ड, कुम्हार आदि बाह्य निमित्त कारणों को तो मानें, परन्तु मिट्टी जो उपादान है उसको न माने तो घट की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसलिये स्वरूप-मृतिका और तद्-इतर-बाह्य निमित्तादि दोनों को कारण मानना चाहिये। तभी भिन्न और अभिन्न जिनमतों का स्वरूप सिद्ध होता है। तात्पर्य यह है कि सांसिद्धिकमल प्रकृति-कर्मबंध की आत्मा की जो योग्यता है वह उपादान है; वह काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ रूप बाह्य और अभ्यन्तर भिन्न-भिन्न निमित्तों से विचित्र कर्मों को बांधता है और विचित्र रूपों को धारण करता है। लोक में और अन्य शास्त्रों में भी ऐसा ही प्रसिद्ध है। यह योग्यता जो कर्मबंध का हेतुभूत है। उस योग्यता का जितने अंश में नाश होता है, उतनी ही आत्मा पवित्र होती जाती है और वह जब उत्कृष्ट कर्म स्थिति को नहीं बांधता तब उसे शास्त्रकार अपुनर्बन्धक कहते हैं। लेकिन जब कर्मबंध योग्यता का सर्वथा नाश हो जाता है तब सर्व जन्म, मरण, दु:ख, शोक, आधि-व्याधि से मुक्त होकर सर्व कर्मों के नाश से जीव परम निर्वाण मोक्षपद को पाता है। इस प्रकार कर्मसम्बंध से संसारी और वियोग से मुक्त होता है, यह बात किसी तर्क से पैदा की हुई नहीं है, अनुभूत है। ऐसा विचार करना उसे ऊहा कहते हैं ॥१९८॥

एवमूहप्रधानस्य, प्रायो मार्गानुसारिणः ।
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥१९९॥

अर्थ : इस प्रकार प्रकृति वियोग विषयक ऊहा प्रायः तर्क प्रधान और मार्गानुसारी को यथार्थ सिद्ध होती है ॥१९९॥

विवेचन : इस प्रकार कर्म सम्बंध का निश्चय हो जाने पर भव्यात्मा को सद्गुरु के योग से या कर्मों के क्षयोपशमभाव होने पर, विचार करने की बुद्धि-विवेकबुद्धि जागृत होती है। गुरु से श्रुत वचन पर ऊहापोह-तर्क वितर्क करते-करते स्व स्वरूप और संसार स्वरूप का निश्चय होता है। ऐसा ऊहापोह मार्गानुसारी भव्यात्मा को ही होता है। इस प्रकार मार्गानुसारीपना से अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे कर्ममलरूप राग द्वेष की क्लेशमयी प्रवृत्ति का वियोग होता है। सांसिद्धिकमल का आत्मा से सर्वथा वियोग होने पर मोक्ष होता है और संयोग से संसार वैचित्र्य सब यथार्थ घटता है। यह वियोग जन्य मोक्ष की बात जिनमार्ग में कथित मोक्षस्वरूपानुसार है और तर्क - युक्ति-प्रयुक्ति से सिद्ध है ॥१९९॥

एवंलक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः ।
योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥२००॥

अर्थ : प्रारम्भ से ही गोपेन्द्र योगी ने ऐसे ऊहादि लक्षण वाले अपुनर्बन्धक आत्मा को योगयुक्त कहा है और अन्य विद्वानों ने भी ऐसा ही माना है ॥२००॥

विवेचन : ग्रंथकर्ता ने बड़ा ही सुन्दर कहा है कि 'बाबावाक्यं प्रमाणं' करने वाले को योग की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे व्यक्ति द्वारा की गई पूर्वसेवा को उन्होंने योग का अंग नहीं माना। लेकिन जिसके पास तर्क बुद्धि है; ऊहापोहात्मक बुद्धि है; वह ही वस्तु का यथार्थ बोध प्राप्त कर सकता है। किसी भी वस्तु के हार्द तक पहुँचने का मुख्य उपाय ऊहापोह है। ऊहापोह प्रधान और मार्गानुसारी व्यक्ति के द्वारा की गई पूर्वसेवा को प्रारम्भ से ही गोपेन्द्र योगी ने योग कहा है और अन्य जैनेतर विद्वानों ने भी ऐसा ही माना है अतः मार्गानुसारी, अपुनर्बन्धक, ऊहादिलक्षणयुक्त को योग की प्राप्ति होती है ॥२००॥

"योजनाद् योग इत्युक्तो, मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।
स निवृत्ताधिकारायां, प्रकृतौ लेशतौ ध्रुवः ॥२०१॥

अर्थ : (योग) मोक्ष के साथ जोड़ता है; इसलिये मुनिप्रवरों ने उसे योग कहा है। वह योग प्रकृति का अधिकार अंशतः निवृत्त होने पर निश्चय ही प्राप्त होता है ॥२०१॥

विवेचन : जो धर्मानुष्ठान मनुष्य को मोक्षमार्ग की ओर ले जाय, महापुरुषों ने उसी को ही योग कहा है। योग का यह लक्षण सर्वसम्मत है। वह योग आत्मा के ऊपर प्रकृति-कर्म का

अधिकार-बल अंशमात्र भी निवृत्त हो जाय, तभी प्राप्त होता है। अर्थात् जब संसार के बीजभूत राग और द्वेष की गांठ ढीली पड़ती है, तब मोक्षमार्ग की ओर प्रथम कदम रूप, योग के अंगरूप सम्यक् दर्शन की प्राप्ति निश्चित होती है। फिर वह आत्मा अपुनर्बन्धकत्व को प्राप्त करती है। जब आत्मा के ऊपर से गाढ़ आवरण निवृत्त होते हैं, तब आत्मा की सत्य की ओर रुचि पैदा होती है और वह आध्यात्मिक भावों में रसिक बनती है ॥२०१॥

वेलावलनवन्नद्यास्तदापूरोपसंहृते: ।
प्रतिस्त्रोतोऽनुगत्वेन, प्रत्यहं वृद्धिसंयुत: ॥२०२॥"

अर्थ : महासमुद्र के क्षुभित होने पर जैसे नदी में पूर (ज्वार) चढ़ता है अर्थात् जलवृद्धि होती है वैसे ही (प्रकृति के अधिकार से निवृत्त जीवात्मा) प्रतिस्त्रोतानुगामित्वभाव से प्रतिदिन योग में वृद्धि पाता है।

अथवा

समुद्र में ज्वार आने से नदी का प्रवाह उल्टा होने पर जल की वृद्धि होती है इसी प्रकार प्रकृति की तरफ मन और इन्द्रियों का जो प्रवाह बहता था वह प्रकृति का सम्बंध छोड़ने से, पीछे की ओर मुड़ा हुआ वह परिणामरूप भावना का प्रवाह आत्म स्वरूप में वृद्धि पाता है ॥२०२॥

विवेचन : नदी का स्वभाव है; वह हमेशा समुद्र की ओर बहती है। उसका प्रवाह अधोगामी होता है; उसे अनुस्त्रोत कहते हैं लेकिन जब समुद्र में तूफान आता है, ज्वार आता है तो नदी का स्तोत्र-प्रवाह उल्टा हो जाता है। वह ऊपर की ओर बहने लगता है, उसे प्रतिस्त्रोत कहते हैं और प्रतिस्त्रोत से नदी में जल की वृद्धि होती है। इसी प्रकार "इन्द्रियकषायानुकूलावृत्ति-रनुस्त्रोतस्तत्प्रतिकूला तु प्रतिस्त्रोत:" इन्द्रियों और विषय कषायों को पुष्टि देने वाली चित्त की जो वृत्ति-प्रवृत्ति है वह अनुस्त्रोतवृत्ति कही जाती है। और इससे विरुद्ध अर्थात् इन्द्रियभोगों और विषय कषायों से दूर रहने की जो वृत्ति है-प्रवृत्ति है, वह प्रतिस्तोत्रप्रवृत्ति कही जाती है। जब प्रकृति का जोर-बल कम होने लगता है तब मन और इन्द्रियाँ जो विषय कषायरूप प्रकृति की ओर दौड़ती थी, वहाँ से हटकर, आत्म स्वरूप में दिन-प्रतिदिन निमग्न होने लगती है। आध्यात्मिकता में अधिक रस लेने लगती है। इस प्रकार योग में निरन्तर वृद्धि होती है।

प्रतिस्त्रोतोनुगत्वेत = प्रतिस्त्रोत = उल्टा प्रवाह; अनुग: अनुगमन करने वाला, उसका भाव अनुगामीत्व। संसार से मुड़कर-पीठ कर के, मोक्ष की ओर जिसकी यात्रा शुरु हो जाती है, ऐसे मुमुक्षु की सभी धार्मिक क्रियाएँ योग की वृद्धि करने वाली होती है।

दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में श्री स्वयंभवाचार्य ने बहुत ही सुन्दर कहा है :-

"अनुसोओ संसारो पडिसोओ तस्स उत्तारो" जो अनुस्रोतगामी है; ओघप्रवाह में बहता है; प्रवाह गामी है, वह संसारी है, क्योंकि वह दीन होकर संसार के चालू प्रवाह मे बह जाता है । परन्तु जो वीर प्रतिस्रोतगामी है संसार के प्रवाह में न बहकर; उससे उल्टा- प्रवाह के सामने होता है, वह मोक्षमागी है । इसी वस्तु को यहाँ श्री हरिभद्रसूरिजी ने स्पष्ट किया है कि वीर को योग की प्राप्ति होती है; ओघप्रवाह में बहने वाले कायर को योग की प्राप्ति दुर्लभ है ॥२०२॥

भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो, मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।
तस्य तत्सर्वं एवेह, योगो योगो हि भावतः ॥२०३॥

अर्थ : भिन्नग्रंथी जीवों का शरीर संसार में और मन-चित्त मोक्ष में होता है; इसलिये उनकी सर्वप्रवृत्ति, भावयोग ही है ।

अथवा

भिन्नग्रंथी जीवात्मा का चित्त मोक्ष में और शरीर संसार में होता है; इसलिये (योगी) उसके सर्वव्यापार को योग ही कहते हैं क्योंकि वह भाव से योग है ॥२०३॥

विवेचन : चित्त की अतितीव्र रागद्वेषमयी ग्रंथी को जिसने भेद डाला है; ऐसा जीवात्मा मोक्ष को ही अपना लक्ष्य बनाकर तप, जप, संयम, ध्यान, समाधि में चित्त को जोड़ता है और शरीर को संसार के कार्यों में अर्थात् माता-पिता की सेवा, स्त्री, स्वजन, कुटुम्ब का भरण पोषण आदि व्यवहार कार्यों में लगाता है । भिन्नग्रंथी की दोनों प्रकार की प्रवृत्ति चलती है । गीता में जिसको अनासक्त कर्मयोगी कहा है; मुख में राम और हाथ में काम; किसी जैन कवि ने भी ऐसा ही कहा है :- समकितधारी जीवड़ो करे कुटुम्ब प्रतिपाल, अन्तरथी न्यारो रहे जेम धाय खिलावे बाल" । इसका मतलब है संसार में रहते हुये भी सांसारिक विषयों से जलकमलवत् निर्लिप्त रहना । ऐसे सम्यक्दृष्टि आत्मा की सर्वप्रवृत्ति उच्च लक्ष्ययुक्त होने से योग ही कही जाती है, क्योंकि भाव से तो वह योगी ही है। इसलिये यह उसका भावयोग है, ऐसा महापुरुषों ने कहा है ॥२०३॥

नार्या यथाऽन्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते ।
तद्योगः पापबंधश्च, तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥२०४॥

अर्थ : जैसे पर-पुरुष पर (अन्यासक्त) स्त्री का चित्त सदैव अन्य में आसक्त रहता है और उसे उसके पति की सेवासुश्रूषा रूप प्रवृत्ति पापमय लगती है, उसी प्रकार मोक्ष के सम्बंध में भिन्नग्रंथी का समझें (अर्थात् भिन्नग्रंथी के कुटुम्ब के भरण पोषण का व्यापार मन की आसक्ति से रहित समझें) ॥२०४॥

विवेचन : ग्रंथकर्ता का भाव यह है कि जैसे परपुरुष में आसक्त स्त्री का चित्त तो हमेशा परपुरुष में ही रहता है, ऐसी स्थिति में अर्थात् बेमन से केवल शरीर से उसे अपने पति की जो सेवाभक्ति; सुश्रूषा आदि करनी पड़ती है वह सब उसे पापमय लगती है, अर्थात् उसे उसमें कोई रस नहीं आता; वह उसे अनासक्तभाव से करती है उसी प्रकार भिन्नग्रंथी, सम्यक्‌दृष्टि, आत्मज्ञानी योगी का चित्त तो हमेशा मोक्ष की ओर रहता है परन्तु फिर भी वह अपने कुटुम्ब, स्वजन, स्त्री आदि का भरणपोषण करना अपना कर्तव्य समझता है । इसलिये दोनों प्रकार से वह कर्मनिर्जरा करता है क्योंकि उसका अध्यवसाय शुभ है और चित्त की आसक्ति नहीं होती । जब क्रिया में चित्त की आसक्तिरूपी चिकनाहर मिलती है, तभी कर्मबंध चिकना बंधता है, लेकिन सम्यक्‌दृष्टि जीव आसक्ति बिना केवल अपनी कर्तव्यनिष्ठा से सांसारिक व्यवहार करता है । इसलिये उसका कर्मबंध निर्लिप्त-अनासक्त होने से अल्पकालीन ही होता है, इसीलिये इसे कर्मबंध भी नहीं कहते । यहाँ परपुरुष पर आसक्त स्त्री का दृष्टान्त अनासक्तभाव को पुष्ट करने के लिये दिया है ।

न चेह ग्रन्थिभेदेन, पश्यतो भावमुत्तमम् ।
इतरेणाकुलस्यापि, तत्र चित्तं न जायते ॥२०५॥

अर्थ : ग्रंथीभेद से उत्तमभाव (मोक्ष) को देखने वाले का चित्त अन्य से (पुत्रकलत्रादि कौटुम्बिक बंधनों से) आकुल-व्याकुल होने पर भी उसमें (मोक्ष में) उसका चित्त नहीं रहता; ऐसा नहीं है ॥२०५॥

विवेचन : कोई शंका करता है कि जिसने मोहरूपी ग्रंथी का भेद कर दिया है, फिर भी वह सांसारिक प्रवृत्ति में रुका हुआ है तो उसे आत्मस्वरूप रमणता का शुद्ध अध्यवसायरूप सर्वोत्तमभाव कैसे हो सकता है ? क्योंकि पुत्र, स्त्री, स्वजन, कुटुम्ब, परिवार सम्बंधी बंधन और उनके जीवनरक्षण का बोझ उसके चित्त को आकुल-व्याकुल नहीं कर देता होगा ? ग्रंथकार उसे उत्तर देते हैं कि जो भिन्नग्रंथी अपुनर्बन्धक कर्म योगी है; उसके चित्त की परिणति अशुभ अध्यवसाय रहित होती है । इसलिये संसार में कुटुम्बादि का कार्य करने पर भी वह उसमें आसक्त नहीं होता, अपितु उसका मन तो हमेशा आत्मस्वरूप-उच्च भावों में ही रमण करता है; अगर ऐसा न हो तो ग्रंथीभेद रूप शुभयोग उसे कदापि प्राप्त नहीं हो सकता था ॥२०५॥

कोई वादी शंका करता है कि मात्र मोक्षाभिलाषी चित्त बिना क्रिया-पुरुषार्थ के मोक्ष की सिद्धि करने में असमर्थ है, कहा भी है :-

क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतं ।
यता स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात् सुखितो भवेत् ॥

मात्र क्रिया ही फल देने वाली है, परन्तु केवल ज्ञान फल नहीं देता कारण कि स्त्री, भोजन तथा भोग को जानने मात्र से (भोगसामग्री को प्राप्त किये बिना) कोई सुखी नहीं हो सकता। इस बात का उत्तर देते हुये ग्रंथकार ने नीचे स्पष्ट किया है कि :

चारु चैतद् यतो ह्यस्य तथोहः संप्रवर्तते ।
एतद्वियोगविषयः शुद्धानुष्ठानभाक् स यत् ॥२०६॥

अर्थ : इसका (भिन्नग्रंथी का) यह मोक्षाभिलाषी चित्त सुन्दर है, क्योंकि भववियोग विषयक विचार उसे स्वयं पैदा होता है तथा वह (भिन्नग्रंथी) शुद्धानुष्ठान के योग्य बनता है ॥२०६॥

विवेचन : यद्यपि केवल जानने मात्र से वस्तु की सिद्धि नहीं होती वरन् क्रिया ही फल को देती है; केवल मोक्ष की अभिलाषा से ही मोक्ष की सिद्धि नहीं होती परन्तु जिन्होंने ग्रंथी का भेद कर डाला है ऐसे अपुनर्बन्धक, योगी को अन्दर से ही भववियोग विषयक ऐसे विचार उठते हैं कि आज तक आठ कर्मों के संयोग से जो भवपरम्परा का दुःख मैंने सहन किया है; संसार की कैद भोगी है; संसार की आधि, व्याधि, उपाधि से पीड़ित हुआ हूँ; वह सब मेरी ही अज्ञानता को आभारी है; उसमें कारण मेरी अज्ञानता ही है। अब मैं संसार में नहीं ललचाऊँगा, नही फँसुगा। मोक्ष प्राप्ति के लिये, संसार से मुक्त होने के लिये; कर्मों को खपाने के लिये; अप्रमादपूर्वक, परम शुद्ध भावों से युक्त हो कर, शुद्ध अनुष्ठान-देवपूजा, गुरुसेवा, धर्म के प्रति राग, सर्वजीवों के प्रति मैत्री आदि सद्-आचार युक्त शुद्ध चारित्र का पालन करके, मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करुं ऐसी ऊहा-तर्क ग्रंथीभिन्न करने वाले को ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अज्ञानी को ऐसी ऊहा नहीं होती। फिर वह शुद्ध अनुष्ठान की ओर प्रवृत्त होता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान ही प्रवृत्ति का कारण है। किसी भी वस्तु को जान लेने के पश्चात् ही मनुष्य प्रवृत्ति करता है; जो जानता नहीं वह प्रवृत्ति क्या करेगा ? दशवैकालिक चतुर्थ अध्ययन में गाथा १०, ११, में भी कहा है :-

पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजओ ।
अन्नाणी किं काही ? किं वा नाहीइ सेअ पावगं ॥१०॥

सोच्चा जाणइ कल्लाणं; सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं सेअं तं समायरे ॥११॥

इस प्रकार ज्ञान सहित क्रिया ही शुद्ध अनुष्ठान बनती है ॥२०६॥

प्रकृतेरायतश्चैव, नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।
तथा विहाय घटत ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥२०७॥

अर्थ : ऐसा ऊहापोह प्रकृति का अधिकार निवृत्त हुये बिना घटित नहीं होता, क्योंकि सर्व व्यवहार प्रकृति के आधीन है लेकिन उसका (भिन्नग्रंथी का) मन विमल है ॥२०७॥

विवेचन : कोई शंका करता है कि भववियोग विषयक और शुद्धानुष्ठान का कारणरूप ऊहा-तर्क विचार अप्रवृत्ति बिना प्रकृति का अधिकार निवृत्त हुये बिना कैसे सम्भव है ? क्योंकि सर्वव्यवहार प्रकृति के आधीन है। भिन्नग्रंथी भी प्रकृति के कार्य में तो रहता ही है। उसे उत्तर देते हैं कि भिन्नग्रंथी आत्मा का मन अत्यन्त निर्मल होता है; प्रकृति का अधिकार उसकी आत्मा से निवृत्त हो गया है; इसलिये ऊहा - मोक्ष विषयक विचार सहज सिद्ध है। मोक्ष की तीव्र अभिलाषा भिन्न ग्रंथि को ही होती है क्योंकि उनपर प्रकृतिरूप कर्मों का जोर कम होता है ॥२०७॥

सति चास्मिन् स्फुरद्रत्नकल्पे सत्त्वोल्बणत्वत: ।
भावस्तैमित्यत: शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥२०८॥

अर्थ : शुद्ध देदीप्यमान रत्न के समान विमलमन रूप-ऊहा के होने पर सत्त्वगुण का उद्रेक-अधिकता होती है और अन्त:करण स्तैमित्य=भवाभिनन्दी चित्त के क्षुद्रता-दीनतादि दोषों के विलीन होने से शान्त होता है; इसलिये सदैव उसे शुद्ध अनुष्ठान प्राप्त होता है।

अर्थात् देदीप्यमान रत्न के समान इस ऊहा के होने पर सतोगुण की वृद्धि होने से तथा अन्त: करण के स्तैमित्य-क्षुद्रतादि दोषों से रहित होने से सदैव शुद्ध अनुष्ठान प्राप्त होता है ॥२०८॥

विवेचन : अपुनर्बन्धक जीवों को ग्रंथीभेद होने पर देदीप्यमान रत्न के समान उज्जवल भववियोग विषयक ऐसी जो ऊहारूप तर्क-विचार पैदा होता है, उससे उनमें निर्मल सतोगुण की वृद्धि होती है। सतोगुण बढ़ने से हृदय में क्षुद्रता, दीनता, लोभ आदि जो भवाभिनन्दी जीवों के चित्त के दोष हैं, वे सब विलीन हो जाते हैं। इसलिये भिन्नग्रंथी का हृदय बिल्कुल शान्त हो जाता है। ऐसे सतोगुणी, निर्मलमन वाले, शान्तहृदयवाले भिन्नग्रंथी अपुनर्बन्धक जीवों द्वारा किया गया धार्मिक अनुष्ठान हमेशा शुद्ध ही होता है अर्थात् मोक्ष का कारण होता है। अत: यह अनुष्ठान शुद्ध है और ऐसे जीव ही योग के अधिकारी हैं।

अर्थात् अपुनर्बन्धक आत्मा का ग्रंथीभेद होने से विशुद्ध सद् विचार होने पर, शुद्ध तथा देदीप्यमान रत्न के समान निर्मल सतोगुण बढ़ता है। सतोगुण बढ़ने से हृदय में क्षुद्रता, दीनता, लोभ आदि जो भवाभिनन्दी जीवों के चित्त के दोष हैं, वे सब विलीन हो जाते हैं। इसलिये भिन्नग्रंथी का हृदय बिल्कुल शान्त हो जाता है। ऐसे सतोगुणी, निर्मल मन वाले, शान्त हृदय वाले, भिन्नग्रंथी अपुनर्बन्धक जीवात्माओं का अनुष्ठान हमेशा शुद्ध ही होता है अर्थात् मोक्ष का कारण होता है, इसलिये यह शुद्ध अनुष्ठान है और ऐसे जीव ही योग के अधिकारी हैं ॥२०८॥

एतच्च योगहेतुत्वाद् योग इत्युचितं वचः ।
मुख्यायां पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ॥२०९॥

अर्थ : मोक्ष का हेतु होने से इसे (शुद्ध अनुष्ठान को) जो योग कहा, वह उचित ही है। मुख्य पूर्वसेवा में केवल इसका (शुद्ध अनुष्ठान का) ही समावेश है ॥२०९॥

विवेचन : ऐसा शुद्ध अनुष्ठान आत्मा को शुद्ध करता है और मोक्ष के साथ जोड़ता है, इसलिये ऐसे अनुष्ठान को योग नाम देना योग्य ही है, क्योंकि केवल भिन्नग्रंथी अपुनर्बन्धकों के शुद्ध अनुष्ठान को ही मुख्य पूर्वसेवा में अवकाश है। पुनर्बन्धकों द्वारा किये गये अनुष्ठानों से न आत्मशुद्धि होती है और न ही वह मोक्ष का हेतु होता है, इसलिये उसे योगत्व लागु नहीं होता। पूर्व में पूर्वसेवा के भी दो भेद किये हैं - मुख्य और औपचारिक पूर्वसेवा। तो यहाँ ग्रंथकर्ता यह कहना चाहते हैं कि मुख्य पूर्वसेवा में उपरोक्त शुद्ध अनुष्ठान को ही अवकाश है, मान्य किया है। अन्य पुनर्बन्धकों के अनुष्ठान को यहाँ अवकाश नहीं है, मान्य नहीं किया है, नहीं माना है ॥२०९॥

त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं, सच्छास्त्रपरतन्त्रता ।
सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च, तथाऽत्रैव प्रचक्षते ॥२१०॥

अर्थ : शुद्ध अनुष्ठान, सत्शास्त्र-परतन्त्रता और सम्यक् श्रद्धा ये तीन योग के अंग है, उसे ही यहाँ पर कहते हैं ॥२१०॥

विवेचन : अब योग का स्वरूप बताते हुये ग्रंथकर्ता उसके तीन प्रकार बताते हैं : शुद्ध अनुष्ठान करना, सत्शास्त्र की आज्ञा में रहना और सम्यक् श्रद्धा रखना। इसका विस्तृत वर्णन आगे करते हैं ॥२१०॥

विषयात्मानुबंधैस्तु, त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।
अनुष्ठानं प्रधानत्वं, ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥२११॥

अर्थ : विषय, स्वरूप और अनुबंध भेद से शुद्ध अनुष्ठान तीन प्रकार का है, उनकी उत्तरोत्तर प्रधानता है ॥२११॥

विवेचन : संक्षेप में भवनिर्वेद-विषयशुद्ध अनुष्ठान है, आत्मबोध-स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान है और आत्मस्वरूप का ज्ञान होने पर शुद्ध अध्यवसायों द्वारा किया गया तद्हेतु और अमृत अनुष्ठान-अनुबंध अनुष्ठान है। इस प्रकार इन तीन अनुष्ठानों में प्रथम संसार के दुःखों से भवनिर्वेद पैदा होता है फिर उन दुःखों से छुटने के लिये जीव सद्गुरु की शरण में आता है और सद्गुरु के विश्वास से आत्मबोध को प्राप्त करता है। आत्मबोध हो जाने पर ही आत्मा के परिणाम शुद्ध होते हैं। शुद्ध परिणामों से तद्हेतु और अमृत अनुष्ठानों की उपलब्धि होती हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर प्रधानता

है। जो अनुष्ठान विषय से शुद्ध है, स्वरूप से शुद्ध है, परिणामों से शुद्ध है वही वास्तविक शुद्ध अनुष्ठान कहा गया है। विषय-हेतु, आत्मा-स्वरूप और अनुबंध क्रियापरिणाम, इन तीनों से जो शुद्ध है वही शुद्ध अनुष्ठान हैं ॥२११॥

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं, क्रियते पतनाद्यपि ।
तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥२१२॥

अर्थ : पतनादि जो कुछ भी मुक्ति के लिये किया जाता है, वह मोक्षप्राप्ति की लेशमात्र भी भावना से शुभ, ऐसा प्रथम प्रकार का विषयशुद्ध अनुष्ठान माना है।

विवेचन : मुमुक्षु भव्यात्मा विषयशुद्धि अर्थात् मुक्ति रूप साध्य विषय को अनुलक्षित करके, जो भी तप, जप, दान, पूजा आदि अनुष्ठान करता है और कदाचित अनादि कालीन मोह के अशुभसंस्कारों-कर्मों के उदय से, उसकी प्रबलता से सम्यक्त्व से पतित हो जाय अथवा "यह अनुष्ठान मुझे कर्मरज से मुक्त कर दे" ऐसा संकल्प मन में रखकर, भृगुपात-पर्वत पर से गिरना, झंझापात करना, अत्यन्त सर्दी में खुले तालाब में कूदना, गर्मी में सूर्य या अग्नि की आतापना लेना, मरणान्त अनशन करना, शस्त्र से शरीर पर घाव करना, गले में फांसी लगाना, आत्महत्या करना, गिद्ध, सियार, बाघ और सिंह आदि हिंसक प्राणियों को अपना शरीर सौंपना गृघ्रपृष्ट कहा जाता है। इस प्रकार मोक्ष को ध्येय बनाकर आत्महिंसा-आत्मघात तो होता है परन्तु फिर भी मोक्ष का एक अंशमात्र भी ध्येय-लक्ष्य उसमें होने से ऐसे अनुष्ठानों में अंशमात्र भी शुभ भाव-शुद्ध अध्यवसाय होता है इसलिये मुक्ति के उपायरूप अनुष्ठान में इसका स्थान है, कारण केवल इतना ही है कि वहाँ भावों की शुद्धि है। इस योग में भाव की प्रधानता स्वीकारी है। इसलिये इन अनुष्ठानों को शुभ माना है कि मुक्ति की उपादेयता रूप धारणा उसमें रही है हालांकि स्वरूप से यह अनुष्ठान अत्यन्त शुभ नहीं फिर भी बहुत दुष्ट परिणाम वाला न होने से कुछ अंश से शुद्ध है।

तात्पर्य यह है कि मुक्ति के लिये जो भी बाह्य दैहिक कष्ट सहन किये जाते हैं। वे सब इसी अनुष्ठान में समाविष्ट हो जाते हैं। एकमात्र मोक्ष की अभिलाषा होने से, भावना शुद्ध होने के कारण, इसे अच्छा माना है। इस अनुष्ठान का हेतु शुद्ध है लेकिन इसका स्वरूप गलत है। मात्र हेतुशुद्ध होने से ही इसे ठीक कहा है ॥२१२॥

द्वितीयं तु यमाद्येव, लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।
न यथाशास्त्रमेवेह, सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥२१३॥

अर्थ : यमादि द्वितीय प्रकार (का स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान) लौकिकदृष्टि से व्यवस्थित है; शास्त्रोक्त नहीं क्योंकि सम्यक्ज्ञान श्रद्धादि का उसमें अभाव है ॥२१३॥

विवेचन : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग कहे जाते हैं। उसमें पांच यम-अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहरूप पांचव्रत और पांच नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर ध्यान इन दोनों यम और नियम को स्वरूपशुद्ध दूसरे अनुष्ठान में गिना है। वह लोक व्यवहार से शुद्ध अनुष्ठान कहा जाता है अर्थात् पातञ्जल, सांख्य, नैयायिक, वेदान्तिक जो लोक में प्रसिद्ध हैं, उनकी दृष्टि से यह शुद्ध अनुष्ठान है, परन्तु स्याद्वाद दृष्टि से प्रमाणरूप नहीं है क्योंकि उसमें सम्यक्ज्ञान और श्रद्धा का योग नहीं है – अभाव है। जब तक जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि तत्त्वों का सम्यक् बोध न हो तब तक वह अनुष्ठान लौकिकदृष्टि से योग कहा जाता है क्योंकि पुनर्बन्धक जीवों को भी व्यवहारिक योग होता है परन्तु वास्तविक योग नहीं, क्योंकि वह संसार से विरक्त होने पर भी सम्यक् ज्ञान-श्रद्धा आदि के अभाव में शास्त्रविहित प्रवृत्ति करने में असमर्थ होता है। कदाचित कोई घुणाक्षर न्याय से ज्ञानादि के बिना भी शास्त्र विहित प्रवृति करता है। भाव यह है कि प्रथम गुणस्थानवर्ती जीवात्मा संसार से निर्वेद पाकर, लौकिक दृष्टि से प्रतिष्ठित यम नियमादि को जीवाजीवादि तत्त्व को जाने बिना भी धारण करता है, वह लोकदृष्टि से स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान कहा जाता है लेकिन वह शास्त्रविहित नहीं होता। ज्ञान और श्रद्धा से शून्य स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान औपचारिक है वास्तविक नहीं ॥२१३॥

तृतीयमप्यदः किन्तु, तत्त्वसंवेदनानुगम् ।
प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र, दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥२१४॥

अर्थ : तीसरा (अनुष्ठान) भी यही (यमनियमादि) है किन्तु (इसमें इतना अन्तर है कि) यह तत्त्वज्ञान से युक्त है, जो कि सर्वत्र शान्तवृत्तिवाला दृढ़ और चंचलता रहित होता है ॥२१४॥

विवेचन : यम-नियमादि को धारण करने वाला सन्त महात्मा जब जीव, अजीव, पाप, पुण्य आदि नौ तत्त्वों का यथार्थ बोध पा लेता है, तभी वह प्रशान्तवृत्ति विषय कषायादि विकारों से अयुक्त होता है और भोगजन्य लालच से ऊपर उठता है तथा मन, वचन, काया से अचंचल होता है। दूसरे यमनियमादि अनुष्ठान को ही तृतीय अनुष्ठान कहा है परन्तु दूसरे अनुष्ठान से तीसरे अनुष्ठान में इतना अन्तर होता है कि इस तृतीय अनुष्ठान में नवतत्त्वों का यथार्थबोध होता है; विषय कषायादि सभी विकार शान्त हो जाते हैं और दृढ़ निश्चय बढ़ता है; मन, वचन, काया की चंचलता का अभाव होता है, जबकि द्वितिय में ऐसा कुछ भी नहीं होता। तृतीय अनुष्ठान में आन्तरिक शुद्धि विशेष होती है इसलिये यह उत्तम है ॥२१४॥

आद्यान्न दोषविगमस्तमो बाहुल्ययोगतः ।
तद्योगजन्मसंधानमत एके प्रचक्षते ॥२१५॥

अर्थ : प्रथम (विषयशुद्ध अनुष्ठान) से दोष नहीं जाते (क्योंकि उसमें) तमोगुण की प्रधानता होती है; कितने ही कहते हैं कि इस (अनुष्ठान) से तदनुरूप जन्म होता है ॥२१५॥

विवेचन : प्रथम विषयशुद्ध अनुष्ठान से मोक्ष प्रतिबंधक दोषों का अभाव नहीं होता अर्थात् हृदय दोषयुक्त ही रहता है, दोष जाते नहीं है क्योंकि इस अनुष्ठान में तमोगुण-अज्ञानता अधिक होती है। कितने ही ऐसा भी कहते हैं कि इस अनुष्ठान से यद्यपि मोक्षप्रतिबंधकदोष जाते नहीं तथापि जैसा अनुष्ठान वैसा उत्तरोत्तर उत्तम जाति, कुल, खानदान में जन्म होने की सम्भावना रहती है अर्थात् पतनादि से यद्यपि दोषों से वह मुक्त नहीं होता फिर भी उसके शुभ संकल्प, शुभ लेश्या अनुसार उत्तरोत्तर उत्तम जन्म की सम्भावना होती है। इस प्रकार कालान्तर में मोक्ष की ओर ले जाने वाला होने से इसको शुद्ध अनुष्ठान में स्थान दिया गया है ॥२१५॥

मुक्ताविच्छाऽपि यच्छ्लाध्या, तमःक्षयकरी मता ।
तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यदः ॥२१६॥

अर्थ : जिनको जितने भी अंश में मुक्ति की इच्छा हो वह श्लाघनीय है, क्योंकि वह इच्छा अज्ञान रूप अंधकार को कालांतर में नाश करने वाली है। हालांकि वह इच्छा कल्याणकारी है पर वह मोक्ष के साश्रात रूप तो नहीं ही है ॥२१६॥

मुक्ति की (आंशिक) इच्छा भी श्लाघनीय है क्योंकि (वह) तमोगुण (मोहावरण) का नाश करने वाली है; हालांकि सर्वकल्याणकारी मोक्ष की इच्छा, सर्व इच्छाओं से अत्यन्त भिन्न है। संसार में इसका दृष्टान्त मिलना असम्भव है, क्योंकि जगत के पदार्थों की इच्छा सावद्यकारी, पापमय है क्या वह भोग्यविषयों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति कराती है। जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है। जैसे घर का कारण मिट्टी है; जगत का कारण विषयों की इच्छा है और वह पापमय है; परन्तु मोक्ष की इच्छा तो पाप का क्षय करने वाली है और विषय अनुष्ठान एकान्त सावद्य-पापमय होने से मुक्ति का कारण कैसे हो सकता है ? इसी को स्पष्ट करते हुये कहा है कि यद्यपि विषयानुष्ठान से साक्षात् मुक्ति न मिले परन्तु उत्तरोत्तर उत्तम जन्मों की प्राप्ति से कालान्तर में वह मोक्ष का कारण बनता है क्योंकि मोक्ष की इच्छा मोहावरण का नाश करती है, तमोगुण को दूर करती है अथवा अज्ञानता को परे हटाती है। इसलिये कालान्तर में पारम्पर हेतु होने से इसे योग में स्थान दिया है ॥२१६॥

द्वितीयाद् दोषविगमो, न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।
गुरुलाघवचिन्तादि, न यत् तत्र नियोगतः ॥२१७॥

अर्थ : द्वितीय (अनुष्ठान) से दोषों का नाश होता है लेकिन एकान्त,-संपूर्ण नाश नहीं होता क्योंकि वहाँ निश्चित ही गुण-दोष विवेक नहीं हैं ॥२१७॥

विवेचन : दूसरे स्वरूपानुष्ठान में जीवात्मा क्रोध, मान, माया, लोभ, ईर्ष्या इत्यादि कषायदोषों का निग्रह करने का प्रयत्न करती है, लेकिन कषाय और संसार के जो मूल कारण है-

राग और द्वेष, वे सर्वथा नष्ट नहीं होते, अन्दर दबे पड़े रहते हैं । कुण्ड के मलिन जल की भाँति जो कि ऊपर से निर्मल दिखाई देता है, लेकिन जरा सा हिलाते ही कचरा तुरन्त ऊपर आ जाता है । ऐसे ही निमित्तकारण मिलते ही उसके दोष बाहर आते हैं । टीकाकार ने इसी वस्तु को मण्डूकचूर्ण का दृष्टान्त देकर समझाया है। मण्डूकचूर्ण में (मण्डूक के शरीर का चूर्ण) जैसे मण्डूक दिखाई नहीं देता लेकिन जब उसे पानी और वायु का संयोग मिलता है, तो उसमें से अनेक मण्डूक प्रकट होते हैं, क्योंकि उपादान रूप बीज वहाँ विद्यमान है । इसी प्रकार कषाय के बीज राग और द्वेष जब तक सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते, तब तक जीव नये-नये कर्म राग-द्वेष के उदय से बांधता रहता है । अगर मण्डूकचूर्ण को अग्नि में भस्म कर दिया जाय तो उसका बीज सर्वथा नष्ट हो जाता है । फिर उसमें से मण्डूक पैदा नहीं हो सकते । इसी प्रकार राग-द्वेष जब मूल से सर्वथा नष्ट हो जाते हैं फिर जीव जन्ममरण शील भयंकर इस संसार में दुबारा जन्म नहीं लेता, संसार से मुक्त हो जाता है । परन्तु द्वितीय अनुष्ठान में दोष सर्वथा नष्ट नहीं होते क्योंकि उसमें जीव को गुरुलघु चिन्ता अर्थात् पूज्य-पूजक भाव, गुरुशिष्य भाव रूप अथवा गुण दोष का विवेक नहीं होता इसलिये यह अनुष्ठान भी साक्षात् मोक्ष प्राप्ति का हेतु नहीं, क्योंकि विवेक-विचार अल्प है और उसमें शरीर और वचन की ही प्रधानता है । मानसिक शुद्धि का लक्ष्य अल्प शरीर और वचन द्वारा ही क्रिया की प्रधानता है । कहा भी है:-

कायकिरिआए दोसा, खविया मण्डुक्क चण्णतुलत्ति ।
सव्वावणए ते पुण, नेया तच्छारसारिच्छा ॥१॥

मात्र काया, शरीर और वचन से, जो क्रिया अनुष्ठान किये जाते हैं । वे पुण्यबंध कराते हैं और कुछ अंशों में कर्मों की निर्जरा भी करते हैं परन्तु ऐसे स्वरूप अनुष्ठानों से सर्वथा दोष (कर्म) क्षीण नहीं होते । क्योंकि यह विवेकशून्य केवल दैहिक क्रिया मात्र है ॥२१७॥

अत एवेदमार्याणां बाह्यमन्तर्मलीमसम् ।
कुराजपुरसच्छालयत्नकल्पं व्यवस्थितम् ॥२१८॥

अर्थ : इसलिये (आन्तर विचार से शून्य होने के कारण) आचार्य इस आन्तर मलीन अनुष्ठान को बाहर से सुन्दर, परन्तु अन्दर से दुष्ट राजा से अधिष्ठित नगर जैसा मानते हैं ॥२१८॥

विवेचन : आन्तर विचार-विवेक से शून्य, केवल कायप्रधान, यह अनुष्ठान है । स्वरूपशुद्ध अनुष्ठान करने वालों के बाह्य आचरण - बाह्य आचार देखने में बहुत सुन्दर और उत्तम दिखाई देते हैं । बाहर से तो आर्यधर्मों के सभी आचार-विचार बिल्कुल अणिशुद्ध पालते हैं लेकिन अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता । अध्यवसाय अशुभ होते हैं । बाहर से दोषरहित दिखाई देता है, इसलिये

महापुरुषों ने इसे स्वरूप शुद्ध लेकिन बाह्य अनुष्ठान कहा है, क्योंकि वह एकान्त रूप से मोक्ष का हेतु नहीं है। बाहर से सुन्दर क्रिया करने पर भी सम्यक् देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा का उसमें अभाव होता है। शम, संवेद, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता का अभाव होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ, काम वासना और इन्द्रियजन्य भोगों की लालसा होती है। मन इन दोषों से कलुषित रहता है इसलिये उनके शुभ आचार और क्रिया आदि बाहर से ही होते हैं। अन्दर आत्मा को वह क्रिया स्पर्शी नहीं होती। जैसे कोई सुन्दर नगरी हो उसके कोट, खाई, किले आदि नगर की रचना बहुत ही सुन्दर और मजबूत हो। कभी कोट-किले मजबूत होने से बाह्य शत्रुओं से नगर निवासियों की रक्षा हो सकती है लेकिन उस नगरी के अन्दर रहने वाला राजा-मंत्री आदि स्वयं ही दुष्ट, व्यभिचारी, लुटेरे हो तो क्या उस नगरी के निवासी कभी सुख-शान्ति का अनुभव कर सकते हैं ? क्या वे जीवन का आनन्द ले सकते हैं ? इसी प्रकार बाहर से सुन्दर निर्दोष क्रिया करने पर भी जब तक आन्तर मलीन है वह साधक सुखशान्ति और मोक्ष का अनुभव नहीं कर सकता केवल दैहिक अनुष्ठानों से जीवात्मा कुराजा से अधिष्ठित नगर की भांति गुणवृद्धि पाने में असमर्थ होता है क्योंकि उसका विवेक जागृत नहीं ॥२१८॥

तृतीयाद् दोषविगमः, सानुबन्धो नियोगतः ।
गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः कैश्चिदुदाहृतः ॥२१९॥

अर्थ : तीसरे सानुबंध अनुष्ठान से निश्चय ही दोषों का (अत्यन्त) नाश होता है। कितने ही इसे घर की प्रथमभूमि (की नींव) के आरम्भ तुल्य मानते हैं ॥२१९॥

विवेचन : तीसरे अनुबंध अनुष्ठान से दोष-विकार सब नष्ट हो जाते है और हृदय शुद्ध हो जाता हैं क्योंकि इस अनुष्ठान की संपूर्ण क्रिया सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा मूलक होती है। कुछ विद्वान इसे (इस अनुष्ठान को) घर की मजबूत नींव तुल्य मानते हैं। जैसे नया घर या मन्दिर बनाना हो तो इञ्जिनियर पहले भूमि परीक्षा करता है। सर्वप्रथम भूमिशुद्धि देखी जाती है ताकि उसके ऊपर खड़ी होने वाली बिल्डिग भविष्य में गिर न जाय। फिर उसकी नींव खोदी जाती है। शुद्धभूमि की मजबूत नींव पर ही सैंकड़ों वर्षों तक घर या मन्दिर टिक सकता है। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने अनुबंध अनुष्ठान को योगरूपी प्रासाद को खड़ा करने के लिये इसे मजबूत नींव के समान समझा है। क्योंकि हृदय की शुद्धि पर ही मोक्षरूपी प्रासाद दृढ़ता पूर्वक खड़ा हो सकता है। हृदय शुद्धि मोक्ष की नींव हैं ॥२१९॥

एतदध्युग्रफलदं, गुरुलाघवचिन्तया ।
अतः प्रवृत्तिः सर्वैव, सदैव हि महोदया ॥२२०॥

अर्थ : (गुण-दोष का) गुरु-लघु विवेक होने से अति उत्तम फल देने वाला यह अनुष्ठान है। इससे होने वाली सर्वप्रवृत्ति सदैव महान उदय करने वाली होती है ॥२२०॥

विवेचन : तीसरे अनुष्ठान में सर्व प्रवृत्ति में और जीवन व्यवहार में यश-अपयश, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कृत्य-अकृत्य, पेय-अपेय, और हेय-उपादेय के गुण-दोष का विवेक जागृत होता है। अमुक कार्य करते हुये आत्मा पाप के भार से भारी होगी ? या कर्मबंधन से मुक्त होगी ? ऐसी विचारणा-विवेक-जागृति आती है। इस प्रकार सर्वकार्यों में विवेकपुरस्सर प्रवृत्ति का होना आत्मा को कोई जैसा-तैसा लाभ नहीं दिलवाती बल्कि वह महान लाभदायक है। अति उत्तमफल-मोक्ष को देने वाला है। ऐसा विवेक सदैव-हमेशा रहता है वही आत्मा का महान् उदय करने वाला है, अर्थात् मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाला है। (निःसन्देह विवेक पुरस्सर सर्व कार्य हमेशा शुभ फल को ही देते हैं। विवेकजन्य प्रवृत्ति हमेशा स्व और पर के कल्याण के लिये ही होती है) ॥२२०॥

परलोकविधौ शास्त्रात्, प्रायो नान्यदपेक्षते ।
आसन्नभव्यो मतिमान्, श्रद्धाधनसमन्वितः ॥२२१॥

अर्थ : आसन्नभवी, श्रद्धारूपी धन से समृद्ध, बुद्धिमान व्यक्ति परलोक विचारणा में प्रायः शास्त्र के सिवाय अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता ॥२२१॥

विवेचन : आसन्न काल में ही मोक्ष में जाने वाला (टीकाकार ने 'श्रद्धा' का अर्थ 'अनुष्ठान की अभिलाषा' किया है) ऐसे श्रद्धारूपी धन से समृद्ध मार्गानुसारी प्राज्ञ व्यक्ति को परलोकादि व्यवस्था स्वीकारने में शास्त्र के सिवाय अन्य प्रमाण, लोकरुढ़ि आदि की अपेक्षा-जरूरत नहीं रहती। वह परलोकनिश्चय में कुतर्क का आश्रय न लेकर, शास्त्र का ही आश्रय लेता हैं ॥२२१॥

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ प्रति पटुर्जनः ।
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥२२२॥

अर्थ : अर्थ और काम में मनुष्य, बिना उपदेश के भी कुशल-प्रवीण हो जाता है, परन्तु धर्म में शास्त्र के बिना नहीं होता, इसलिये शास्त्र में आदर-प्रयत्न करना हितकारक है ॥२२२॥

विवेचन : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। अर्थ और काम में मनुष्य को किसी दूसरे के उपदेश या शिक्षा की जरूरत नहीं होती। अनादि कालीन संस्कारों से तथा लोकव्यवहार से देखादेखी ही मनुष्य उसमें कुशल हो जाता है। काम का अर्थ काम्य विषय-खाना-पीना, सोना-उठना, घूमना-फिरना, नाचना-कूदना, सुन्दरवस्त्र पहनना इत्यादि पांच इन्द्रियों के सभी काम्य विषयों में मनुष्य अनादि कालीन संस्कारों से आकृष्ट होता है और उसमें प्रवीण हो जाता है। उसमें उपदेश की जरुरत नहीं रहती। परन्तु धर्म ही एक ऐसी वस्तु है, जिसमें शास्त्र की जरुरत रहती है। मोह, माया, प्रमाद में डूबे हुये जीवों को जब तक गुरु के उपदेशरूपी शास्त्र का यथार्थ बोध प्राप्त न हो तब तक धर्मरूपी मोक्षमार्ग का ज्ञान उसे प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये ऐसे उपदेश और शास्त्र में आदर सहित प्रयत्न करना कल्याणकारक है ॥२२२॥

अर्थादावविधानेऽपि, तदभावः परं नृणाम् ।
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः, क्रियोदाहरणात् परः ॥२२३॥

अर्थ : अर्थ और काम का विधान न करने पर मनुष्यों को केवल उसका (अर्थ और काम का) अभाव ही होगा लेकिन धर्म का विधान न करने से तो महान् अनर्थ होगा। यहाँ वैद्य की चिकित्सा का उदाहरण समझें ॥२२३॥

विवेचन : वीतराग परमात्मा ने अपने शास्त्रों में अर्थ और काम का उपदेश नहीं दिया क्योंकि अर्थ-अनर्थ का मूल है और काम मनुष्य को पाप की ओर, दुर्गति की ओर ले जाता है। इसलिये इस का विधान न करने से कोई हानि या नुकसान नहीं होने वाला। सम्भवतः अर्थ और कामविधि को न जानने से मनुष्य को धन और काम्यविषयों की प्राप्ति न होगी; लेकिन अगर मनुष्यों को धर्म का विधान न करे अथवा यदि मनुष्य को शास्त्रोक्त धर्म की प्राप्ति न हो तो संसार के दुःखों का अन्त कैसे आये ? धर्म के बिना तो अनेकों अनर्थ पैदा होंगे ? मनुष्य का मनुष्यत्व सर्वथा नष्ट हो जायगा। कहा भी है :-

पडिवज्जिउण किरियं तीए विरुद्ध निसेवइ जो उ ।
अपवत्तगा उ अहियं, सिग्धं च संपावइ विणासं ॥

करने योग्य कार्यों का त्याग करके, उसके विरुद्ध जो आचरण करता है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। वैद्य ने औषध के साथ जो अनुपान बताया हो, उसे छोड़कर, शरीर की स्थिति के विरुद्ध, रोगवर्धक खुराक का अनुपान रोग को बढ़ाता है और अन्त में मृत्यु की शरण में ले जाता है। इसी प्रकार मोक्ष के लिये करने योग्य क्रिया दर्शन, ज्ञान और चारित्र को छोड़कर, अर्थ और काम में आसक्त होकर; हिंसादि अठारह पाप स्थानकों का सेवन करके; अनेक दुःखों को भोगता हुआ विनष्ट हो जाता है। इसलिये अरिहन्त परमात्मा ने शास्त्रों में परम कल्याणकारी धर्म का ही विधान किया है। महर्षि वात्सायन ने काम का और कौटिल्य ने अर्थशास्त्र का उपदेश दिया है, परन्तु अर्थ और काम दुर्गति के हेतु होने से, अरिहन्त परमात्मा ने उसका उपदेश नहीं दिया ॥२२३॥

तस्मात् सदैव धर्मार्थी, शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥२२४॥

अर्थ : इसीलिये धर्मी और शास्त्र में आदर रखने वाले की हमेशा प्रशंसा की जाती है क्योंकि मोहरूपी अन्धकार से युक्त इस लोक में शास्त्ररूप दीपक ही ज्ञानमय प्रकाश करता है ॥२२४॥

विवेचन : अगर वीतराग परमात्मा ने भव्यजीवों के उपकार के लिये धर्म का स्वरूप बताने वाले शास्त्रों का प्रतिपादन न किया होता तो जगत में बड़ा भारी अनर्थ हो जाता। काम और अर्थ के लिये अनेक प्रकार की जीवहिंसा, चोरी, झूठ बोलना, वस्तुओं का संग्रह करके अन्य को न देना,

परिग्रह इकट्ठा करना, व्यभिचार, लूट-पाट आदि अनेक महान् अनर्थों को रोकने के लिये, उपकारी पूज्य अरिहन्त, गणधर एवं आचार्यों ने शास्त्ररचना करके, हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। इसलिये धर्म के अभिलाषी, मोक्षाभिलाषी आत्माओं को, शास्त्र को जानने का और उसकी आज्ञानुसार चलने का अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। जो शास्त्र में आदर और भक्ति करने वाला है, उसका उत्साह बढ़ाना, उसकी प्रशंसा करना, सत्कार करना हमेशा श्लाघास्पद है। धर्मी-धर्मार्थी और शास्त्रादर-परायण प्रशंनीय हैं क्योंकि मोह, माया, अज्ञान, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से आवृत इस जगत में प्रायः प्राणी मोह की भूल भूलैया में ऐसा भटक जाता है कि अनेक दुःखों से आकुल-व्याकुल हो जाता है। वहाँ से निकलने का प्रयत्न करने पर भी विवेकरूपी प्रकाश न मिलने पर, उसी में दुःखी होता है, परेशान रहता है। न करने योग्य कार्य करता है और करने योग्य नहीं करता। कृत्याकृत्यविवेक से शून्य होता है। उसके विवेक को जगाने के लिये, मोहान्धकार को दूर करने के लिये शास्त्र को दीपक समान कहा है। घोर अन्धकार में भटकते को जैसे दीपक मिलने पर परम शान्ति का अनुभव होता है, सर्व वस्तु को वह जान लेता है। इसी प्रकार शास्त्रज्ञान से मनुष्य पारमार्थिक ज्ञान को जगत के स्वरूप को यथार्थ जानकर, परमसुख मोक्ष की ओर प्रवृत्त होता है ॥२२४॥

पापामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥२२५॥

अर्थ : शास्त्र पापरूपी व्याधि के लिये औषध है; शास्त्र पुण्य का हेतु है; शास्त्र सर्वदर्शी-चक्षु है; शास्त्र सर्व इच्छित वस्तु को सिद्ध करने का साधन है ॥२२५॥

विवेचन : जैसे औषध से रोग नष्ट होते हैं, ऐसे ही शास्त्राभ्यास करने से सद्विवेक पैदा होता है और विवेक सर्वपापों का नाश करता है। शास्त्र का अभ्यास करने से आत्मा पवित्र बनती है अर्थात् अध्यवसाय शुद्ध होने से पुण्यप्राप्ति होती है। पारमार्थिक पदार्थों की गवेषणा करने में शास्त्र ही परम चक्षु है। शास्त्राभ्यास करने से ही मनुष्य जीव, अजीव, पाप-पुण्य, आश्रव-संवर, बंध, निर्जरा, मोक्ष आदि तत्त्वों को और संसार के स्वरूप को जान सकता है। सबसे अधिक इष्ट वस्तु तो मनुष्य के लिये मोक्ष ही है, तो शास्त्र से मोक्ष भी सिद्ध है। शास्त्र सर्व इच्छित वस्तु को सिद्ध करने का उपाय है। शास्त्र किसे कहते है :-

"सद्भावशासनाद् दुःख-त्राणायोच्यते तच्च जैनम्"

जो सत्य पदार्थों के उपदेश से जीवों को दुःख से बचाये वह ही जैनशास्त्ररूपी शासन है।

शासनसामर्थ्येन तु संत्राणबलेन चानवधेत ।
युक्तं यत्तच्छास्त्रं तच्चयैतत्सर्वविद्धवचम् ॥

जो शास्त्र जगत के जीवों को उपदेश के बल से पापरहित बनाते हैं, और जन्म, जरा, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि से रक्षा करे, ऐसा सामर्थ्य जिसमें हैं, वही शास्त्र है। अनेकान्त दृष्टि युक्त सर्वज्ञ वीतराग प्रतिपादित शास्त्र ही असल में शास्त्र है ॥२२५॥

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि।
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या, कर्मदोषादसत्फला ॥२२६॥

अर्थ : जिसकी शास्त्र में भक्ति नहीं, उसकी धर्मक्रिया भी अन्ध की प्रेक्षण क्रिया के समान कर्मदोष से असत्फल देनेवाली होती है ॥२२६॥

विवेचन : जिस धर्मार्थी को शास्त्र में तथा गीतार्थ गुरुओं के प्रति श्रद्धा, भक्ति, बहुमान और आदर नहीं, उसकी सर्व धर्मक्रिया-देववन्दन, गुरुवन्दन, सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, तप, जप, आतापना, केशलोच आदि वास्तविक फल नहीं दे सकती। लोक कहावत भी है कि "अंधी पीसे, कुत्ता खाय"। उसे परिश्रम का फल - गेहुं का आटा नहीं मिलता, उसी प्रकार विवेकहीन क्रिया का फल जो मिलना चाहिये नहीं मिलता, क्योंकि मूल में अज्ञानता है और मिथ्यात्व है। जिसे आंखों से दिखता नहीं वह चक्की के अन्दर गेहूं डालकर, दलता-पीसता है और कुत्ता आकर खाता है, उसे उसका फल नहीं मिलता और गेहूँ व्यर्थ जाता है। ऐसे ही एक, सूरदास का दृष्टान्त है। कोई अन्धा नगर प्रवेश के लिये गमन क्रिया करता है परन्तु आंख न होने के कारण नगर का द्वार उसे उपलब्ध नहीं हो पाता और नगर के चारों ओर व्यर्थ ही चक्कर काटता है। उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान और सम्यक् श्रद्धा प्रीति बिना बाह्यक्रिया, मोहावरणादि दोषों के कारण, मोक्ष के परमानन्दरूप सत्फल को नहीं देती परन्तु कायक्लेश होने से संसार भ्रमणरूप अनिष्ट फल को ही देती है। नारायण श्री कृष्ण के परमभक्त वीरा सालवी का दृष्टान्त आता है। वीरा सालवी ने श्री कृष्ण देव के साथ श्री नेमिनाथ-भगवान को काया से तो वन्दन किया, परन्तु श्रद्धा भक्ति के बिना। इसलिये वह इस काय-क्लेश से पुण्यरूप फल को नहीं पा सका। ज्ञान एवं विवेक हीन क्रिया वास्तविक फल नहीं दे सकती-मोक्षरूपी जो फल जिस क्रिया से मिलने वाला हो वह नहीं मिलता ॥२२६॥

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविवर्जितः।
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥२२७॥

अर्थ : अहंकारवर्जित अर्थात् नम्रभाव से जो भाग्यशाली श्रद्धालु श्रावक मान्यपुरुषों को मान देता है; गुणानुराग रखता है; उस भाग्यशाली की धर्म क्रिया उत्तमोत्तम है ॥२२७॥

विवेचन : जो भाग्यशाली (आत्मा) मुमुक्षु गीतार्थ माननीय महापुरुषों को मान देता है तथा उनके वचनों का आदर सत्कार करता है; गुणीजनों के प्रति गुणानुराग रखता है; और मन में

किसी प्रकार का भी 'मैं राजा, सेठ या ज्ञानी हूँ' इस प्रकार का अभिमान नहीं लाता; नम्र रहता है, उस श्रद्धालु आत्मा की धर्मक्रिया, देवपूजा, गुरुभक्ति, सामयिक, प्रतिक्रमण, पौषध, तप, जप आदि उत्तमोत्तम कही है क्योंकि जिस धर्मक्रिया में श्रद्धा है, प्रेम है, नम्रता है, गुणानुराग है, विवेक है उसमें पुण्यानुबंधी पुण्य की वृद्धि होती है। ऐसी धर्म क्रिया करने वाले को अचिन्त्यशक्ति उपलब्ध होती है और वह शास्त्राधीन रहकर, यम-नियम परायण रहकर, अनादि कालीन कर्मबंधनों को काट कर, निर्जरा करता हुआ, शुक्लध्यान के योग से सच्चिदानन्द सुख का उपभोक्ता बनता है। इसलिये ऐसी धर्मक्रिया उत्तमोत्तम फल को देने वाली है, सच्चा फल देने वाली है ॥२२७॥

यस्य त्वनादरः शास्त्रे, तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥२२८॥

अर्थ : जिसको शास्त्र के प्रति आदर नहीं; उसके श्रद्धादि गुण उन्मत्त के गुणतुल्य होने से सज्जनों के लिये प्रशंसनीय नहीं है ॥२२८॥

विवेचन : जिसको वीतराग प्ररूपित शास्त्रों के प्रति श्रद्धा, आदर और बहुमानरूप पूज्यबुद्धि नहीं है, उसके श्रद्धा, संवेग (वैराग्य), निर्वेद (भवभीति), तप, जप आदि धर्मानुष्ठान आदि बाह्यगुणों को विवेकी महापुरुषों ने सराहा नहीं क्योंकि उसकी तुलना-उपमा शराबी अथवा किसी भी नशे में चूर उन्मत्त मनुष्य के पुरुषार्थ-शौर्य, उदारता आदि बकवास के साथ दी है। जैसे शराबी और उन्मत्त व्यक्ति के गुण किसी काम के नहीं। ऐसे ही शास्त्र में पूज्य बुद्धि बिना सर्व बाह्यक्रिया स्वछन्दी है, व्यर्थ है ॥२२८॥

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं, जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।
अंतःकरणरत्नस्य, तथा शास्त्रं विदुर्बुधाः ॥२२९॥

अर्थ : जैसे मलीन वस्त्र को जल अत्यन्त स्वच्छ बना देता है, उसी प्रकार अन्तःकरणरूपी रत्न को शास्त्र स्वच्छ बनाता है। ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है ॥२२९॥

विवेचन : जैसे साबुन और पानी अत्यन्त मलीन वस्त्र को भी स्वच्छ-विशुद्ध बना देते हैं; उसी प्रकार अनादि कालीन कर्ममल से मलिन अन्तःकरण को शास्त्रविहित अनुष्ठान पवित्र बना देते हैं, ऐसा आप्त पुरुषों का कहना है। इसलिये शास्त्र के प्रति तथा शास्त्रप्रतिपादन करने वाले गीतार्थ महर्षियों के प्रति मन में पूज्यबुद्धि-बहुमान रखना चाहिये ॥२२९॥

शास्त्रे भक्तिर्जगद्वन्द्यैर्मुक्तेर्दूती परोदिता ।
अत्रैवेयमतो न्याय्या, तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥२३०॥

अर्थ : जगद्वन्दनीय महापुरुषों ने शास्त्रभक्ति को ही उत्तमोत्तम मुक्तिदूती कहा है, इसलिये शास्त्र में भक्ति रखना यथार्थ न्यायपुरस्सर है क्योंकि वह भक्ति ही (जीवों को) मुक्ति के समीप ले जाती है ॥२३०॥

विवेचन : जगद्वन्दनीय वीतराग परमात्मा ने मोक्ष के साथ आत्मा का मिलन करवाने में शास्त्रभक्ति को महान् समर्थ दूती की उपमा दी है अर्थात् शास्त्र के प्रति भक्ति, आदर, बहुमान रूप पूज्यबुद्धि मनुष्य को मोक्ष के समीप ले जाती है। किसी की शक्ति या सामर्थ्य नहीं है कि वह शास्त्रभक्ति के बिना मोक्ष को प्राप्त कर सके। इसलिये शास्त्र और शास्त्रोपदेष्टा गुरुओं के प्रति पूज्यभाव रखना, उनका आदर सत्कार करना, सेवाभक्ति करना न्याययुक्त हैं। जो शीघ्र ही, अल्पकाल में मुक्त होने वाले हैं, उनके अन्दर शास्त्र के प्रति सच्ची भक्ति प्रकट होती है। परन्तु जो दीर्घसंसारी है उन्हें शास्त्र, गुरु और देव की भक्ति प्राप्त नहीं होती। शास्त्रभक्ति द्वारा जीवात्मा विवेक प्राप्त करता है और विवेकज्ञान से सर्वकर्म मलों से रहित पूर्णपवित्र होकर, शीघ्र ही मोक्षानन्द को प्राप्त करता है ॥२३०॥

तथाऽऽत्मगुरुलिङ्गानि, प्रत्ययस्त्रिविधो मतः ।
सर्वत्र सदनुष्ठाने, योगमार्गे विशेषतः ॥२३१॥

अर्थ : सदनुष्ठान वाले योग मार्ग में सर्वत्र आत्मा, गुरु और लिंगभेद से प्रत्यय विशेषतः तीन प्रकार का माना है ॥२३१॥

विवेचन : अब ग्रंथकार तृतीय अंग सम्यक्प्रत्ययवृत्ति को कहते हैं "प्रतीयते अर्थोऽस्माद् इति प्रत्ययः" जिससे अर्थ की प्रतीति हो वह प्रत्यय अर्थात् ज्ञान। वह ज्ञान आत्मा, गुरु और लिंगभेद से विशेष प्रकार से तीन प्रकार का बताया है। सदनुष्ठानवाली अर्थात् सफलप्रवृत्तिवाली ही जिसमें क्रिया है ऐसे योग के शास्त्र में तीन प्रकार मान्य है ॥२३१॥

आत्मा तदभिलाषी स्याद्, गुरुराह तदेव तु ।
तल्लिङ्गोपनिपातश्च, संपूर्ण सिद्धिसाधनम् ॥२३२॥

अर्थ : आत्मा स्वरूप को जानने की अभिलाषा करे, गुरु उसीका (आत्मस्वरूप में आने का मार्ग बताये) उपदेश दे और (अभिलषित सिद्धि अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करने) आत्मा के चिह्नों का समीप आना संपूर्ण वस्तु की सिद्धि है ॥२३२॥

विवेचन : ऊपर तीन प्रकार का ज्ञान बताया है आत्मा, गुरु और लिंग-चिह्न इन तीनों के ज्ञानबल से ही वस्तु स्वरूप की सिद्धि होती है। जब तक आत्मा, धन, कुटुम्ब, शरीर आदि बाह्य पौदगलिक सुखों को ही परम सुख मानती है तब तक वह बहिरात्मा है। ऐसी स्थिति में जीवात्मा

मोक्ष के लिये कुछ भी प्रयत्न कर नहीं सकती। लेकिन जब आत्मा भवाभिनन्दित्व का त्याग करके, मोक्ष का अभिलाषी होती है, तभी वह मोक्षयोग्य सदनुष्ठान करना प्रारम्भ करती है। ऐसी शुभप्रवृत्ति उसके अन्दर अन्तरात्मभाव को प्रकट करती है। जब जीव को अपने आत्म स्वरूप को जानने की अभिलाषा पैदा होती है, वह सद्‌गुरु की उपासना करता है। सद्‌गुरु भी उसे सुपात्र समझकर, आत्मस्वरूप को जानने का मार्ग बताते हैं, उसे आत्मस्वरूप का अनुभव करवाते हैं। जब तत्त्व की प्राप्ति के लिये अन्तरात्मा में तीव्र भावना प्रकट होती है तो सम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य और अनुकम्पा रूप आत्मा के चिह्न प्रकट होते हैं। अर्थात् शान्ति, वैराग्य, भवभीरुत्व, श्रद्धा और करुणा से उसका जीवन सौरभ चारों दिशाओं में महक उठता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप की सिद्धि होती है। सर्व प्रथम आत्मस्वरूप को जानने की अभिलाषा, फिर उसके द्वारा सद्‌गुरु का उपदेश श्रवण और पश्चात् तदनुसार वैसे चिह्नों का प्रकट होना वस्तु की सिद्धि ही है ॥२३२॥

सिद्ध्यन्तरस्य सद्बीजं, या सा सिद्धिरिहोच्यते ।
ऐकान्तिक्यन्यथा नैव, पातशक्त्यनुवेधतः ॥२३३॥

अर्थ : जो सिद्धि अन्यसिद्धि का उपादान अथवा निमित्त कारण बने वही सिद्धि यहाँ विवक्षित है; वह एकान्तफल देने वाली होनी चाहिये अन्यथा जिस (सिद्धि) से आत्मा का पतन हो, वह (सिद्धि) यहाँ विवक्षित नहीं है ॥२३३॥

विवेचन : जो सिद्धि अन्यसिद्धि का उपादान कारण या निमित्त कारण बने वही सिद्धि यहाँ अपेक्षित है अर्थात् जिससे आत्मा के गुणों का उत्तरोत्तर विकास हो; आत्मा की उत्तरोत्तर शुद्धि-निर्मलता हो उसे ही यहाँ योगशास्त्र में सिद्धि कहा है। परन्तु जो बाह्य चमत्कारी सिद्धियाँ होती है; वे आत्मा के पतन का कारण बनती हैं, आत्मा का सत्यभान भुला देती है। उसे पथभ्रष्ट कर देती हैं। अतः ऐसी चमत्कारी सिद्धि को यहाँ सिद्धि नहीं कहा गया है। जो सिद्धि भौतिकवाद से दूर ले जाकर, आत्मा को उसके आत्मस्वरूप में स्थिर करे वही सच्ची सिद्धि है। टीकाकार ने इसे इस तरह से कहा है :- घर, प्रासाद या किसी भवन निर्माण के पहले नींव में हड्डियाँ आदि शल्य अगर दूर न किया जाय तो महान् परिश्रम से तैयार किये हुये ऐसे भवन में रहने वाले पुण्योदय को नहीं पा सकते, अर्थात् उनका पुण्य नष्ट हो जाता है। क्योंकि अशुद्ध हड्डियां आदि नींव में रहने के कारण भवन अकस्मात गिर जाने से हताहत आदि नुकसान होता है। इसी प्रकार जो सिद्धियाँ मिथ्या अभिनिवेश वाली कदाग्रह वाली न हो; कुशंकायुक्त न हो; भयंकर पाप वाली न हो, मोक्षरूप फल को नाश करनेवाली न हो और मोक्षफल पर्यन्त की गुणश्रेणी में उपकारक हो, वही वास्तविक सिद्धि है। परन्तु मिथ्याभिनिवेशयुक्त, पौद्गलिकभोगों की वासना से युक्त तथा कषाययुक्त हो वह शक्ति तो आत्मा को उसके गुणस्थानक से गिराकर चार गति में भ्रमण करवाने वाली होती है। ऐसी

पतनकारी शक्ति व्यर्थ होने से मोक्ष की ओर नहीं ले जाती । इसलिये ऐसी चमत्कारी सिद्धि को हम सिद्धि नहीं मानते।

आशय यह है कि जो सिद्धि आत्मगुणों की प्राप्ति में हेतुभूत बने और एकान्त फल देने वाली बने वही सिद्धि यहाँ विवक्षित हैं । आत्मा का पतन करनेवाली सिद्धियां यहाँ विवक्षित नहीं है ॥२३३॥

सिद्ध्यन्तरं न संधत्ते, या साऽवश्यं पतत्यतः ।
तच्छक्त्याऽप्यनुविद्धैव, पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥२३४॥

अर्थ : जो सिद्धि सिद्ध्यन्तर (अन्यसिद्धि) को जोड़ती नहीं, वह अवश्य गिर जाती है । अतः पातशक्ति से अनुविद्ध होने से वस्तुतः वह (सिद्धि) पात ही कही जाती है ॥२३४॥

विवेचन : सिद्धि-आत्मा की शक्ति विशेष । यदि अन्तिम साध्य-मोक्ष पर्यन्त सिद्धिक्रम उत्तरोत्तर चले तो पूर्व-पूर्व सिद्धि-सिद्धि कही जाती है, परन्तु जो सिद्धि आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाने वाली अन्य सिद्धियों को जन्म नहीं देती, वह तो पतन ही है । यद्यपि वह साक्षात पतन नहीं करवाती फिर भी उसमें पतन होने की सम्भावना है, पतन के कारण उसमें विद्यमान हैं, इसीलिये ज्ञानी पुरुषों ने इस को पातशक्ति से अनुविद्ध कहा है । अर्थात् पतन के कारणों की शक्ति से युक्त होने से ज्ञानियों की दृष्टि में वह पतन ही है । जैसे वर्तमान में पुत्र-पौत्रादि न होने पर भी भावीपुत्र की अपेक्षा से वह पिता कहा जाता है। उसी प्रकार जो व्यक्ति वर्तमान काल में प्राप्त सिद्धि से दुष्ट आचरण में नहीं पड़ा परन्तु भविष्य में उससे पतन होने की सम्भावना है, इसलिये उसे पतन ही कहा है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि आदि से प्राप्त सिद्धियाँ जो पतन के कारणों से रहित हो तो वे प्राप्त करने योग्य हैं । परन्तु जिसमें पतन होना सम्भव है और जिन कारणों से पतन सम्भव हो, उन प्रमाद, अहंकार, क्रोध, राग, द्वेष आदि कारणों को छोड़ देना चाहिये ।

सिद्धियाँ तो ऐसी भूल-भूलैया है कि उसमें पड़कर मनुष्य भटक जाता है । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि-तपस्वी उसमें भूल खा जाते हैं । इनसे अनासक्त रहकर, केवल आत्मशुद्धि करने वाले जगत में विरले ही होते हैं । इसीलिये महापुरुषोंने इनको पतन का कारण समझकर, इन्हें हेय बताया है। वास्तविक सिद्धि तो वह है, जो आत्मा को उत्तरोत्तर मोक्ष की ओर ले जाय ॥२३४॥

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात्, साध्वी चैकान्तिकी भृशम् ।
आत्मादिप्रत्ययोपेता तदेषा नियमेन तु ॥२३५॥

अर्थ : सिद्ध्यन्तर के कारणों का संयोग होने से निश्चित ही यह अत्यन्त शुद्धतावाली, एकान्तिक सिद्धि, आत्मादि के प्रत्यय से युक्त है ॥२३५॥

विवेचन : जो सिद्धि अन्य विशेषगुणरूप सिद्धियों का अंग-निमित्त अथवा उपादान कारण बने जैसे यथाप्रवृत्ति-करण अपूर्वकरण के लिये; अपूर्वकरण ग्रंथीभेद के लिये; ग्रंथीभेद अन्तःकरण की शुद्धि के लिये; अन्तःकरण की शुद्धि सम्यक्त्व के लिये; सम्यक्त्व देशचारित्र और सर्वविरति चारित्र के लिये, चारित्र सर्वसंवर के लिये; सर्वसंवर निर्जरा के लिये; निर्जरा शुक्लध्यान के लिये; शुक्लध्यान घातीकर्मनाश के लिये; घातीकर्मों का नाश केवलज्ञान और केवलदर्शन के लिये; केवलज्ञान और केवलदर्शन सर्वकर्म निर्जरा के लिये और सर्वकर्मनिर्जरा मोक्ष के लिये होती है। इस प्रकार जो पूर्वसिद्धि उत्तरोत्तर अन्य उत्तमसिद्धियों की परम्परा का संयोग सम्बंध करवाती है, निःसन्देह वही अत्यन्त शुद्धतावाली एकान्तिक सिद्धि है। उसमें पतन का सम्भव नहीं, परम्परा से भी पतन करवाने में वह समर्थ नहीं है, सदैव हितकारी है। आत्मा, गुरु और लिंगादि तीनों प्रत्यय-ज्ञान से यह सिद्धि युक्त है ॥२३५॥

न ह्युपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि।
हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥२३६॥

अर्थ : उपायान्तर साध्य वस्तु, उपायान्तर से हठ करने पर भी सिद्ध नहीं होती इसलिये आत्मादि के प्रत्यय परायण होने की जरूरत है ॥२३६॥

विवेचन : जिस उपाय से जिस वस्तु की प्राप्ति होती हो, उसे छोड़कर अन्य चाहे कितने ही उपाय हठपूर्वक किये जायें फिर भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। जैसे मृत्पिण्ड से घट का निर्माण होता है लेकिन मिट्टी को छोड़कर, कोई कुम्भार सूत्र से घड़ा बनाने के लिये हजारों उपाय हठ पूर्वक करे, तो क्या वह घट निर्माण में कभी सफल हो सकता है ? इसी प्रकार आत्मा, गुरु और धर्म स्वरूप के चिह्नों का यथास्वरूप ज्ञान और श्रद्धारूपी प्रत्यय, जो मोक्ष का उपादान कारण है, उसको छोड़कर, यम, नियम, तप, जप, आतापना, प्राणायाम आदि धर्मक्रिया अत्यन्त हठपूर्वक की जाएँ फिर भी साध्य (मोक्ष) सिद्ध नहीं हो सकता, परमानन्द की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये मनुष्य को आत्मादि प्रत्यय परायण होना चाहिये। आत्मा, गुरु और धर्म (चारित्र) के चिह्नों की यथास्वरूप श्रद्धा और ज्ञानपूर्वक प्रत्यय अर्थात् उनके प्रति-विवेक पूर्वक विश्वास परायण होकर, जो योगी मोक्ष प्राप्ति के लिये अप्रमादपूर्वक प्रवृत्ति करता है अथवा अभिलाषा करता है; वह अवश्य मोक्षरूप साध्य को प्राप्त करता है (अतः मनुष्य को आत्मादि प्रत्यय परायण होना चाहिये)। जो वस्तु बनानी हो, उस के अनुरूप साधन की जरुरत रहती है यथा घर निर्माण में मिट्टी और वस्त्र बनाने के लिये सूत्र की जरुरत होती है। उसी प्रकार मोक्षरूपी साध्य की सिद्धि के लिये आत्मश्रद्धा, सत्गुरु श्रद्धा और चारित्र प्रत्यय जरुरी है। जो आत्मा, गुरु और लिंग के विश्वास-श्रद्धा से विकल है; मुख्य साधनों को छोड़कर, हजारों अन्य अनुष्ठानरूपी उपाय करने पर भी वे अपने साध्य अर्थात्

मोक्ष सिद्धि में असमर्थ ही होते हैं। मूल ही नहीं तो शाखा कहां से आये ? मूलं नास्ति कुत: शाखा ? ॥२३६॥

पठित: सिद्धिदूतोऽयं, प्रत्ययो ह्यत एव हि।
सिद्धिहस्तावलम्बश्च, तथाऽन्यैर्मुख्ययोगिभि: ॥२३७॥

अर्थ : इसलिये अन्य मुख्ययोगियों ने भी आत्मादि प्रत्यय को ही सिद्धि का दूत और सिद्धि का हस्तावलम्बन कहा है ॥२३७॥

विवेचन : आत्मा, गुरु तथा धर्म स्वरूप को जानने वाला, उसमें पूर्ण श्रद्धा रखने वाला योगी मोक्ष को पा लेता है। इसलिये इन तीनों पर जो प्रत्यय-विश्वास है उसे सिद्धि की दूती कहा हैं क्योंकि आत्मादि प्रत्यय मोक्ष का उपादान कारण हैं, मोक्ष का साक्षात् हेतु है। शास्त्रों में भी कहा है :-

दंसणभट्टो भट्ठो, दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
चरणरहिया सिज्झंति, दंसणेन बिना व सिज्जन्ति ॥

जो श्रद्धा से भ्रष्ट है, वह सर्वशुभगति से भ्रष्ट है। दर्शनभ्रष्ट को निर्वाण संभव नहीं है। क्योंकि कभी-कभी चारित्र बिना भी जीव मुक्त हो सकता है परन्तु चारित्रवान् होने पर भी श्रद्धा से भ्रष्ट है तो उसको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। इसलिये आत्मादि प्रत्यय को मुक्तिरूपी सिद्धि की दूती कहा है और हस्तावलम्बन कहा है। मोक्षप्राप्ति में आत्मादि प्रत्यय उपादान कारण होने से जैसे महल पर चढ़ने के लिये सीढ़ी का अवलम्बन लेना पड़ता है, मोक्षरूपी प्रासाद पर चढ़ने के लिये आत्मादि की श्रद्धा सीढ़ीरूप है अथवा चारित्र महल पर चढ़ने के लिये हाथ से पकड़े हुये रस्से के समान है अथवा मोक्षमार्ग में गमन करने वाले को हाथ का सहारा देकर, उसे मोक्ष तक ले जाने वाला है। अन्य मुख्ययोगियों का भी यही अभिप्राय: है। आत्मश्रद्धा, सद्गुण और धर्म पर सच्ची श्रद्धा ही मोक्ष की ओर ले जाने वाली है। आनंदघनजीने १४वें अनन्तनाथ भगवान के स्तवन में सुन्दर गाया हैं :-

देव गुरु धर्मनी शुद्धि कहो किम रहे,
किम रहे शुद्ध श्रद्धा न आणो;
शुद्ध श्रद्धान विषु सर्व किरिया करी,
छार पर लींपणुं तेह जाणो ।
धार तलवारनी सोह्यली दोह्यली० ॥५॥

इस तरह शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व क्रिया करने पर भी मुक्ति संभव नहीं है ॥२३७॥

अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं, सद्योगारम्भकस्तु यः ।
नान्यः प्रवर्तमानोऽपि, तत्र दैवनियोगतः ॥२३८॥

अर्थ : जो सद्योगारम्भक (सानुबंध-अनुष्ठाता) है, वह निश्चित ही आत्मादि प्रत्यय की अपेक्षा रखता है परन्तु अन्य (जीव) दैव की प्रबलता-कर्म की बहुलता के कारण योग में प्रवृत्ति करने पर भी (आत्मादि की प्रतीति बिना) सद्योग का आरम्भ नहीं कर सकता ॥२३८॥

विवेचन : जिस योगी को सत्ययोग का आरम्भ करना है; निश्चय ही वह सर्वप्रथम आत्मादि स्वरूप को जानने के लिये सद्गुरु से अनुभवज्ञान लेगा; आत्मादि का स्वरूप गुरु से अच्छी तरह से समझकर, उस पर संपूर्ण श्रद्धा रखेगा और आत्म श्रद्धा से फिर वह योग की प्रवृत्ति करता है। सत्ययोग की प्राप्ति के लिये आत्मादि पर संपूर्ण श्रद्धा-प्रतीति अत्यन्त जरूरी हैं । सत्ययोगारम्भक सतत् आत्मादि प्रत्यय की अपेक्षा रखते हैं । तभी वे अपने साध्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु अन्य जो विषयशुद्ध अनुष्ठान और स्वरूप शुद्ध अनुष्ठान करने वाले प्रथम और द्वितीय प्रकार के अनुष्ठाता है, उनमें कर्मों की प्रबलता होती है । अति चिकना कर्म संग्रह इतना होता है कि देखा-देखी यम नियम आदि योगमार्ग में प्रवृत्ति करने पर भी आत्मादि की प्रतीति न होने के कारण वे सत्य योग का आरम्भ कभी नहीं कर सकते । सद्योगारम्भक व्यक्ति में आत्मा, गुरु, लिंग आदि पर संपूर्ण प्रतीति-विश्वास होता है, जो मोक्ष का कारण बनता है । इससे अन्य को योग क्रिया तो होती ही है परन्तु वह आत्मा, गुरु और लिंग प्रत्यय से विकल होने से अज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय और अशुभयोग के बल से पराधीन बना हुआ सत्य योग का आरम्भ नहीं कर सकता ॥२३८॥

आगमात् सर्व एवायं, व्यवहारः स्थितो यतः ।
तत्रापि हाठिको यस्तु, हन्ताऽज्ञानां स शेखरः ॥२३९॥

अर्थ : यह सब (योगमार्गोपयोगी) व्यवहार (हेयोपादेयरूप) आगम में प्रसिद्ध है; (उस व्यवहार को छोड़कर) मोक्ष के लिये प्रवृत्ति में भी जो हठ करने वाला है वह मूर्खों का सरदार हैं ॥२३९॥

विवेचन : यह सब योगमार्ग के उपयोगी हेय-उपादेय रूप व्यवहार आगमों में प्रसिद्ध है। हमने हमारे घर की कोई बात नहीं कही । वीतराग परमात्मा द्वारा प्ररूपित वाणी को ही यहाँ बताया गया है । ऐसे सर्वज्ञ आप्त महापुरुषों के वचनों पर विश्वास या श्रद्धा न रखकर, जो केवल अपनी कल्पना से स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है, वह मुर्खशिरोमणि है । क्योंकि योग का फल इन्द्रियगोचर नहीं परन्तु अगोचर है । ऐसे अगोचर विषय में सर्वज्ञ आप्तपुरुषों के वचनों में श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है । वह श्रद्धा वीतराग प्रणीत आगमों का गुरुगमपूर्वक अभ्यास करने से पैदा होती है। इसलिये सद्योग की प्राप्ति के लिये आज्ञा उल्लंघन करने वाले को हठवादी और मूर्खशिरोमणि कहा है ॥२३९॥

तत्कारी स्यात् स नियमात् तद् द्वेषी चेति यो जडः ।
आगमार्थे तमुल्लङ्घ्य, तत एव प्रवर्त्तते ॥२४०॥

अर्थ : जो मूर्ख आगम के अर्थों का उल्लघन करके स्वच्छंदता से वर्तन करता है, वह निश्चय पूर्वक मोक्ष सम्बंधी क्रिया करने पर भी उसका (आगम का) द्वेषी है ।

अथवा

वह क्रिया तो निश्चित ही मोक्ष के लिये करता है परन्तु वह मोक्षमार्ग का द्वेषी है क्योंकि आगमार्थों का उल्लंघन करके, वह जड़मति स्वच्छन्दता से वर्तन करता है ॥२४०॥

विवेचन : स्वच्छन्दी व्यक्ति क्रिया तो निश्चित ही मोक्ष के लिये वैसी ही करता है; बाहर से वह अपने आप को दिखाता है कि वह आगमानुसार ही क्रिया करता है; परन्तु वह मूर्ख वास्तविक रूप से आगमों का अनुसरण नहीं करता, क्योंकि क्रिया वैसी करने पर भी उसके हृदय के अन्दर जो श्रद्धाभाव, आदर बहुमान होना चाहिये वह नहीं होता । उसकी क्रिया कदाग्रह पूर्वक, द्वेषपूर्ण होती है, इसलिये हृदय शुद्धि जो होनी चाहिये वह नहीं होती । इस प्रकार वह आगम के अर्थों का उल्लंघन करता है। इसलिये उसे परमात्मा की भक्ति करने वाला भक्त न कहकर, द्वेषी कहा है । कहने का तात्पर्य यह है कि जो आगमविहित विधि-निषेधों का अनादर करके, स्वच्छन्दता से प्रवृत्ति करता है वह शास्त्रद्वेषी है, मूर्ख है ॥२४०॥

न च सद्योगभव्यस्य, वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥२४१॥

अर्थ : सद्योग के योग्य भव्यात्मा को इस प्रकार की वृत्ति ही नहीं होती । जातिवंत मयूर कभी भी नीच के योग्य धर्म का सेवन नहीं करता ॥२४१॥

विवेचन : जो भव्यात्मा परिशुद्ध योग का अधिकारी है, उसे ऐसी वृत्ति अर्थात् जिस धर्म क्रिया में द्वेष, खेद, मद, अश्रद्धा, लोगों को ठगने की वृत्ति अपने आप को उत्कृष्ट बताने की वृत्ति रहती है वह नहीं होती । उनकी धर्मक्रिया तो मन, वचन और काया से शुद्ध होती है । ज्ञान और श्रद्धा विवेक से युक्त होती है । सद्गुरुओं के प्रति, धर्मशास्त्रों के प्रति, सद्गुणियों के प्रति दिल में अगाध प्रेम, श्रद्धा और सद्भाव होता है । यह उनका जातीय स्वभाव है। इसे छोड़कर, उसे अन्य प्रकार की वृत्ति ही नहीं होती । जैसे जातिवाद संस्कार-सभर मयूर अपने जातीय उच्च स्वभाव को छोड़कर, कभी भी अजातीय नीच स्वभाव को ग्रहण नहीं करता । वह अपने उच्च जातीय स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्ति करता है । मयूर जातिवंत पक्षी माना गया है इसीलिये भव्यात्मा के साथ उसकी उपमा दी गई है ।

जातिवन्त मयूर की भांति सद्‌योग का अधिकारी योगी भव्यात्मा भी अपने उच्च गुणों को कभी भी छोड़ नहीं सकता ॥२४१॥

ऐसे महापुरुष कही भी जाय, उनके सद्‌गुणों की सुवास (सुगंध) सर्वत्र फैल जाती है इसी भाव को स्पष्ट करते हुये ग्रंथकारने कहा है :-

एतस्य गर्भयोगेऽपि, मातृणां श्रूयते परः ।
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ, जनश्लाघ्यो महोदयः ॥२४२॥

अर्थ : सद्‌योग के योग्य पुरुष के गर्भ में आने पर माता की उचित कार्यों में प्रवृत्ति होने से वह लोगों में प्रशंसा प्राप्त करती है ॥२४२॥

विवेचन : ऐसे सद्‌योग के अधिकारी - योगी, तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष जब माता के गर्भ में आते हैं तब माता को बड़े उच्चकोटि के दोहले-विचार पैदा होते हैं । उन दोहलों को पूरा करने के लिये माता महान् उपकार के शुभकार्य करती है; धर्मानुष्ठान करवाती है; उत्तमक्रिया करने की भावना होती है; दान देती है; सभी का मन से, वचन से, काया से कल्याण चाहती है और करती है। जिससे लोग माता की बहुत प्रशंसा करते हैं । माता जगत में वन्दनीय, पूजनीय बनती है । माता-पिता, कुटुम्ब-कबीला, जाति और कौम की यशकीर्ति भी जगत में चारों और फैल जाती है । जिस कोटि का जीव माता के गर्भ में आता है, उसी के अनुसार माता का मानसिक कायाकल्प हो जाता है । महापुरुषों के गर्भ में आने पर माता की सारी मानसिक स्थिति=मानसिक परिणामों की धारा खूब उच्च हो जाती है। यह सब उस उच्च-उदात्त महापुरुष की आत्मशक्ति का द्योतक है । जैसे कि टीकाकार ने भी बताया है कि सुमतिनाथ भगवान् की माता को भगवान् के गर्भ में आने पर अच्छी-सुन्दर मति पैदा हुई इसलिये भगवान् का नाम सुमतिकुमार रखा । श्री धर्मनाथ भगवान् के गर्भ में आने पर माता को धर्ममय विचार आये तो उनका नाम धर्मनाथ रखा । मुनिसुव्रतनाथ भगवान् के गर्भ में आने पर माता को मुनिओं जैसा व्रत पालने का मन हुआ तो उनका नाम मुनिसुव्रत रखा । भगवान् वर्धमान के गर्भ में आने पर प्रतिदिन कुल में सब प्रकार से वृद्धि हुई, इसलिये उनका नाम वर्धमान रखा इस । प्रकार महापुरुषों का जो उच्च जातीय स्वभाव है वे कहीं भी चले जायें, प्रकट हुये बिना नहीं रहता । उच्चयोगी अपने उदात्त स्वभाव को कभी नहीं छोड़ सकते ॥२४२॥

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।
सदोजोरत्नतुल्याश्च, लोकाभ्युदयहेतवः ॥२४३॥

अर्थ : उत्तमजाति के स्वर्णतुल्य; शुक्ल प्रतिपदा के चन्द्र तुल्य; उत्तम तेज वाले रत्न तुल्य; वे (सद्‌योग वाली भव्यात्मायें) लोगों के अभ्युदय के हेतु हैं (कारण हैं करने वाले हैं) ॥२४३॥

विवेचन : उत्तमजाति के स्वर्ण से तात्पर्य अन्यधातु के मिश्रण से रहित, अत्यन्त शुद्ध स्वर्ण की भांति जो विकारों के मिश्रण से रहित शुद्ध आत्म चैतन्य में रमण करने वाले हैं; जिनकी गुण श्रेणी प्रतिपदा की चन्द्रकला के समान प्रतिदिन प्रगतिशील है; जिनका आत्मतेज दुनिया में देदीप्यमान रत्न के समान उज्जवल और प्रकाशमान है, ऐसे महान् योगी - भव्यात्माएँ महान् पुण्यानुबंधी पुण्य से गर्भ अवस्था में भी अपने अपूर्व माहात्म्य बल से जगत का महान् अभ्युदय-कल्याण करते हैं। (शास्त्रों में आता है कि) जब वे जन्म लेने वाले होते हैं तब जगत के सर्वजीवों को पूर्ण साता-वेदनीय का अनुभव होता है। नरक जैसे स्थान पर भी सुन्दर सुखकारी प्रकाश होता है । जहां वे महापुरुष विचरते हैं वहाँ दुष्काल, महामारी, मरकी, परचक्र-स्वचक्र, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, भूकंप आदि सभी उपद्रवों का अभाव होता है । इस प्रकार ये महापुरुष लोगों के कल्याण के हेतु हैं ॥२४३॥

औचित्यारम्भिणोऽक्षुद्राः, प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञाः योगधर्माधिकारिणः ॥२४४॥

अर्थ : औचित्यारम्भक-उचित प्रवृत्ति करने वाला, अक्षुद्र-गम्भीर, प्रेक्षावान्-कुशाग्रबद्धि, शुभाशयी-शुभपरिणामी, अवन्ध्यचेष्टा-सफल प्रवृत्ति करनेवाला और कालज्ञ-समयज्ञ (देश-काल के जानकार), ये योगधर्म के अधिकारी हैं ॥२४४॥

विवेचन : सर्वकार्यों में उचित-अनुचित, योग्य-अयोग्य, कृत्य-अकृत्य का विवेक रखकर, जो सतत् उचित प्रवृत्ति करता है; अक्षुद्र-नीच स्वभावी, चुगलखोर, छिद्रान्वेषी-अन्य के दोषों को जो बाहर प्रकट नहीं करता, सभी व्यथाओं को - सभी विषों को जो पी जाता है जो समुद्र जैसा गम्भीर है; प्रेक्षावान्-जो सर्वकार्यों में अतिनिपुणबुद्धि से सूक्ष्म उपयोग द्वारा वस्तुतत्त्व पर विचार करने वाला है; शुभ आशय वाला-हमेशा दूसरे का भला सोचने वाला है; अवन्ध्यचेष्टा-जिनकी प्रवृत्ति हमेशा सफल होती है, अर्थात् (बुद्धि-विवेक से) खूब सोच विचार कर, वह उन्हीं कार्यों को अपने हाथ में लेता है, उसी में अपनी शक्ति खर्च करता है, जिसमें अन्त में वह सफल हो सके । जिसका परिणाम(रिजल्ट) जीरो है, परन्तु प्राथमिक दृष्टि से महान् कार्य दिखाई देने पर भी, वह उस कार्य में अपनी शक्ति नष्ट नही करता । कालज्ञ-जो समयज्ञ-समय सूचक है, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को जानने वाला है । उपरोक्त गुणों वाले व्यक्ति ही योगी बन सकते हैं । वे ही योग धर्म के अधिकारी है । योगी बनने वाले साधक में उपरोक्त छः गुणों का होना नितान्त आवश्यक है । जिनमें ये गुण नहीं वे योग के अधिकारी नहीं बन सकते । योग की योग्यता मापने का यह बेरोमीटर है ॥२४४॥

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः, शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।
स तदण्डरसादीनां, सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥२४५॥

अर्थ : महापुरुषों ने शास्त्र में यहाँ जो मयूर का दृष्टान्त बताया है, वह मयूर के अण्डे में रही रसादि की सत्शक्ति का प्रकाशक है-परिचायक है ॥२४५॥

विवेचन : मयूर का दृष्टान्त स्पष्ट करता है कि मयूर की चित्र-विचित्रता का बीज, सत्तारूप से अण्डे में रहा हुआ है, तभी वे रंग मयूर में बड़े होने पर प्रकट होते हैं, क्योंकि "**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः**" जिसकी सत्ता होती है वही सत्रूप बाहर आता है, लेकिन जिसकी सत्ता ही नहीं वह कभी विद्यमान नहीं हो सकता। इसी प्रकार योग के अधिकारी आत्माओं में उत्तरकाल में अभिव्यक्त होने वाले गुणसमूह के बीज गर्भावस्था में ही रहे हुये होते हैं। इसी कारण उनकी योगमार्ग में प्रवृत्ति होती है। जो भविष्य में महान् बनने वाले हैं, उनके लक्षण गर्भ में ही प्रकट होने लगते हैं, क्योंकि गुणसम्पन्नता के बीज उनमें सत्तारूप से रहे हुये है। महापुरुषों के जीव माता के गर्भ में आते ही, उनकी महानता के आन्दोलन आस-पास के वातावरण को आन्दोलित कर देतें हैं। महापुरुषों के आन्दोलन जगत में सद्धर्म का प्रचार करते हैं ॥२४५॥

प्रवृत्तिरपि चैतेषां, धैर्यात् सर्वत्र वस्तुनि ।
अपायपरिहारेण, दीर्घालोचनसङ्गता ॥२४६॥

अर्थ : इनकी (योगाधिकारी महापुरुषों की) प्रवृत्ति भी सर्व वस्तुओं में (धर्म और अर्थ आदि क्षेत्रों में) भावी विघ्नों को दूर करके, धैर्यपूर्वक कार्य के परिणाम को देखने वाली दीर्घदृष्टि से होती है ॥२४६॥

विवेचन : योगधर्म के अधिकारी महापुरुष धर्मक्षेत्र में अथवा आर्थिक क्षेत्र व्यापारादि सर्व क्षेत्रों में जो भी प्रवृत्ति करते हैं, वह सब खूब धीरजपूर्वक दूसरों से क्षुभित हुये बिना, स्थिरचित्त से करते हैं तथा भावी विघ्नों को दूर करके, सूक्ष्मबुद्धि और दीर्घ दृष्टि से कार्य के परिणाम पर विचार करके करते हैं। इसीलिये उनकी प्रवृत्ति कभी असफल नहीं होती, सर्वत्र सफल ही होती है ॥२४६॥

महापुरुषों की प्रवृत्ति कैसी है ? साध्यसिद्ध होने पर भी उनकी मुखमुद्रा कैसी रहती है उसी के विशेषण दिये हैं कि :-

तत्प्रणेतृसमाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा ।
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीर्यस्तिमितानना ॥२४७॥

अर्थ : उन योग स्वरूप के उपदेशकों की प्रवृत्ति चित्र रूप रत्न विभूषण से शोभित होती है। योग की प्रवृत्ति में व्याप्त योगी साध्य की सिद्धि होने पर भी उत्सुकता दिखाते नहीं है, पर वे उस समय स्थिर समुद्र की तरह गंभीर मुखमुद्रा वाले होते हैं ॥२४७॥

विवेचन : प्रवृत्ति मात्र का मूलस्रोत मन है जैसी मानसिक स्थिति होगी वैसी शुभ या अशुभ प्रवृत्ति होगी। तो यहाँ महापुरुषों की प्रवृत्ति के लिये जो विशेषण दिया है, वह भी इसी को पुष्ट

करता है । महापुरुषों की प्रवृत्ति का मूल उस प्रवृत्ति के उपदेशक तीर्थंकरादि के स्मरण से व्याप्त चित्तरूपी रत्न बताया है। जिसका चित्त प्रभु स्मरण से सभर है, उससे अच्छा और ऊँचा क्या हो सकता है ? प्रभुस्मरण से सभर चित्त उस प्रवृत्ति का अलंकार बताया है । ऐसे चित्त से जो भी प्रवृत्ति होगी साध्य को ही सिद्ध करेगी । फिर बताया है साध्य सिद्ध होने पर भी, विविध सिद्धियों की प्राप्ति होने पर भी, योगाधिकारी की मुखमुद्रा गम्भीर रहती है । किसी प्रकार की भी चंचलता या उछलकूद नहीं होती और वह अपने आप में प्रसन्न होता है । वह आत्मप्रसन्नता में निमग्न होता है । कहा भी है कि अधजल गगरी छलकत जाय, जो पूर्ण है जो सच्चा ज्ञानी है वह उतना ही गम्भीर स्वयंभूरमण समुद्र की भांति गम्भीर होता है ।

वाचक यशोविजयजी ने शांतिनाथजी के स्तवन में सुन्दर गाया है :-

जिनहि पाया तिनहि छिपाया, न कहे कोउ के कान में
ताली लागी जब अनुभवकी, तब जाने कोउ सान में ।
हम मगन भये प्रभु ध्यान में

योग के अनाधिकारी साधक ही थोड़ी सी सिद्धि प्राप्त होने पर अभिमानरूपी हाथी के ऊपर चढ़ जाते हैं । अपना प्रभाव दूसरों पर डालने के लिये और अर्थ और काम के लिये उसका उपयोग करते हैं और उछलकूद करते हैं । परन्तु जो सद्योग को अधिकारी आत्माएँ है उनकी मानसिक स्थिति बड़ी उदात्त और ऊँची होती है । वे तो जरूरत पड़ने पर ही मात्र धर्म की प्रभावना के लिये कभी-कभार उनका उपयोग करते हैं, परन्तु स्वार्थ या यशकीर्ति से तो वे सदा दूर रहते हैं ॥२४७॥

फलवद् द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृशं तथा ।
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं, सानुबन्धं महर्षिभिः ॥२४८॥

अर्थ : फलवान् वृक्ष के सद्बीज के अंकुर सदृश शुद्धानुष्ठान को महर्षियों ने सानुबंध वाला कहा है ॥२४८॥

विवेचन : महर्षियों ने बताया है जैसे फलों से लदे हुये आम अथवा वटवृक्ष के सद्बीज (जिन बीजों में फल देने की सत्ता विद्यमान है) के अंकुर अवश्यमेव फल देते हैं । इसी प्रकार तीर्थंकर वीतराग की वाणी के भाषावर्गणा के पुद्गल जब योगाधिकारी के हृदयपटल पर पड़ते हैं, तो उसके फलस्वरूप सम्यक्त्वदर्शन, कषायविजय, उपशमभाव, श्रेष्ठ व्रत, पच्चखाण, तप, जप, ध्यान, आदि शुद्ध अनुष्ठान जो यम नियम आदि स्वरूप में है प्रकट होते हैं । और ऐसा उनका अनुष्ठान सानुबंध वाला कहा है अर्थात् मोक्षरूपी सिद्धि से युक्त कहा है । योगाधिकारी का शुद्ध अनुष्ठान महापुण्य के योग से उत्तरोत्तर प्रथम अनुष्ठान से द्वितीय और द्वितीय से तृतीय उच्च कोटि अनुष्ठान पर ले आता है । ऐसी एक दूसरे का उपादान कारण बनने वाली सिद्धियां उत्तम मोक्षफल का अनुबंध

कारण बनती है। महापुरुषों की प्रवृत्ति उपर बताई जैसी उत्तम होती हैं । इसीलिये उसे सानुबंध कहा है, मोक्ष फल देने वाली कहा है ॥२४८॥

अन्तर्विवेकसम्भूतं, शान्तोदात्तमविप्लुतम् ।
नाऽग्रोद्भवलताप्रायं, बहिश्चेष्टाधिमुक्तिकम् ॥२४९॥

अर्थ : योगाधिकारी का अनुष्ठान कैसा होता है ? ग्रंथकार बताते हैं :- वह (अनुष्ठान) अन्तर्विवेक से समुत्पन्न, शांत, उदात्त, विप्लवरहित होता है पर वृक्षप्रांत से उत्पन्न हुई लता की भाँति नहीं होता और वह (चैत्यवन्दन गुरुवन्दन आदि) बाह्य क्रिया में मुक्ति की श्रद्धा वाला होता है॥२४९॥

विवेचन : योगाधिकारी आत्मा, तप, जप, देवपूजा, गुरूपूजा आदि अनुष्ठान सामान्य लोगों की भाँति देखा-देखी नहीं करता और न ही किसी प्रकार के स्वर्ग, सम्पत्ति, लोकेषणा की कामना से ही करता है । उसका अनुष्ठान अन्तर्विवेक से उत्पन्न होता है, गुजराती में जिसे "मांहि थी उगे छे" कहते हैं । वह आन्तरिक जागृति से परिपूर्ण होता है । इसीलिये उसकी अन्दर की सर्ववृत्तियाँ शांत हो जाती है । कषाय मन्द पड़ जाते हैं अथवा सर्वथा विनष्ट हो जाते हैं, और क्षमा, मार्दव, आर्जव आदि महान् उदार गुण प्रकट होते हैं । किसी प्रकार का भी लोभ का विप्लव-उपद्रव नहीं रहता। वृक्ष के तने में उगी हुई लता दूसरी लता से सम्बंध नहीं रखती; अन्य सम्बंध से मुक्त रहती है ऐसा इस अनुष्ठान में नहीं होता क्योंकि इस अनुष्ठान को सानुबंध कहा है । वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अनुष्ठानों के साथ जोड़ता है और बाह्य चेष्टा - चैत्यवन्दन, गुरुवन्दन, तप, जप, सामायिक, प्रतिक्रमण, पूजा आदि बाह्य क्रिया में विवेकयुक्त ज्ञानमयी श्रद्धा होती है । उनकी बाह्य क्रिया-अनुष्ठान आन्तर श्रद्धा का पुष्टावलम्बन बनता है और मुनि के लिये उपकारक होता है ॥२४९॥

विषय, स्वरूप और अनुबंधशुद्ध इन तीन प्रकार के अनुष्ठानों को बताकर, तीनों की संमति बताते हैं ।

इष्यते चैतदप्यत्र, विषयोपाधिसङ्गतम् ।
निदर्शितमिदं तावत्, पूर्वमत्रैव लेशतः ॥२५०॥

अर्थ : यहाँ (महापुरुषों की) ऐसी मान्यता है कि विषयशुद्ध अनुष्ठान उपचार से योग का अंग है । यह बात जो पूर्व में संक्षेप से कही है वह युक्ति-युक्त है ॥२५०॥

विवेचन : इस शास्त्र में योग स्वरूप का विचार करते हुये तीन प्रकार के अनुष्ठानों में जब विषय शुद्ध अनुष्ठान को उपचार से योग का अंग माना है तो फिर स्वरूपसिद्ध और अनुबंध शुद्ध अनुष्ठान का स्वीकार क्यों नहीं करना, अर्थात् होगा ही । ऐसा मानना उचित भी है क्योंकि पूर्व में योगबिन्दु शास्त्र में संक्षेप से बताया है कि :-

मुक्ताविच्छापि यच्छ्लाघ्या तमःक्षयकरीमता मुक्ति की इच्छा मात्र भी प्रशंसनीय है क्योंकि वह अज्ञान को नाश करने वाली है ऐसा महापुरुषों ने बताया है इसका विस्तार अन्य शास्त्रों में देख लेवें ॥२५०॥

अपुनर्बन्धकस्यैवं सम्यग्नीत्योपपद्यते ।
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलमवस्थाभेदसंश्रयात् ॥२५१॥

अर्थ : कपिल सौगतादि के शास्त्र प्रणीत समस्त अनुष्ठान अपुनर्बन्धक को अवस्थाभेद का आश्रय लेने से सम्यक् प्रकार से घट जाते हैं ॥२५१॥

विवेचन : अपुनर्बन्धक आत्मा से तात्पर्य है उस जीव से जो अब लम्बे काल तक भवभ्रमण करने वाला नहीं हो; लघु संसारी जीव अपुनर्बन्धक कहा जाता है । अपुनर्बन्धक जीवों की अलग-अलग तरतम अवस्थाएँ मानी गई हैं । सभी की विकास स्थिति भिन्न होती है इसलिये अन्य - कपिल और बौद्ध आदि शास्त्रों में मुमुक्षुजन योग्य समस्त अनुष्ठान जो बताये हैं, वे सभी प्रकार के अनुष्ठान अपुनर्बन्धकों की अवस्थाभेद से घटित हो जाते हैं । जैसे एक ही कक्षा में पढ़ने वाले विद्यार्थियों की सभी की अपनी अलग-अलग योग्यता होती है, इसी प्रकार अपुनर्बन्धक कहलाने वाले आत्माओं में भी तारतम्यभेद की योग्यता होती है इसलिये सभी प्रकार के अनुष्ठान सम्यक् घटित होते हैं । किसको किस अवस्था में कौन सा अनुष्ठान उपकारक हो सकता है, वह विचारणीय है ॥२५१॥

स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव, ग्रन्थिभेदे तथा सति ।
सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्चैः, प्रशमादिगुणान्वितः ॥२५२॥

अर्थ : स्याद्वाद न्याय से तो ग्रंथीभेद करने पर ही आत्मा उत्कृष्ट प्रशमादि गुणों से युक्त सम्यक् दृष्टि होता है ॥२५२॥

विवेचन : स्वतन्त्र नीति से तात्पर्य है एकान्तवाद के बंधन का त्याग करके स्याद्वाद दृष्टि - अनेक अपेक्षाओं से वस्तुतत्त्व का निरीक्षण करने वाली अनेकान्तनीति । जैनागमों में बताये हुये सिद्धान्तानुसार राग, द्वेष, मोह, माया और अज्ञानता के गाढ़ बंधनों से मजबुत बनी हुई कर्मग्रंथी-कर्मरूपी गांठ को अपूर्वकरण द्वारा जब जीवात्मा छिन्न भिन्न कर देती है; तो वह अनन्तानुबंधी की चौकड़ी को, मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय, समकितमोहनीय को उपशान्त कर देता है । जब अनन्तानुबंधी कषायादिशान्त हो जाते हैं, तब वह जीव सम्यक् दृष्टि बनता है । सम्यक् दृष्टि बनने पर पूर्व अवस्था से अत्यन्त शक्तिवाले प्रशम-उपशम - जिसमें आत्मा कर्मों के कठिन विपाकों को भोगते हुये भी अन्य निमित्त बने हुये जीवात्माओं के अपराधों को क्षमा कर देता है और अपने कषायों को मन्द करने का प्रयत्न करता है । संवेग - नर देव सम्बंधी भोगों को भी दुःखदायी

समझकर, जीवात्मा केवल मोक्षसुख की ही अभिलाषा करती है। निर्वेद - सांसारिक सुखों के प्रति अरुचि, ममत्व का त्याग और वीतराग परमात्मा द्वारा उपदिष्ट उपदेशों में अटूट श्रद्धा रखता है। अनुकम्पा - संसार में प्राणियों के भयंकर दु:खों को देखकर उनके दु:खों को दूर करने की अभिलाषा करता है। आस्तिकता - वीतराग प्रभु ने भव्यात्माओं के हित के लिये जो कल्याण मार्ग बताया है, वही सत्य है ऐसी अटूट श्रद्धा उसके अन्दर पनपती है। इस प्रकार वह सम्यक् दृष्टि जीव उपशम, संवेग निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता आदि गुणों से सुशोभित होता हैं। इन गुणों से उसकी आत्मा उत्तरोत्तर शुद्ध होती है ॥२५२॥

शुश्रूषा धर्मरागश्च, गुरु-देवादिपूजनम् ।
यथाशक्ति विनिर्दिष्टं, लिङ्गमस्य महात्मभिः ॥२५३॥

अर्थ : महापुरुषों ने यथाशक्ति शुश्रूषा, धर्मराग, गुरुदेवादि के पूजन को सम्यक् दृष्टि जीव के चिह्न लक्षण बताये हैं ॥२५३॥

विवेचन : सम्यक्दृष्टि जीव को हमेशा वीतराग प्रणीत सत्शास्त्रों को श्रवण करने की प्रबल इच्छा होती है। वह चाहता है कि हमेशा शास्त्रश्रवण करता रहुं। उसे धर्म के प्रति राग होता है। सर्व बाह्य क्रियाओं और धर्मानुष्ठानों को बड़े भावोल्लास पूर्वक करता है। उसे श्रावकव्रत पालने की इच्छा होती है। पंचमहाव्रतधारी, सत्यधर्म का उपदेश देने वाले आचार्य, साधु-साध्वी, गुरुजनादि तथा श्रावक-श्राविका, सम्यक्दर्शनव्रती, भद्रपरिणामी, वृद्ध, ग्लान, तपस्वी, बिमार की सेवा-शूश्रूषा करने की प्रबल भावना होती है। साधर्मिक बंधुओं की सेवा, भक्ति, दान, सम्मान करके उनको सुखी करने में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहता है। गुरुजनों की यथाशक्ति भक्ति और वीतराग परमात्मा के मन्दिर में महापूजन, प्रभावना आदि में उत्साह पूर्वक अपनी दानशक्ति को प्रकट करता है। ऐसे गुण सम्यक्दृष्टि जीवों में पाये जाते हैं। ये सब धर्म के चिह्न हैं। सम्यक् दृष्टि के लक्षण हैं।

शुश्रूषा का अर्थ श्रवण की इच्छा और सेवाशूश्रुषा भी होता है।

गुरुजन - ज्ञान, वय, और गुणवृद्ध सभी गुरुजन हैं।

ग्रंथकार का आशय यह है कि सत्शास्त्र श्रवण की प्रबल इच्छा का होना; धर्म पर पूर्ण प्रीति होना अर्थात् सर्व धार्मिक क्रिया अनुष्ठानों में भावोल्लास का होना; शक्ति को छिपाये बिना सद्गुरुओं की सेवाभक्ति करना और देव-वीतराग परमात्मा के मन्दिर में महापूजनादि कराना, ये सब सम्यक्दृष्टि के लक्षण हैं, ऐसा महापुरुषों ने कहा है ॥२५३॥

न किन्नरादिगेयादौ, शुश्रूषा भोगिनस्तथा ।
यथा जिनोक्तावस्येति, हेतुसामर्थ्यभेदतः ॥२५४॥

अर्थ : सम्यक्दृष्टि को जितनी इच्छा जिनेश्वरोक्त उपदेश के सुनने में होती हैं, उतनी (सुनने की इच्छा) भोगी को किन्नरादि के गायनादि में नहीं होती क्योंकि उसमें विशिष्ट कारण है ॥२५४॥

विवेचन : वैसे तो संगीत विषय ही ऐसा है कि मनुष्य, तिर्यञ्च और देव आदि सभी को उसमें अत्यन्त प्रीति होती है। परन्तु इससे भी अत्यधिक प्रीति बताने के लिये ग्रंथकर्ता ने कहा है कि कोई व्यक्ति नवयुवक हो, संगीतज्ञ हो, सर्वप्रकार से सुखी सम्पन्न हो, भोगी और आरोग्यवान हो; वह अपनी नवोढ़ा-नवयौवना के साथ देव, किन्नर, गांधर्वों के दिव्य आलापयुक्त संगीत में जितना आह्लाद, आनन्द अनुभव करता है, उससे भी अनन्त गुना अधिक राग-प्रीति सम्यक्दृष्टि को जिनेश्वरोक्त वाणी के श्रवण में होती है। सम्यक्दृष्टि जब परमार्थ की विचारणा में चढ़ता है और जिनेश्वरोक्त शास्त्रों का अवगाहन करता है तो वह अपने आप को भूल जाता है। भूख, प्यास, रोग, शोक सभी को वह भूल जाता है। ज्ञान अनुभव की मस्ती में वह इतना आनन्द विभोर हो जाता है कि किन्नरगायन सुनने वाले भोगी का आनन्द उसके सामने तुच्छ है। क्योंकि वीतराग की वाणी में आनंद किसी विरले आसन्नभवी सम्यक्दृष्टि भव्य आत्मा को ही प्राप्त होता है, यही हेतु की विशिष्टता है ॥२५४॥

तुच्छं च तुच्छनिलयाप्रतिबद्धं च तद् यतः ।
गेयं जिनोक्तिस्त्रैलोक्यभोगसंसिद्धिसंगता ॥२५५॥

अर्थ : गायन तुच्छ है तथा तुच्छ स्थान विषयक है और जिनेश्वर की वाणी तो तीनों लोकों के भोगों की सिद्धि से युक्त है ॥२५५॥

विवेचन : देव, किन्नर, गंधर्व आदि गायकों के आलाप युक्त गायन वस्तुतः विलाप तुल्य है और वे मात्र श्रवणेन्द्रिय-कान को क्षणिक सुख देने वाले हैं। वह सुख भी तो पारमार्थिक नहीं केवल उपचार से माना हुआ है, क्योंकि उसे सुनते हुये एक व्यक्ति को क्षणिकसुख अनुभव होता है, तो दूसरे को वह सुनते ही दुःख अनुभव होता है। इसलिये वह सुख वस्तुतः एकान्तिक नहीं है। वह गायन श्रृंगाररस पूर्ण होने से इन्द्रियों में विक्रिया पैदा करता है। मद्य की भाँति प्रमाद और नशा पैदा करता है, क्योंकि वे गायन वस्तु का वर्णन करते हैं। जो देह तुच्छ स्थान विषयक है अर्थात् शरीर मल, मूत्र, रक्त, वीर्यादि के गन्दे घर जैसा दुर्गंच्छनीय है, ऐसे स्त्री के शरीर को कवि लोग सूर्य, चन्द्र, पद्म, कमल आदि उपमा अलंकारों से सुशोभित बनाकर, मनुष्य का आत्मभान भुला देते हैं। परन्तु सच्चा सुख मनुष्य को कभी नहीं मिलता। ऐसे गायन मल-मूत्रादि के घर स्त्री आदि के विषय में रचे हुये पद्य रूप हैं, इसलिये अति तुच्छ है। परन्तु जिनेश्वर परमात्मा द्वारा दिया गया उपदेश तो तीन लोकों के भोगों को सिद्ध करने वाली जो सिद्धि-मोक्ष है उससे युक्त है। अर्थात् सर्व विकल्पों को छोड़कर, एकाग्रचित से, पूर्ण प्रीति और उत्साह से जो वीतराग के

उपदेशानुसार चलता है; तन, मन, न्यौछावर कर देता है; जीवन अर्पण कर देता है; वह तीन भुवन के राजा के भोग से भी अनन्तगुना अधिक आनन्द का अनुभव करता है। इन्द्र, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि के सुख जिसके सामने व्यर्थ हैं ऐसी सर्वकर्मक्षय करने वाली मोक्षलक्ष्मी की संगति का लाभ प्राप्त करता है । इसलिये जिनोक्ति में विशेष सामर्थ्य हैं ॥२५५॥

हेतुभेदो महानेव-मनयोर्यद् व्यवस्थितः ।
चरमात् तद् युज्यतेऽत्यन्तं, भावातिशययोगतः ॥२५६॥

अर्थ : इस प्रकार इन दोनों में (दो प्रकार के श्रवण में) बहुत बड़ा हेतु भेद रहा हुआ है। अन्तिम भेद से संसार में चरमपुद्‌गलपरावर्त में आने पर ही भव्यात्मा को भावों के अतिशय योग से धर्मश्रवण में प्रेम होता है, यह युक्ति युक्त है ॥२५६॥

विवेचन : पूर्वोक्त दो प्रकार के श्रवण में अर्थात् प्रथम शृंगारिक गायनों का सुनना और दूसरा सद्‌गुरु के मुख से वीतराग परमात्मा की वाणीरूप सत्यधर्म का सुनना; इन दोनों (प्रकार के श्रवणों) में महान् अन्तर है। क्योंकि वीतराग परमात्मा की वाणीरूप शास्त्रश्रवण में प्रीति होना बहुत दुर्लभ है। जब भव्यात्मा में उच्च अतिशय भावों का योग हो, तब उसे वीतराग की वाणी में अत्यन्त प्रीति होती है और ऐसे उच्च, अतिशय भावों का योग जब जीव चरमपुद्‌गलपरावर्त में आता है, तब उसे प्राप्त होता है। जो कि बहुत भवों की लम्बी श्रम साध्य-कष्ट साध्य साधना के पश्चात् ही मिलता है ॥२५६॥

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं, भोगिनः स्त्रयादिरागतः ।
भावतः कर्मसामर्थ्यात्, प्रवृत्तिस्त्वन्यथाऽपि हि ॥२५७॥

अर्थ : भोगी व्यक्ति को स्त्री आदि पर जो राग होता है; उससे भी अधिक राग सम्यक्‌दृष्टि को धर्म पर होता है; कर्म वशात् प्रवृत्ति अन्यथा होने पर भी उसका चित्त धर्मानुरागी ही होता है ऋऋ॥२५७॥

विवेचन : संसार के सुखों को ही परम सुख मानने वाले भोगी व्यक्ति को स्त्री, नाटक, सिनेमा, संगीत, ऐश-आराम, खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने आदि भौतिक वस्तुओं में जितना राग होता है उससे भी अधिक राग सम्यक्‌दृष्टि को धर्म पर होता है। कदाचित् पूर्वकर्मों की प्रबलता से, परिस्थिति की अनुकूलता न होने से अथवा कर्तव्य पालन की दृष्टि से उसकी प्रवृत्ति धर्म से अन्यथा दिखाई दे, अर्थात् कर्मवशात् चारित्रधर्म - पंच महाव्रत, पांच समिति, तीनगुप्ति, नववाड़ से परम शुद्ध ब्रह्मचर्य दशविध यतिधर्म तथा श्रावक के १२ व्रत ग्रहण न कर सके परन्तु फिर भी श्री कृष्ण भगवान् की भांति धर्मप्रेम तो उसके चित्त में शरीर में अस्थि मज्जा की भाँति होता है ॥२५७॥

प्रवृत्ति धर्म से अन्यथा हो और उसे 'धर्म पर राग है' यह कैसे ? इस शंका को अधिक स्पष्ट करने के लिये ग्रंथकार दृष्टान्त देते है :–

न चैवं तत्र नो राग, इति युक्त्योपपद्यते ।
हविःपूर्णप्रियो विप्रो, भुङ्क्ते यत् पूयिकाद्यपि ॥२५८॥

अर्थ : धर्म पर राग नहीं ऐसा नहीं; युक्ति से यह सिद्ध है । घृतपूर्ण वस्तु जिस को प्रिय है, वह ब्राह्मण रुखी रसविहीन वस्तु भी खाता ही है ॥२५८॥

विवेचन : मोहनीय कर्म की प्रबलता से अथवा भोगावली कर्मों के उदय से सम्यक् दृष्टि जीव की प्रवृत्ति कदाचित् लोकाचार अथवा धर्म के विरुद्ध दिखाई दे, परन्तु उसे धर्म पर राग नहीं ऐसा एकान्तिक नहीं कह सकते । धर्म पर उसे पूर्ण राग है । यह वस्तु युक्ति से सिद्ध है, जैसे ब्राह्मण को घी और मिष्ठान बहुत प्रिय है; लेकिन फिर भी उसे संयोगानुसार, यज्ञयाग की विधि करते हुये आवश्यक प्रसंग पर सोमरस पीना पड़ता है; जिसका स्वाद बिगड़ा होता है ऐसा बासी, रूखा और गौमूत्र आदि जो कि मन को अच्छा नहीं लगता और जिसे मुख के पास ले जाने में भी ग्लानि होती है, ऐसा आहार बिना इच्छा के करना ही पड़ता है । परन्तु ब्राह्मण को इससे घृत, मिष्टान्न, घेवर आदि पर जो अन्तः करण का प्रेम है; वह खत्म-नष्ट नहीं हो जाता, कम नहीं हो जाता । इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव कर्मवशात् अथवा परिस्थितिवशात् कदाचित अन्यथा प्रवृत्ति करे, तो इससे वीतराग परमात्मा की वाणी में जो उसकी अनन्य श्रद्धा और प्रेम है वह कम या नष्ट नहीं हो जाता। कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यक् दृष्टि जीव चाहे जहाँ जो भी करे परन्तु उसकी वीतराग पर श्रद्धा-प्रेम अटूट होता है ॥२५८॥

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥२५९॥

अर्थ : (सम्यक्दर्शन के) पतन से उसका (सम्यग्दृष्टि का) भाव (तत्त्व श्रद्धा) भी थोड़े समय के लिये निवृत्त हो जाता है, जैसे पवन द्वारा उड़ाई हुई रेत से जिसकी आँखे भर गई हो, वह व्यक्ति (पास में रही) स्त्रीरत्न को भी नहीं देख पाता ॥२५९॥

विवेचन : कभी मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रबलता से जीवात्मा सम्यक्दर्शन से भ्रष्ट हो जाय, तो जब तक वह उत्तम कोटि का सम्यक्त्व जो कभी जाने के बाद जाता नहीं, प्राप्त न कर ले तब तक थोड़े समय के लिये - अपार्धपुद्गलपरावर्त तक उसका शुद्ध श्रद्धा रूपी भाव निवृत्त हो जाता है, चला जाता है और शुद्ध श्रद्धारूपी कारण के जो कार्य है जैसे धर्मश्रवण, देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप आदि वह प्राप्त नहीं कर सकता। जैसे अत्यन्त तुफानी आंधी से जिसकी आँखे

रेत से पूरी तरह से भर गई है, वह व्यक्ति पास में खड़ी हुई अप्सरा जैसी सुन्दर स्त्री रत्न को भी नहीं देख सकता । ऐसे ही जिस आत्मा का सम्यक्दर्शन रूपी ज्ञान लोचन, मिथ्यामोह रूपी वायु के प्रबल उदय से, अज्ञानरूपी रेत से पूर्ण बंद है, वह व्यक्ति जीवाजीवादि तत्त्वज्ञान को नहीं जान सकता । आत्मज्ञान पास में होने पर भी मिथ्यात्व के कारण नहीं देख पाता । परन्तु उपद्रव शान्त होने पर और रेत आखों में से निकालने पर, पास में रही वस्तु को सम्यक् प्रकार से देखता है । वैसे ही जीवात्मा के उपर से जब महामोह का उदय टलता है, अज्ञान और अविवेक दूर हो जाता है, तब सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र, उपयोग, आत्मवीर्य, तप, जप, स्वाध्याय आदि सभी अनुष्ठान अनुभव में आते हैं ।

भाव-सार यह है कि सम्यक्दृष्टि का सम्यक्दर्शन कारण विशेष से कभी थोड़े समय के लिये लोप भी हो जाय तो भी कुछ समय पश्चात् वह पुनः वह उसे प्राप्त कर लेता है। सदा के लिये वह पतित नहीं रहता ॥२५९॥

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।
सर्वकर्त्तव्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥२६०॥

अर्थ : वह (सम्यक्दृष्टि जीव) भोगी के स्त्रीरत्न की भांति गुरुदेवादिपूजन को सर्वश्रेष्ठ मानता है और सभी कर्तव्य कार्यों को छोड़कर भी उनका पूजन करता है ॥२६०॥

विवेचन : जैसे भोगी पुरुष संसार में स्त्रीरत्न को ही सर्वश्रेष्ठ मानता है और उसकी प्राप्ति के लिये और प्राप्त को प्रसन्न रखने के लिये वह करने योग्य कार्यों की परवाह न करके भी सर्वप्रथम उसे प्रसन्न रखता है । उसके लिये अपने कर्तव्य कार्यों को भी छोड़ देता है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीव गुरु देवादि के पूजन, वन्दन, सत्कार, सेवाभक्ति आदि को ही जीवन का सार समझता है और उनके लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर होता है । जैसे भोगी व्यक्ति स्त्री के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार होता है वैसे ही देवगुरु आदि के पूजन के लिये सम्यक् दृष्टि जीव हमेशा सर्वस्व त्याग करने को तत्पर रहता हैं ॥२६०॥

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥२६१॥

अर्थ : सद्भाव के योग से महामति (सम्यक्दृष्टि जीव) इसको (गुरुदेवादिपूजन को) ही सारभूत (जीवन सर्वस्व) समझकर, क्षणमात्र भी अपना समय व्यर्थ नहीं गंवाता ।

अथवा

सद्भाव के योग से प्रशस्तबुद्धि (सम्यक्‌दृष्टि जीव) इसको (गुरुदेवादि पूजन को) ही सारभूत (जीवन सर्वस्व) समझकर, अपना समय नष्ट नहीं करता ॥२६१॥

विवेचन : जब आत्मा में सम्यक्त्व प्रकट होता है तब वह गुरुओं की सेवाभक्ति - वैयावच्य, आदर, मान, सत्कार, तथा वीतराग देवों के पूजन आदि को ही जीवन का सर्वस्व सार समझता है, इसलिये संसार के अन्य कार्यों में अपना क्षणमात्र समय भी व्यर्थ होने नहीं देता। सतत् अप्रमत्त रहकर, विवेक पूर्वक तथा भावोल्लास पूर्वक त्रिकाल देवपूजन, प्रतिक्रमण, सामायिक, धर्मश्रवण, इच्छारोध रूप व्रत, पच्चखाण, तप, जप, ध्यान आदि में अपने समय का सदुपयोग करके, जीवन को सफल बनाता है ॥२६१॥

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥२६२॥

अर्थ : किसी जीवात्मा की शक्ति कदाचित न्यून हो, अन्य जीवात्मा की शक्ति कदाचित अधिक भा हो, उसे गिनने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो सद्योग में जो यथाशक्ति प्रवृत्ति होती है, उसी का आख्यान करना है, क्योंकि वही सत्फल देने में समर्थ है ॥२६२॥

अर्थात् शक्ति की न्यूनाधिकता से सम्यक्‌दृष्टि यहाँ (गुरुदेवादि पूजन में) प्रवृत्त नहीं होता। उसकी प्रवृत्तिमात्र यथाशक्ति है, इसलिये सफल है ॥२६२॥

विवेचन : सभी भव्यात्माओं की शक्ति समान नहीं होती। कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार कोई व्यक्ति न्यूनशक्ति और कोई अधिक शक्तिवाला होता है। इसलिये सम्यक्‌दृष्टि आत्मा गुरुदेवादि के पूजन, तप, जप, धर्मानुष्ठानों को अपनी शक्ति की न्यूनाधिकता से नहीं करता अर्थात् शक्ति अधिक हो तो न्यून नहीं और न्यून हो तो अधिक नहीं करता। जितनी शक्ति वीर्योल्लास - भावोल्लास का वह स्वामी है उसको छुपाये बिना भावपूर्वक वह धर्मक्रिया करता है। क्योंकि अगर कोई भी कार्य या प्रवृत्ति अपनी शक्ति को देखे बिना ही अर्थात् शक्ति को भांपे बिना ही की जाती है तो वह केवल यांत्रिक क्रिया मात्र रहती है, उसमें भावोल्लास का सातत्य नहीं रहता। ऐसी भावशून्य क्रिया फलदायक नहीं होती। इसलिये सम्यक्‌दृष्टि जो भी धर्मक्रिया करता है वह अपनी शक्ति को छुपाये बिना, शक्ति के अनुसार, वीर्योल्लास पूर्वक करता है। इसलिये वह प्रत्येक क्रिया देवपूजा, गुरुभक्ति तप, जप आदि को करता हुआ पुण्यानुबंधी पुण्य रूप सत्फल को प्राप्त करता है ॥२६२॥

एवंभूतोऽयमाख्यातः सम्यग्दृष्टिर्जिनोत्तमैः ।
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशयः ॥२६३॥

अर्थ : जिनेश्वर देवों ने यथाप्रवृत्तिकरण को व्यतिक्रान्त करने वाले, महान् आशय वाले ऐसे पूर्वोक्त आत्मा को सम्यक् दृष्टि कहा है ॥२६३॥

विवेचन : पूर्वोक्त प्रशस्तयोग मार्ग में आगे बढ़ते हुये सुदेव, सुगुरु, सुधर्म और धार्मिक आत्मा की सेवाभक्ति करता हुआ; परमात्मा की पूजा सेवा करता हुआ; गुरुओं का उपदेश सुनता हुआ; उत्तम आशय-प्रशस्त अध्यवसाय-भावना द्वारा, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, ऐसे यथाप्रवृत्तिकरण को व्यतिक्रान्त करके, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण करता हुआ जीव सम्यक्‌दृष्टि को प्राप्त करता है, ऐसा जिनेश्वर देवों का उद्‌बोधन-कथन है ॥२६३॥

करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत् पुनस्त्रिधा ।
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥२६४॥

अर्थ : प्राणियों के परिणाम विशेष को यहाँ करण कहा है; वह तीन प्रकार का है; यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण ॥२६४॥

विवेचन : आत्मारूप कर्ता को फल प्रदान करने में जो सर्वोत्तम साधन है-उसे करण कहते हैं । आत्मा को मोक्ष की साधना करनी है, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करना है और वह आत्मा के शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम अध्यवसायों के आधीन है । जैसे-जैसे आत्मा के परिणाम-मन के अध्यवसाय-विचार शुद्ध होते जाते हैं वैसे-वैसे वह मोक्ष के समीप जाता है । मोक्ष का सर्वमुख्य कारण सम्यक्‌दर्शन है और उस सम्यक् दर्शन की प्राप्ति यथा प्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों से होती है ॥२६४॥

एतत् त्रिधाऽपि भव्यानामन्येषामाद्यमेव हि ।
ग्रन्थिं यावत् त्विदं तं तु समतिक्रामतोऽपरम् ॥२६५॥

अर्थ : ये तीन करण भव्यात्माओं को ही होते हैं; अन्य अभव्यों को तो प्रथम (यथाप्रवृत्ति करण) ही होता है; यह (प्रथम करण) ग्रंथीपर्यन्त ही पहुँचता है। दूसरा (भव्य) तो ग्रंथी का उल्लंघन करके आगे बढ़ जाता है ॥२६५॥

विवेचन : ये तीन करण- यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण मोक्ष की योग्यता धारण करने वाले भव्य जीवों को ही प्राप्त होते हैं । परन्तु जिनमें मोक्ष की योग्यता नहीं वैसे अभव्यजीव तो प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण पर्यन्त ही पहुँचते हैं । उससे आगे न जा सकने के कारण वे पीछे हट जाते हैं । ग्रंथी से वापिस होकर, यथाप्रवृत्तिकरण के योग से उसने जिनकर्मदलों की स्थिति को खपाया था, वैसी आठ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को वह अपने क्लिष्ट अध्यवसायों द्वारा बांधता है । यथाप्रवृत्तिकरण - अनादि संसार में भटकते हुये जीवात्मा जब संज्ञी पंचेन्द्रियपना प्राप्त करता है, तब वैराग्यपूर्ण परिणामों से (भव्य तथा अभव्य) जीव यथाप्रवृत्ति-करण को प्राप्त करता है परन्तु अभव्यजीव ग्रंथी तक ही पहुँचता है आगे नहीं बढ़ पाता जब कि भव्यजीव ग्रंथीभेद करके,

दूसरे अपूर्वकरण में प्रवृत्त होता है और वहीं से आगे बढ़ता हुआ अनिवृत्तिकरण तक पहुंच जाता है। संक्षेप में ये तीन करण भव्यों के लिये हैं अभव्यों को तो प्रथम ही कहा है। जब तक ग्रंथी उपस्थित है तब तक द्वितीय करण है, ग्रंथीभेद होने के पश्चात् उसे तृतीय करण प्राप्त होता है ॥२६५॥

भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न।
पतितस्याप्यते बंधो ग्रन्थिमुल्लङ्घ्य देशितः ॥२६६॥

अर्थ : (अपूर्वकरण द्वारा) ग्रंथीभेद करने वाले को तृतीयकरण (अनिवृत्तिकरण) की प्राप्ति होती है। इसलिये (तीनों करणों की प्राप्ति होने से) सम्यक्दृष्टि से पतित होने वाले का बंध ग्रंथी को उल्लंघन करने वाला नहीं कहा अर्थात् वह कर्म की उत्कृष्टस्थिति को नहीं बांधता ॥२६६॥

विवेचन : अपूर्वकरण द्वारा ग्रंथी का भेद करने वाले भिन्नग्रंथी आत्मा को तीसरे अनिवृत्तिकरण की प्राप्ति होती है। इस प्रकार तीन करणों को उपलब्ध सम्यक्दृष्टि आत्मा कदाचित मोहनीय कर्म की प्रबलता से सम्यक्त्व से पतित भी हो जाय, तो भी वह कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को नहीं बांधता, अर्थात् वह कर्मों का कोमलबंध - हल्का कर्मबंध बांधता है। गाढ़तम महाबंध नहीं बांधता ॥२६६॥

एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः।
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविशेषतः ॥२६७॥

अर्थ : इस प्रकार सामान्यरूप से सम्यक्दृष्टि का परिणाम शुभ होता है और सम्यकत्व का त्याग करने पर वह महाबंधविशेष भी करता है ॥२६७॥

विवेचन : किसी भी पदार्थ का वर्णन सामान्य और विशेष दो दृष्टि से किया जाता है। ग्रंथकार यही कहना चाहते हैं कि सामान्यरूप से सम्यक्दृष्टि जीवों के परिणाम-अध्यवसाय-विचारधारा शुभ ही होती है। इसलिये वे कर्मों का महाबंध नहीं करते परन्तु विशेषदृष्टि से-अपवाददृष्टि से देखें तो सम्यक्दृष्टि जीव जब मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की प्रबलता से सम्यक्त्व से पतित हो जाता है तब सम्यक्दृष्टि की अॅपेक्षा से महाबंध करता है। मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के हैं : पहला मिथ्यादृष्टि वह है जिसने सम्यक् दृष्टि पाई ही नहीं और दूसरा मिथ्यादृष्टि वह है जिसने सम्यक्दृष्टि पाकर खो दी है। यद्यपि प्रथम प्रकार के मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से दूसरे मिथ्यादृष्टि का कर्मबंध कोमल है परन्तु स्थिर सम्यक्दृष्टियों की अपेक्षा से तो वह महाबंध ही विशेष रूप से कहा जाता है। अन्तर दोनों में इतना है कि प्रथम कोटि का मिथ्या दृष्टि महाबंध करता है परन्तु तीनकरण से युक्त सम्यक्दर्शन प्राप्त करके, पतित होने वाले का बंध पहले से न्यून अल्पबंध करने वाला होता है ॥२६७॥

सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ।
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यद् न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥२६८॥

अर्थः जिसने ग्रंथीभेद नहीं किया; उसके मोहनीय कर्म का उत्कृष्ट बंध ७० कोटा कोटी सागरोपम है परन्तु भिन्नग्रंथी वाले को तो एक कोटा-कोटी सागरोपम भी नहीं होता ॥२६८॥

विवेचन : जिस आत्मा ने अपूर्वकरण द्वारा रागद्वेष की गांठ को खोला नहीं - भेद नहीं किया, वह सातों या आठों कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति को बांधता है । उसमें मोहनीय कर्म की उत्कृष्टस्थिति ७० कोटा-कोटी सागरोपम की है; यह बात कर्मग्रंथों में प्रसिद्ध है । इस प्रकार वह आठ कर्मों को उत्कृष्टस्थिति से बांधता है । परन्तु जिसने तीनों करणों से ग्रंथीभेद करके, सम्यक्दर्शन प्राप्त किया है । वह आत्मा कभी मोहनीय कर्म के उदय से सम्यक् दर्शन को छोड़कर, मिथ्यात्व को प्राप्त कर ले अर्थात् कभी समकित से पतित होकर, मिथ्यात्व के आधीन हो जाय तो भी वह अधिक से अधिक मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति का बंध एक कोटा-कोटी सागरोपम भी नहीं करता, उससे भी कम ही होता ॥२६८॥

तदत्र परिणामस्य भेदकत्वं नियोगतः ।
बाह्यं त्वसदनुष्ठानं प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥२६९॥

अर्थ : दोनों का (भिन्नग्रंथी और अभिन्नग्रंथी का) बाह्याचार (अर्थोपार्जनादि) तो प्रायः तुल्य ही है । इसलिये निश्चित ही यहाँ (दोनों में) परिणाम की भिन्नता है ॥२६९॥

विवेचन : भिन्नग्रंथी और अभिन्नग्रंथी इन दोनों के बाह्याचार तो समान ही है । बाह्याचारों से कोई नहीं जान सकता कि वह सम्यक्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि, क्योंकि सम्यक्दृष्टि भी कभी पतित होने पर या परिस्थिति की प्रतिकूलता तथा अन्य कारणों से विवश होकर, अन्यथा प्रवृत्ति कर सकता है और मिथ्यादृष्टि बाहर से अपने आप को धार्मिक दिखाने के लिये सदनुष्ठानों को भी कर सकता है । बाह्याचारों से हम गलत निर्णय ले सकते हैं इसलिये महापुरुषों ने उन दोनों की पहचान परिणाम की भिन्नता से बताई है । अर्थात् दोनों के बाह्य आचरण तुल्य होने पर भी दोनों के हृदय के भावों में, अध्यवसायों में, हृदयशुद्धि में बहुत बड़ा अन्तर होता है । सम्यक्दृष्टि के अध्यवसाय सामान्यतः शुद्ध ही होते हैं इसलिये वह अल्पकर्म बांधता है, परन्तु जिसने ग्रंथीभेद नहीं किया उसके अध्यवसाय अशुद्ध और मलीन होते हैं और इसलिये वह कर्म का उत्कृष्ट बंध करता है । एक ही कार्य को दोनों बाहर से तुल्य करते हैं परन्तु कर्मबंध दोनों का अलग-अलग होता है क्योंकि हृदय की शुद्धि-अशुद्धि और भावों की तारतम्य स्थिति के अनुसार कर्मबंधन होता है । अतः भिन्नग्रंथी और अभिन्नग्रंथी जीवों की भिन्नता उनके शुभाशुभ परिणामों से ही निश्चित होती है ॥२६९॥

अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते ।
अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥२७०॥

अर्थ : इस अवस्था में पहुंचे हुये भिन्नग्रंथी (सम्यक्दृष्टि) जीव को बौद्ध-लोग बोधिसत्त्व कहते हैं। क्योंकि सम्यक्दृष्टि के सभी लक्षण (बोधिसत्त्व में) घटित होते हैं, उपलब्ध होते हैं ॥२७०॥

विवेचन : जैन सिद्धान्त में जिसे सम्यक्दृष्टि कहा है, बौद्ध उसे बोधिसत्त्व कहते हैं क्योंकि जो-जो गुण, अवस्था, लक्षण सम्यक्दृष्टि के बताये हैं वे सभी गुण और लक्षण बोधिसत्त्व में पाये जाते हैं।

ग्रंथकार की कितनी उदार और विशाल दृष्टि है । उनको शब्दभेद से कोई प्रयोजन नहीं, वे तो वस्तु के हार्द तक पहुँचते हैं । महापुरुषों को तो नवनीत चाहिये, चाहे किसी भी साधन से निकाला गया हो ॥२७०॥

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।
न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥२७१॥

अर्थ : बौद्धों ने बोधिसत्त्व को कायपाती (केवल काया से पतित होनेवाला) कहा है । चित्तपाती (चित्त से पतित होने वाला) नहीं, यह तो यहाँ (सम्यक्दृष्टि में) भी युक्तियुक्त है ॥२७१॥

विवेचन : संसार में रहने पर भी बोधिसत्त्व याने सम्यक्दृष्टि की मानसिक स्थिति को "**तप्तलोहपदन्यासतुल्यावृत्तिः क्वचिद्यदि**" कहा है अर्थात् जैसे अग्नि से तप्त लोहे पर पैर रखना अत्यन्त दुःखदायी है इसलिये मनुष्य हमेशा उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार बोधिसत्त्व संसार की मोहमाया से दूर रहता है; परन्तु कर्मसंयोग से, इच्छा न होने पर भी, संसार में कुटुम्बीजनों के लिये, समाज के लिये अपना कर्तव्य समझकर, उसे कभी काया से सावद्य अनिष्ट क्रिया करनी पड़े तो भी वह चित्त में क्रूर परिणाम वाला नहीं होता, इसलिये उसका कर्मबंध भी कोमल होता है (बौद्ध लोग इसीलिये उसे कायपाती मानते है, परन्तु चित्तपाती नहीं सम्यक् यही वस्तु सम्यक्दृष्टि में होती है क्योंकि सम्यक्दृष्टि भी कर्मवश कभी अन्यथा प्रवृत्ति करता है, परन्तु उसके चित्त में धर्म का जो राग है, वह कभी जाता नहीं । सांसारिक कार्यप्रवृत्ति करने पर भी उसके चित्त के अध्यवसाय इतने दूषित नहीं होते । इस प्रकार बोधिसत्त्व और सम्यक्दृष्टि के हृदय की निर्मलता और परिणामशुद्धि एक जैसी है। इसलिये जो बोधिसत्त्व है, वह सम्यक्दृष्टि है, जो सम्यक्दृष्टि है वही बोधिसत्त्व है ॥२७१॥

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः ।
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥२७२॥

अर्थ : परोपकार-रसिक, बुद्धिमान, मोक्षमार्ग पर चलने वाला, उदार-विशाल ह्रदयी तथा गुणानुरागी इत्यादि सर्व (गुण) दोनों के तुल्य है ॥२७२॥

विवेचन : दूसरों की भलाई करने में ही जिसे परमशान्ति और परम आनन्द का अनुभव होता है। दूसरे के दुःखों को देखकर, उसे दूर किये बिना जिसको चैन नहीं पड़ता। दीन, दुःखी, अनाथ, संकटग्रस्त तथा दरिद्रनारायण की सेवा को जो परमात्मा की सेवा मानकर, तन, मन, धन से उसमें निमग्न हो जाता है। सेवाव्रत ही उसका जीवनव्रत बन जाता है। आज के युग में गुजरात के मूल सेवक श्री रविशंकर महाराज में यह गुण देखा गया है। बुद्धिमान-धीमान् सेवाधर्म के साथ-साथ विवेक की भी जरूरत है, अन्ध भक्ति कभी अनर्थ का कारण भी बन सकती हैं, इसलिये कहा है कि वह धीमान् सारासार का यथार्थ विचार करके, कार्य करने वाला होता है। फिर बताया है कि वह सतत कल्याणपदगामी होता है। हमेशा मोक्षमार्ग की तरफ ले जाय, ऐसी शुभ-कल्याणकारी प्रवृत्ति करने वाला होता है। बड़ा उदार और विशाल ह्रदय होता है। मन के परिणाम कपट रहित होते हैं। वह गुणानुरागी होता है व्यक्ति विशेष की पूजा करने वाला नहीं। जहाँ भी गुण देखे; वहाँ अनुराग रखने वाला होता है। जैसा कि कहा है "गुणथी भरेला गुणीजन देखी। हैयु मारुं नृत्य करे, अे सन्तों ना चरण कमलमां मुझ जीवननुं अर्घ्य रहे", ऐसी भावना और ऐसे विचारों का वह स्वामी होता है। बौद्धशास्त्र में बोधिसत्त्व के ऐसे अनेक गुण बताये हैं। ऐसे ही गुण जैनशास्त्रों में सम्यृदृष्टि के बताये हैं, इसलिये बोधिसत्त्व और सम्यक्दृष्टि तुल्य ही है ॥२७२॥

यत् सम्यग्दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषोऽन्वर्थतोऽपि हि ॥२७३॥

अर्थ : जो सम्यक्दर्शन है, वही बोधि है; वही जीवों के उदय में प्रधान हेतु है। कारण कि जीवों को सम्यक् प्रवृत्ति कराने वाला वह सत्त्व-वीर्य जिसमें हो वह बोधि सत्त्व है, शब्दार्थ से भी यही अर्थ फलित होता है।

अर्थात् सम्यक्दर्शन ही बोधि है जो जीवों के उदय में प्रधान हेतु है और सत्त्व-जीव अर्थात् बोधि को धारण क़रनेवाला जीव बोधिसत्त्व है शब्दार्थ से भी यही अर्थ फलित होता है ॥२७३॥

विवेचन : जैनों में जो सम्यक्दृष्टि है बौद्ध उसे बोधिसत्त्व कहते हैं। सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्त्व दोनों बोधि प्रधान हैं। जैनों के 'लोगस्स' पाठ में "आरुग्गबोहि लाभं समाहिवरमुत्तमं दितुं" और 'उवसग्गहरं' पाठ में भी "ता देव दिज्झ बोहिं भवे भवे पासजिणचन्द" में बोधि को सम्यक्दर्शन कहा है (भक्त भगवान से भवोभव में सम्यक्दर्शन की प्राप्ति के लिये प्रार्थना याचना करता है)। बोधि सम्यक्दर्शन है जिस जीव में, वह बोधिसत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार बोधिसत्त्व शब्द से भी सम्यक्दृष्टि अर्थ ही फलित होता है। जैनों में मान्यता है कि सम्यक्दर्शन जीवात्माओं का महान् उदय करने वाला है, परन्तु बोधिबीज की प्राप्ति दुष्कर और दुर्लभ होती है ॥२७३॥

वरबोधिसमेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति ।
तथाभव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥२७४॥

अर्थ : सुंदर, श्रेष्ठ ज्ञान सहित भविष्य में तीर्थंकर पद के योग्य, क्षायिक सम्यक्त्व को धारण करने वाले तथा इस प्रकार की भव्यत्व योग्यता से युक्त आत्मा को सन्तों ने बोधिसत्त्व कहा है।॥२७४॥

विवेचन : भविष्य में जो तीर्थंकर बनने वाला है और क्षायिक समकित का स्वामी है तथा भव्यत्व को धारण करता है वह बोधिसत्व है। "भव्यत्वं नाम सिद्धिगमन योग्यत्वमनादिपारिणामिको भावः" भव्यत्व अर्थात् सर्वकर्मदलों का संपूर्ण नाश करके, परमनिर्वाणरूप मोक्ष को प्राप्त करने का जीवात्मा का जो स्वभाव है, वह अनादिकाल से जीव के साथ पारिणामिक भाव से सत्ता में अव्यक्त रहा हुआ है। वह योग्य काल के परिपक्व होने पर, आत्मा पर लगे अनादिकाल के कर्ममल को शुद्ध करके तथाप्रकार की योग्य शुद्धता पाकर, आत्मा की सहज शक्ति को प्रकट करता है। इस प्रकार की तथाभव्यत्व की योग्यता से युक्त आत्मा ही बोधिसत्त्व है, ऐसा सन्तों का कहना है ॥२७४॥

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यक् चित्रं च देहिनाम् ।
तथाकालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः ॥२७५॥

अर्थ : यह सम्यक् भव्यत्व प्राणियों को सांसिद्धिक-स्वाभाविक है तथा कालादिभेद से बीजसिद्धि की भाँति नाना प्रकार का है ॥२७५॥

विवेचन : मोक्षप्राप्ति की योग्यता को भव्यत्व कहा है। वह भव्यत्व स्वभाव जीवात्मा में अनादिकाल से सहजभाव से ही विद्यमान होता है। उसकी उत्पत्ति आत्मसमकालीन मानी है। पीछे से किसी निमित्त से उसका आगमन नहीं होता। यह योग्यता स्वभाव से ही विचित्र-नाना प्रकार की है और सभी जीवों में विविधरूपों में प्रकट होती है। किसी में यह योग्यता अधिक होती है तो किसी में न्यून किसी में व्यक्त, तो किसी में अव्यक्त होती है। बीज में जैसे विचित्र वृक्षादि उत्पन्न करने की स्वाभाविक शक्ति है और काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ आदि पांच सामग्री को प्राप्त करके, फल रूप सिद्धि को प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्वाभाविक ऐसी जो विचित्र भव्यत्व योग्यता है वह भी काल, स्वभाव आदि कारणों को प्राप्त करके, आत्मा के नाना स्वरूपों में प्रकट होती है ॥२७५॥

सर्वथा योग्यतऽभेदे तदभावोऽन्यथा भवेत् ।
निमित्तानामपि प्राप्तिस्तुल्या यत्तन्नियोगतः ॥२७६॥

अर्थ : योग्यता का सर्वथा अभेद मानने पर चित्रबीजादि भाव अन्यथा-व्यर्थ हो जायेंगे क्योंकि योग्यता (तुल्य) होने पर ही निमित्तों की प्राप्ति तुल्य होती है ॥२७६॥

विवेचन : अगर सभी जीवों में हम भव्यत्व स्वभाव का सर्वथा अभेद मानेंगे अर्थात् उसकी (भव्यत्व योग्यता की) विविधता को न स्वीकारेंगे; उसे एक स्वरूपी ही मानेंगे, तो भव्यत्वयोग्यता का ही अभाव सिद्ध होता है । अर्थात् सभी जीव एक ही स्वरूप वाले होने चाहिये, फिर या तो सभी जीव संसारी होंगे या सभी एक साथ मुक्त हो जायेंगे । परन्तु संसार की विविधता को देखते हुये योग्यता का अभेद अन्यथा हो जाता है । अगर कोई ऐसा कहे कि निमित्तों और सहकारी कारणों के कारण सभी में भिन्नता और विचित्रता दिखाई देती है । किसी को अनुकूल निमित्त, अनुकूल परिस्थिति, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सत्संग, सद्गुरु का योग, देवगुरुधर्म के साधन मिलते हैं और किसी को नहीं मिलते, इसलिये जीवों में भिन्नता आती है। परन्तु भव्यत्व योग्यता को विविध स्वरूप वाली मानने की कोई जरुरत नहीं है तो उसके उत्तर में ग्रंथकार ने कहा है कि काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत् और पुरुषार्थ इन पांचों कारणों का एक साथ संयोग होना भी तो उसी योग्यता के ही आधीन है। योग्यता के बिना सभी कारण मिलने पर भी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती इसलिये सभी कारणों की सफलता भव्यत्व योग्यतारूप स्वभाव के ही आधीन है ।

तात्पर्य यह है कि कार्य से कारण का बोध होता है । संसार की विविधतारूप कार्य को देखकर, भव्यत्वरूप योग्यता की विविधता का ज्ञान होता है । अगर कोई कहे कि यह विविधता, योग्यता की विविधता से उत्पन्न नहीं, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से उत्पन्न है, तो सभी बाह्य कारण भी अन्तरंग कारण के ही आधीन होते हैं । बीज के अन्दर अगर उसकी अपनी योयता नहीं होगी तो बाहरी निमित्त कारण उसके लिये कितने उपयोगी सिद्ध होगें ? यह स्पष्ट बात है, बुद्धि से सोच लें । इसलिये यह योग्यता जीव की स्वाभाविक है और स्वभाव से ही विचित्र स्वरूप वाली है क्योंकि सभी प्राणियों में विविध रूपों में प्रकट होती है ॥२७६॥

अन्यथा योग्यताभेदः सर्वथा नोपपद्यते ।
निमित्तोपनिपातोऽपि यत् तदाऽक्षेपतो ध्रुवम् ॥२७७॥

अर्थ : योग्यता का अभेद अन्यथा भी सर्वथा घटित होता नहीं है, क्योंकि निमित्तों की उपलब्धि भी योग्यता की अपेक्षा रखती है । अर्थात् निमित्तों का संयोग भी योग्यता की अपेक्षा रखता हैं ॥२७७॥

विवेचन : दूसरे प्रकार से मानने पर, अर्थात् अगर ऐसा मानें कि योग्यता मूल से एकरूप है परन्तु निमित्त कारणों से विचित्र प्रकार की हो जाती है, तो वह भी घटित नहीं होता अन्यथा अर्थात् कालादि निमित्तों की विचित्रता मानने पर भी योग्यता का अभेद सर्वथा घटित नहीं होता क्योंकि निमित्तों का उपनिपात-एक साथ प्राप्ति भी भव्यत्वयोग्यता की मौलिक विचित्रता बिना अशक्य है। योग्यता मौलिक रूप से अगर एकरूपवाली हो, तो फल में विविधता कैसे आ सकती है ? सहकारी

कारणों में वह सामर्थ्य नहीं कि वह (उस बीज की मौलिक विविधता बिना) उस फल में विचित्रता ला सके। बिना योग्यता के उन कारणों का ही उपनिपात नहीं हो सकता, इसलिये निमित्तों को भी योग्यता की अपेक्षा रहती है। जिसमें जैसी योग्यता हो उसे वैसे ही निमित्त कारण मिल जाते हैं। अनुकूल अथवा प्रतिकूल निमित्तों की प्राप्ति भी योग्यता की विभिन्नता को सिद्ध करती है ग्रंथकार का तात्पर्य है कि जीवों की भव्यत्व योग्यता सहज स्वाभाविक आत्मसहभावी और नाना प्रकार की है अगर सभी की योग्यता को एक ही प्रकार की माने तो संसार में सभी प्राणियों में जो विचित्रता पायी जाती है; वह घटित नहीं हो सकती। अगर आप कहें कि मूलरूप से तो योग्यता एक ही प्रकार की है परन्तु निमित्त कारणों - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अथवा काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत पुरुषार्थ की वजह से उसमें भिन्नता आती है, तो वे कहते हैं कि निमित्त कारणों की प्राप्ति अर्थात् अनुकूल या प्रतिकूल निमित्त कारण आत्मा की तथा प्रकार की योग्यता के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। भव्यत्व योग्यता उत्तम हो तो परिस्थिति-सत्संग-सत्साधनों की प्राप्ति उत्तम, मध्यम हो तो मध्यम, निकृष्ट हो तो निकृष्ट होती है। इस प्रकार मूल से ही योग्यता नानारूपी ॥२७७॥

योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया ।
आत्मनः सहजा चित्रा तथाभव्यत्वमित्यतः ॥२७८॥

अर्थ : बीजसिद्धि आदि की अपेक्षा से तथाभव्यत्व योग्यता आत्मा की सहज और नानारूपी है ॥२७८॥

विवेचन : योग्यता-आत्मा का मोक्षगमन करने का सहज स्वभाव। जैसे बीज की योग्यता निमित्त और सहकारी कारणों का सहयोग पाकर वृक्षरूप में परिणत होकर, फलरूप सिद्धि को प्राप्त करती है, अर्थात् बीज में जिस प्रकार की योग्यता होती है उसी प्रकार का वृक्ष बनता है एवं फल प्राप्ति होती है। इसी प्रकार आत्मा में मोक्षगमन की योग्यतारूपी बीजभूत भव्यत्व स्वभाव है उसकी अपेक्षा से जीव देवपूजा, गुरुभक्ति, धर्मोपदेश श्रवण की तीव्र अभिलाषा, संसार से मुक्त होने की तीव्र चाहत आदि प्रवृत्ति का अवलम्बन करने का आत्मा का सहज स्वभाव है परन्तु जैसा-जैसा कर्मों का क्षय वैसा-वैसा उसका विकास, इसलिये सभी जीवों में वह योग्यता तरतम भाव से विविध प्रकार की पायी जाती है। अतः वह योग्यता सहज और विचित्र है ॥२७८॥

वरबोधेरपि न्यायात् सिद्धिर्नो हेतुभेदतः ।
फलभेदो यतो युक्तस्तथा व्यवहितादपि ॥२७९॥

अर्थ : उत्तम बोधि से सिद्धि न्याययुक्त है, हेतुभेद से नहीं, क्योंकि फलभेद तथाप्रकार की योग्यता से ही युक्ति युक्त सिद्ध होता है ॥२७९॥

विवेचन : बोधि-सम्यक्त्व, उसकी स्वाभाविक विविधता से ही विविध सिद्धि होती है। हेतुभेद सत्संग, सद्गुरु का योग, धर्मश्रवण आदि की विविधता से नहीं, यह बात युक्तिपूर्वक सिद्ध हुई है और इस प्रकार सांसिद्धिक योग्यता की विविधता सिद्ध होने पर फलभेद सहज सिद्ध है। योग्यता विविध है इसलिये निमित्तों की तुल्यप्राप्ति होने पर भी फल भिन्न-भिन्न आता है। एक कक्षा में एक अध्यापक, एक सी पुस्तके पढ़ाते हैं। सभी लड़कों को तुल्य ज्ञान देता है लेकिन सभी लड़के अपनी-अपनी योग्यातनुसार ही उसे ग्रहण करते हैं। एक लड़का इतना होशियार निकलता है कि उसे छात्रवृत्ति प्राप्त होती है और एक बिल्कुल कमजोर रह जाता है, इसमें कारण योग्यता की विविधता है उसके सिवाय कोई कारण नहीं। उत्तमबोधि-क्षायिक सम्यक्त्व जो कि आत्मा का सहज स्वभाव है उसी से मोक्ष की सिद्धि होती है अन्य कारणों से नहीं। उसकी विविधता भी स्पष्ट है ॥२७९॥

तथा च भिन्ने दुर्भेदे, कर्मग्रन्थिमहाचले ।
तीक्ष्णेन भाववज्रेण, बहुसंक्लेशकारिणि ॥२८०॥

आनन्दो जायतेऽत्यन्तं, तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात् ॥२८१॥

अर्थ : महाबलवान, महाक्लेशकारी, दुर्भेद्य ऐसी कर्मग्रंथी को तीक्ष्ण भावरूपी वज्र से भेदने पर भिन्नग्रंथी महात्मा को ऐसा तात्त्विक परमानन्द प्राप्त होता है जैसे रोगी को महान् औषधि से महाव्याधि निवृत्त होने पर होता है ॥२८०-२८१॥

विवेचन : इस प्रकार की आत्मा की योग्यता, आत्मा से कथंचित् अभिन्न होने से, उस योग्यता का फलरूप मोक्षमार्ग में गमन करने की क्रिया, उसका फल निर्जरा और अन्त में मोक्ष है और इन सभी फलों का कारण आत्मा की योग्यता है। उसी योग्यता के बल से ही निमित्तों की कारण-सामग्री पाकर, आत्मा ग्रंथीभेद करती है। इसी को स्पष्ट करने के लिये ग्रंथकार ने कहा है कि आत्मा अनादिकाल से राग-द्वेष के कारण आठ प्रकार के कर्मदलों का सञ्चय करती है। वह राग-द्वेष मोह की कर्मग्रंथी जीव को संसार के अवाच्य, अत्यन्त क्लिष्ट दुःखों को देने वाली है, महा बलवान है। "**यततोऽह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः, इन्द्रियाणि प्रमाथिनी हरन्ति प्रसभं मन**" प्रयत्नशील हो, बुद्धिमान विद्वान् हो फिर भी इन्द्रियों के विषय इतने बलवान है कि जबरदस्ती उसे खिंच लेते हैं। बड़े-बड़े योगी, मुनि, ऋषि, तपस्वी भी इसके सामने हार जाते है। इतनी बलवान है यह कर्मग्रंथी। वह जितनी बलवान है, उतनी ही क्लेशकारी है। इसी के कारण जीव चौरासी के बहुक्लेशों को सहता है। दुर्भेद्य तो इतनी है, जैसे हिमालय। परन्तु फिर भी भिन्नग्रंथी महात्मा, जैसे शक्रेन्द्र अपने तीक्ष्ण वज्र से पर्वत की चट्टानों को काट देता है, ऐसे अपूर्वकरण रूपी भाववज्र से जब इस दुर्भेद्य, अतिबलवान, महाक्लेशकारी कर्मग्रंथी को भेदता है तो उसे अपूर्व

तात्त्विक परमानन्द की प्राप्ति होती है, जिसका अनुभव उसने कभी भी पूर्व में न किया हो । जैसे कोढ़, ज्वर, क्षय आदि महाव्याधि से बहुत लम्बे समय से अत्यन्त पीड़ित रोगी को रोग का कोई निदान हाथ में न आता हो, ऐसे अवसर पर महापुण्योदय से कोई उच्च कोटि की महान् औषधि हाथ मे लगे और उससे उसका सर्व रोग-शोक दूर हो जाय, बिल्कुल निरोग होने पर उसे जैसे परम शान्ति का, आनंद का अनुभव होता है वैसे ही कर्मरोग से पीड़ित जीवात्मा जब अपूर्वकरणरूप महा औषधि का सेवन करती है और कर्मग्रंथी के भेदन होने पर उसे परम शान्ति, सुख-आनंद का अनुभव होता है । ग्रंथकार ने दोनों की तुलना बड़ी ही उपयुक्त और सुन्दर की है ॥२८०-२८१॥

भेदोऽपि चास्य विज्ञेयो, न भूयो भवनं तथा ।
तीव्रसंक्लेशविगमात्, सदा निःश्रेयसावहः ॥२८२॥

अर्थ : ग्रंथीभेद उसे जानो समझो जो गांठ पुनः न बंधे क्योंकि तीव्र क्लेश जाने से वह सदैव शाश्वत् कल्याण का हेतु है ॥२८२॥

विवेचन : उपर ग्रंथीभेद से उत्पन्न आनंद का वर्णन किया है । इस श्लोक में ग्रंथ कर्ता ने कहा है कि केवल ग्रंथी के भेद का ही आनंद नहीं है अपितु यह भी आनंद है कि अब ऐसी 'तीव्रक्लेशकारी गांठ' पुनः नहीं पड़ेगी । तीव्रक्लेश, अति दृढ़ कषायोदय के विरह का ही आनंद नहीं, बल्कि इस बात की भी खुशी है कि अब आत्मा के अध्यवसाय हमेशा निर्वाण पथ के सहयोगी बनेंगे, हेतु बनेंगे ॥२८२॥

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।
सद्दर्शनं तथैवास्य, ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः ॥२८३॥

अर्थ : जन्मान्ध पुरुष को शुभोदय-पुण्योदय से चक्षुलाभ होने पर जैसे सद्दर्शन होता है ऐसे ही अन्य मतावलम्बी कहते हैं कि वैसे ही अपुर्नबंधक को ग्रंथीभेद होने पर होता है ॥२८३॥

विवेचन : जैसे जन्म से अन्धे व्यक्ति को कदाचित् उसके पूर्वपुण्योदय से कुशल वैद्य की औषधि से आँखों के परदे खुल जाते हैं; चक्षु कमल की भाँति विकस्वर बनते हैं और वह जगत के पदार्थों का सद्दर्शन-सम्यक् दर्शन - यथार्थबोध करता है । जगत की सभी वस्तुओं का यथार्थबोध होने पर उसे जो अवर्णनीय आनंद उपलब्ध होता है, आनंद के साथ-साथ उसे सत्य-असत्य का भान-बोध भी हो जाता है । इसी प्रकार अनादि काल से जीव मिथ्यात्व से अन्ध बना हुआ है शुभ पुण्य के योग से उसे सद्गुरु का संयोग मिलता है फिर यथाप्रवृत्तिकरण-करता हुआ अपूर्वकरण के बल से भयंकर संसार की कर्मग्रंथी को जब साधक भेदता हैं तब उसे अपूर्व आनंद का हेतु रूप सम्यक् दर्शन प्राप्त होता है । तब उसे देव, गुरु और धर्म का सच्चा बोध भी प्राप्त होता है। संसार के प्रलोभनों में वह फिर फंसता नहीं । जल कमलवत् रहने की सम्यक् दृष्टि उसे प्राप्त होती है ।

संसारी अन्ध व्यक्ति को चरम चक्षु की जितनी महत्ता है, उतनी ही साधक को सम्यक् दृष्टि की महत्ता है ॥२८३॥

अनेन भवनैर्गुण्यं, सम्यक् वीक्ष्य महाशयः ।
तथाभव्यत्वयोगेन, विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥२८४॥

अर्थ : भिन्नग्रंथी महाशय यथार्थ दर्शन सद्दर्शन से संसार की असारता को सम्यक् तौर पर देखकर, उच्च भव्यत्व योग्यता से संसार की विचित्रता का चिन्तन करता है ॥२८४॥

विवेचन : ग्रंथीभेद होने पर जीवात्मा को जब सद्दर्शन-सम्यक्दर्शन-विवेकज्ञान होता है तो उसे कृत्य-अकृत्य, सत्य-असत्य, सार-असार का बोध हो जाता है। जब संसार का यथार्थबोध हो जाता है; उस समय उसे भव-संसार की असारता दृष्टिगोचर होती है । उसे संसार निर्गुण अर्थात् जन्म-जरा-मरण-रोग-शोक- संयोग-वियोग आदि अनेकप्रकार के दुःखों की बहुलता से सारहीन दिखाई देता है; त्याज्य और हेय, गुणहीन लगता है, इसलिये महान् आशय वाला वह उदात्त भिन्नग्रंथी महात्मा उच्च भव्यत्व योग्यता के सहयोग से संसार के भावों की विचित्रता-नानारूपता को अतिक्लिष्ट जानकर, आत्मरूप में ही रमण करता है । तात्पर्य यह है कि जब सम्यक् दर्शन का सूर्योदय जीवन में होता है तब ग्रंथीभेद होने पर जीवात्मा को संसार सार हीन दिखाई देता है और संसार की विचित्रता को जानकर, आत्मभाव को ही श्रेष्ठ मानकर वह उसी की उपासना मे दत्तचित्त रहता है । उसके अध्यवसाय उच्च होते हैं और वह आत्मभाव में ही रमण करता है ॥२८४॥

''मोहान्धकारगहने, संसारे दुःखिता बत ।
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः, सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥२८५॥

अर्थ : अहो ! कितने दुःख का विषय है कि सर्वज्ञ प्रणीत ऐसे धर्म-तेज के विद्यमान होने पर भी प्राणी मोहरूपी गहन अन्धकारपूर्ण इस संसार में दुःखी होकर भटकते हैं ॥२८५॥

विवेचन : भिन्नग्रंथी महाशय का हृदय प्रतिदिन कोमलता, दया, सहानुभूति आदि गुणों में प्रगतिशील होता जाता है अर्थात् इसकी संवेदनशीलता बढ़ती जाती है । इसलिये संसार में प्राणियों को दुःखी देखकर, उसे खेद होता है; करुणा पैदा होती है कि सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाने का उपायरूप धर्मतेज - सर्वज्ञ प्रणीत अहिंसा-संयम-तप रूप धर्म विद्यमान होने पर भी प्राणी मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, अशुभयोग, प्रमादरूप अज्ञानता के कारण संसार के नाना प्रकार के दुःखों का भोग बनते हैं और संसाररूपी चक्र में अनवरत पिसते हैं । कितने दुःख की बात है कि वस्तु उनके पास में है और वे दुःखी हैं । इसी बात का खेद ज्ञानियों को होता है और कभी-कभी उन्हें खेदजन्य हंसी भी आती है । जैसा कि कबीर ने कहा है :-

पानी में मीन पियासी
मोहे सुनि सुनि आवत हांसि......

इसी भाव को ब्रह्मानंदजी ने भी अपने भजन में कहा है :-

मृगनाभि में सुगन्धी
सूंघे वाहे घास गन्धी
दुनियां भयी है अन्धी
समझे नहि इशारा

ऐसा ही अन्य अनेक भक्तों ने कहा है कि पास में उपाय होने पर भी मनुष्य मिथ्यात्व के कारण उसे देख नहीं पाता और उसके कारण संसार के सैंकड़ों दुःखों को सहता है। कितनी दयनीय स्थिति है संसार की ? कितने दुःख की बात है ॥२८५॥

अहमेतानतः कृच्छ्राद्, यथायोगं कथञ्चन ।
अनेनोत्तारयामीति वरबोधिसमन्वितः ॥२८६॥"

अर्थ : किसी भी उपाय से, जैसे भी योग्य बने वैसे मैं (सर्व जीवों को) इस धर्मतेज से, इस भयंकर दुःख से उगारुँ, ऐसी भावना उत्तम बोधि युक्त जीवात्मा को होती है ॥२८६॥

विवेचन : श्रेष्ठ बोधि सम्पन्न महात्मा को जगत के कल्याण की आकांक्षा सदैव रहती है कि मैं संसार के जन्म-जरा, मरण, रोग, शोक, आधि-व्याधि-उपाधि आदि संसार के भयंकर अवाच्य दुःखों से पीड़ित सर्व जीवों को, जिसको जिस साध्य की जरूरत हो, उसे उस साधन की प्राप्ति करवाकर, किसी भी उपाय से, धर्म तेज से संसार से पार उतारुं। ऐसी सर्वश्रेष्ठ भावदया उनके हृदय में होती है। कहा भी है :-

"सविजीव करुँ शासनरसी-ऐसी भावदया दिल में बसी"

संत तुकाराम जी ने गाया है कि :-

'जगा च कल्याणा संतांची विभूति" श्रेष्ठबोधिसम्पन्न, भावी तीर्थंकरों, भावी अर्हतों, महापुरुषों के मन में हमेशा जगत्कल्याण की उत्कृष्ट भावना रहती है। सभी जीवों को दुःख मुक्त करुं, सभी सुखी रहे, ऐसी भावना सदैव रहती है :

सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

उनकी जीवन पर्यन्त ऐसी प्रवृत्ति बनी रहती है। वे अन्तिम श्वास पर्यन्त जगत्कल्याण के कार्य करते रहते हैं ॥२८६॥

करुणादिगुणोपेतः, परार्थव्यसनी सदा ।
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः ॥२८७॥

अर्थ : (इस प्रकार वह) उत्तम बोधिसत्त्व करुणादि गुणों से युक्त, सदैव परोपकार परायण, बुद्धिमान, वर्धमान पुण्योदय वाला तथा गुणानुरूप आचरण करने वाला होता है ॥२८७॥

विवेचन : जैसे उपर बता चुके हैं कि उत्तमबोधि सम्पन्न, भिन्नग्रंथी महात्मा की भावना-दया कितनी उत्तम होती है। अब इस श्लोक में ग्रंथकर्ता ने उनमें और क्या-क्या गुण होते हैं यह बताया है। वे सर्वजीवों के प्रति करुणा से युक्त होते हैं; सभी के दुःखों से उनका हृदय द्रवित हो जाता है; किसी भी प्राणी को दुःखी देखकर, वह चुपचाप नहीं रह सकते। दूसरा गुण परोपकार परायणता बताया है। दुःखों को देखकर, तत्काल उनको सुखी करने की जो चेष्टा है वह परोपकार है। मन से, तन से, धन से, समय, शक्ति और बुद्धि से हर किसी भी उपाय से वह सतत दूसरों के काम आते है। दूसरों के कार्य में, उपयोग में आकर ही उसे चैन पड़ता है; तभी उसे शान्ति का अनुभव होता है कि मैं कृत-कृत्य, हुआ। मेरा जन्म सफल हुआ। परार्थव्यसनी विशेषण यही बताता है कि जैसे चाय, सिगरेट का किसी को व्यसन लग जाता है, उनको पिये बिना उसे चैन नहीं पड़ता। इसी प्रकार इसको परसेवा, परोपकार के कार्य किये बिना चैन नहीं पड़ता। उसके सभी सत्कार्य, परोपकार के कार्य, सेवा के कार्य, बुद्धि-प्रतिभा से युक्त होते हैं। वे जिस भी शुभकार्य को पकड़ेगे बुद्धि से खूब विचार कर, दीर्घबुद्धि से करेंगे। बुद्धिपूर्वक किये गये करुणा प्रधान शुभ कार्यों से स्वाभाविक है कि उनका महोदय-पुण्योदय-महान्उदय वर्धमान रहेगा, बढ़ता ही रहेगा। फिर बताया है कि गुणानुरूप केवल विचार ही नहीं आचरण भी होता है ॥२८७॥

तत्तत्कल्याणयोगेन, कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।
तीर्थकृत्त्वमवाप्नोति, परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥२८८॥

अर्थ : वह (उत्तमबोधिवान जीवात्मा) इस प्रकार अन्य प्राणियों के हित के लिये कल्याणकारक प्रवृत्ति करता हुआ तीर्थंकरत्व को प्राप्त करता है, जो प्राणियों के कल्याण का उत्कृष्ट साधन है ॥२८८॥

विवेचन : उत्तमबोधि-सम्पन्न जीवात्मा जब जातपात, कौम, सम्प्रदाय, फिरकापरस्ती और तेरे-मेरे के भेदभाव से उपर उठकर; संकुचित दीवारों से बाहर निकल कर, मानवमात्र ही नहीं, जीव, सत्त्व, प्राणीमात्र के हित के लिये सतत कल्याणमयी प्रवृत्ति करता है, तब अति शुद्ध अध्यवसायों के बल से हृदय ज्ञान निर्मल बन जाता है; भावना इतनी उच्चकोटि की हो जाती है कि वह सर्वसत्त्व हितकारी सर्वोत्कृष्ट अवस्था - तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन कर लेता है। वह जीव वहाँ पर तीर्थंकर कर्म बांध लेता है जो सर्वजीवों के हित का परम साधन है। तीर्थंकर की अवस्था तभी प्राप्त होती

है जब जीव सर्वभूतों में आत्मभाव के दर्शन करता है। गीता में भी इस स्थिति को "**आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सःपश्यति**" स्थितप्रज्ञ की उच्च अवस्था के रूप में वर्णन किया है। इस प्रकार सर्वजीवों के प्रति तीर्थंकर दयालु होते हैं ॥२८८॥

चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः ।
तथानुष्ठानतः सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत् ॥२८९॥

अर्थ : जो (उत्तमबोधिसम्पन्न जीवात्मा) स्वजनादि के सम्बंध में ऐसी चिन्ता (संसार से पार उतारने की चिन्ता) करता है और तदनुरूप उपकार भी करता है वह प्रशस्त बुद्धि पुरुष गणधर होता है ॥२८९॥

विवेचन : जो उत्तमबोधि सम्पन्न जीवात्मा अपने स्वजन, मित्र, कुटुम्ब, ग्राम, नगर, देश के सम्बंध में ऐसी चिन्ता करता है कि मैं इनको संसार समुद्र से पार उतारुं, सर्वदुःखों से इनको मुक्त करुं। मेरे स्वजन, मित्र, कुटुम्बी, नगरनिवासी, मेरे देशवासी सुखी रहे, सर्वदुःखों से मुक्त रहे; कल्याणपथ पर चलें इस प्रकार की भावना से प्रेरित होकर, उनको मार्गदर्शन देता है; उपदेश देता है; उनके उपर उपकार करता है, वह बोधिप्रधान प्रशस्त बुद्धि जीव गणधर (तीर्थंकर भगवान के प्रथम शिष्य) बनते हैं और देव-दानव-मानवों से माननीय-वन्दनीय बनते हैं।

तात्पर्य यह है कि जिसकी कल्याणकारक प्रवृत्ति अपने स्वजन, कुटुम्ब, ग्राम, देश तक मर्यादित होती है वह गणधर होता है और जिसकी कल्याणमयी प्रवृत्ति सार्वभौम, अमर्यादित-असीम होती है, वह तीर्थंकर होता है ॥२८९॥

संविग्नो भवनिर्वेदादात्मनिः सरणं तु यः ।
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ, सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥२९०॥

अर्थ : जो (उत्तमबोधिप्रधान जीवात्मा) भवनिर्वेद से संवेग पाकर, 'आत्मा के सिवाय कोई शरण नहीं' ऐसा सोच कर, सदैव 'आत्मार्थ' प्रवृत्ति करता है वह 'मुण्डकेवली' होता है ॥२९०॥

विवेचन : उत्तमबोधिप्रधान जीवात्मा, भव निर्वेद से संसार को असार जानता है और सोचता है कि आत्मा के सिवाय इस संसार में दूसरी कोई शरण सच्ची नहीं; आत्मा के सिवाय संसार में कोई अपना नहीं।

एगो हं नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीण-मणसो, अप्पाणमणुसासइं ॥

एगो मे सासओ अप्पा, नाण-दंसण-संजुओ ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोग लक्खणा ॥

संजोग-मूला-जीवेण, पत्ता दुक्ख-परंपरा ।
तम्हा संयोग सम्बंधं, सव्व तिविहेण वासिरिअं ॥ संथारा पोरिसिसूत्र

इत्यादि एकत्व भावना पर आरूढ़ होकर, एकत्व भावना के बल से सतत अपनी आत्मा के हित के लिये, आत्मकल्याण के लिये ही प्रवृत्ति करता है। वह स्वयं अकेला ही अपनी आत्मा में सतत रमण करता है। ऐसी जीवात्मा मुण्डकेवली होती है। मोक्ष एव धर्म के प्रति अनुराग संवेग है और संसार की असारता का जानना भवनिर्वेद है।

अर्थात् भवनिर्वेद से संसार की असारता को जानकर और संसार में आत्मा और धर्म के सिवाय दूसरी कोई सच्ची शरण नहीं ऐसा सोच कर, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोकादि भव परम्परा के दु:खों से आत्मा को मुक्त करने के लिये, योग्य धार्मिक अनुष्ठान तप, जप, स्वाध्याय ध्यान करता है। स्वयं अकेला ही जो अपनी आत्मा में रमण करता है; मन, वचन, काया के योगों को शुद्ध करता है और द्रव्य से पांच महाव्रतों को धारण करता है, केशमुण्डन से द्रव्यमुण्ड होता है और क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व का त्याग करके, भाव मुण्ड होता है। ऐसी जीवात्मा शुक्लध्यान द्वारा आत्मभाव में आरुढ़ होकर, केवलज्ञान और दर्शन को प्राप्त करती है पर वह अन्य लोगों के लिये उपकारक सिद्ध नहीं होती; विशेष अतिशय रहित होने से शिष्यसमुदाय भी नहीं होता। इसीलिये इन्हें 'मुण्डकेवली' कहा गया है अथवा मूककेवली भी कहते हैं। शास्त्रों में मुण्डकेवली के दृष्टान्त पीठ और महापीठ के नाम से दिये गये है। तात्पर्य यह है कि जो जीव केवल अपनी ही आत्मा का कल्याण करते हैं वह मुण्डकेवली हैं ॥२९०॥

तथाभव्यत्वतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः ।
एवं चिन्तादिसिद्धिश्च, सन्न्यायागमसङ्गता ॥२९१॥

अर्थ : तथाभव्यत्वता की योग्यता के कारण ही विचित्र निमित्तों (काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ रूप निमित्त कारणों) की प्राप्ति होती है। इस प्रकार विचित्र-विविध चिन्ता भावना-विचारों की सिद्धि न्याययुक्त और शास्त्र संगत है ॥२९१॥

विवेचन : कारणवैचित्र्य बिना कार्यवैचित्र्य लोक और शास्त्र में भी कभी होता नही है। कार्यवैचित्र्य कारणवैचित्र्य की अपेक्षा रखता है अर्थात् कोई आत्मा तीर्थंकर होती है; कोई गणधर बनती है तो कोई सामान्य केवली होती है, इस प्रकार मोक्ष में तो सभी जाने वाले हैं। मोक्षमार्ग सभी का एक है परन्तु फिर भी उपर्युक्त जो भेद बताये हैं वे तथाभव्यत्व की नानात्व योग्यता को लेकर होते हैं। क्योंकि जीवात्माओं को वैसा-वैसा, काल, नियति, स्वभाव, भावीभाव, कर्म और पुरुषार्थ रूप कारण समवायपंचक भी उसकी वैसी—वैसी योग्यता के अनुसार ही प्राप्त होते हैं। अतः इन सभी विचित्रताओं का मूलकारण स्वाभाविक भव्यत्व की नानारूपता में रहा हुआ है। चिन्तादि भावना विशेष अनुष्ठान आदि विचित्रता की प्राप्ति का मुख्य हेतु, तथाप्रकार की भव्यत्वता है।

इस प्रकार स्वाभाविक भव्यत्व योग्यता की नानारूपता सिद्ध हुई । अगर भव्यत्व में नानारूपता न माने तो उपर जो भेद पड़ते है वह नहीं घटित नहीं हो सकते। अतः मानना चाहिये भावना विशेष की विचित्रता विविधता की प्राप्ति भी जीवात्मा को तथाभव्यत्वता तथा भवितव्यता के योग से विचित्र निमित्तों द्वारा होती है । भवितव्यता की विचित्रता बिना अन्य मुख्य कारण घटता नहीं है । यह सब युक्तियुक्त, न्याययुक्त एवं शास्त्रविहित हैं ॥२९१॥

एवं कालादिभेदेन, बीजसिद्ध्यादिसंस्थितिः ।
सामग्र्यपेक्षया न्यायादन्यथा नोपपद्यते ॥२९२॥

अर्थ : इस प्रकार काल-आदि भेद से सामग्री की अपेक्षा से बीज सिद्धि न्याययुक्त है इससे अन्यथा नहीं होती ॥२९२॥

विवेचन : पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की विचित्र स्वरूपवाली निमित्त तथा उपादान कारणरूप सामग्री विशेष के अनुसार जो बीजसिद्धि अर्थात् तीर्थंकर, गणधर, मुण्डकेवली अथवा अन्य विचित्र लब्धियाँ या सिद्धियाँ प्राप्त होती है, वह विचित्र बीजरूप सामग्री का योग भी भवितव्यता के अनुसार मिलता है । जिसे हम सरल भाषा में भावीभाव कहते हैं वही भव्यत्व है और नाना प्रकार का है । उसकी स्वाभाविक विचित्रता से ही सर्वत्र विचित्रता आती है। यही न्याययुक्त है; तर्कसंगत है; अन्यथा अगर भव्यत्व को नानारूपवाला न माने, तो विचित्र कार्य सिद्ध नहीं होते, इसलिये जो-जो भी शक्तियाँ-सिद्धियाँ-लब्धियाँ भव्यात्माओं को प्राप्त होती है वह सब उसी प्रकार की भव्यात्माओं को उनकी अपनी वैसी योग्यता-भव्यत्वयोग्यता के अनुसार, वैसे निमित्तकारण तथा सहकारी कारणों के योग से प्राप्त होती है ॥२९२॥

तत्तत्स्वभावता चित्रा, तदन्यापेक्षणी तथा ।
सर्वाभ्युपगमव्याप्त्या, न्यायश्चात्र निदर्शितः ॥२९३॥

अर्थ : उस-उस वस्तु के स्वभाव में ही विचित्रता रही हुई है और वह (विचित्रता) अन्य निमित्तों की अपेक्षा रखने वाली है, सर्वकार्य उससे व्याप्त हैं, यहाँ (इसका दृष्टान्त बीजसिद्धि आदि) न्याय निरुपित कर दिया है ॥२९३॥

विवेचन : उपादान कारण, निमित्तकारण और सहकारी कारणों से ही कोई भी कार्य सिद्ध होता है। तीनों परस्पर इतने सम्बन्धित हैं, व्याप्त हैं कि एक दूसरे के बिना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता; इसलिये कार्य में सभी कारणों की परस्पर अपेक्षा रहती है । इसी को यहाँ बताते हैं कि प्रत्येक वस्तु के स्वभाव में नानारूपता होती है । जिस आत्मा द्वारा जो विचित्रता होने वाली हो उसके अनुकूल वह स्वभाव उस आत्मा में सत्तारूप में रहा होता है तथा उसे वैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, सद्गुरु,

सहायक आदि अलग-अलग प्रकार के स्वभाव वाली कारणों की सामग्री प्राप्त होती है। इस प्रकार एक दूसरे कारणों का परस्पर सम्बंध भी, वैसे प्रकार से होने वाले कार्यों में अपेक्षित है। इस प्रकार सर्वकार्यों में वैसी अनुकूल सामग्री का संयोग अवश्य मानना चाहिये, सहकारी कारण भी कार्य को व्याप्त होकर रहते हैं। अमुक में उस सामग्री की अपेक्षा रहती है अमुक में नहीं। जैसे जिस बीज से आम पैदा होने वाला हो उसे वैसी हवा, पानी, भूमि, ऋतु आदि अनुकूल सामग्री का सहकार मिलने पर अवश्य वह आम वृक्ष बनेगा और फल की सिद्धि होगी। इसी प्रकार जो-जो कार्यविशेष जिस आत्माविशेष से होने योग्य हो उसे वैसी सर्वप्रकार की सामग्री का सहयोग मिलता है। उससे होने वाले कार्यों में आत्मा उपादान कारण बनती है यह बात पूर्व में ८२वें श्लोक में भी बता चुके हैं। इस प्रकार उन-उन कार्यों में उसके उपादान की विचित्रता माननी न्याययुक्त है।

तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा की जैसी योग्यता, उसको वैसे निमित्त उपलब्ध हो जाते हैं। इसमें मुख्य कारण भव्यत्वयोग्यता की स्वाभाविक विचित्रता है, इसलिये इससे अन्यथा घटित नहीं होता, सिद्ध नहीं होता ॥२९३॥

अधिमुक्त्याशयस्थैर्यविशेषवदिहापरैः।
इष्यते सदनुष्ठानं, हेतुरत्रैव वस्तुनि ॥२९४॥

अर्थ : अन्य मतावलम्बी भी इस विषय में (तीर्थंकर, गणधर, मुण्डकेवलीत्वादि अवस्था प्राप्ति में) पूर्ण श्रद्धायुक्त जो स्थिरता विशेष है उससे समन्वित सदनुष्ठान को ही हेतु मानते हैं ॥२९४॥

विवेचन : अधिमुक्ति-मुक्ति में जिसका आशय अध्यवसाय विशेष स्थिर है अर्थात् "आत्मा सर्वकर्मबंध न सें मुक्त हो, परमानन्द का भोक्ता बने", इस प्रकार के शुभ अध्यवसायों से युक्त संपूर्ण श्रद्धा युक्त - जिस श्रद्धा में विशेष स्थिरता हो अर्थात् अडिग, अकम्प हो; जिस श्रद्धा में किसी प्रकार के भी संकल्प विकल्प को स्थान नहीं, सांसारिक क्लेशों के हेतु विद्यमान होने पर भी, उससे उद्वेग और विषाद पाकर, जिस श्रद्धा में कोई परिवर्तन न होने पाये; विषयभोग के देवेन्द्र, चक्रवर्तीत्व आदि भोगों के सैकड़ों प्रलोभन, सिद्धियों, लब्धियों और नाना प्रकार की बाह्य चमत्कारिक शक्तियों के प्रलोभन भी जिस श्रद्धा को हिला न सकें; सुख और दुःख में भी जो श्रद्धा अटूट रहे, ऐसी श्रद्धा जिस महात्मा को होती है वह अधिमुक्ताशय वाला कहा जाता है। ऐसी श्रद्धा से युक्त जो सदनुष्ठान देवपूजा, गुरुभक्ति, तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान, लोकोपकार के कार्य, सेवा, वैयावच्च आदि ही तीर्थंकर, गणधर, मुण्डकेवली की अवस्था प्राप्त करने में मुख्य हेतु है। सांख्य आदि अन्य मतावलम्बी भी ऐसा ही मानते है कि सदनुष्ठान में श्रद्धा के तारतम्यतानुसार, फल में नानात्व आता है।

जैसी जिसकी श्रद्धा वैसा उसको फल मिलता है। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति

तादृशी', अत्यन्त पूर्ण उत्तमश्रद्धा से किये गये अनुष्ठान से उत्तम तीर्थंकरत्व की प्राप्ति होती है और मध्यम श्रद्धा से गणधर और अल्प श्रद्धावंत सामान्य केवली और अल्पतर श्रद्धावाला मूककेवली होता है।

तात्पर्य यह है कि भव्यत्व योग्यता सांसिद्धिक नानात्वरूपवाली माननी चाहिये । इसी पर विशेष विवाद हुआ है और पिछले इस श्लोक में भी यही कहा है कि सदनुष्ठान में भी श्रद्धा की तारतम्यतानुसार ही फल में नानात्व आता है। परमत वाले सांख्य लोग भी ऐसा ही मानते हैं ॥२९४॥

विशेषं चास्य मन्यन्त, ईश्वरानुग्रहादिति ।
प्रधानपरिणामात् तु, तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥२९५॥

अर्थ : कितने ही मतवादी ईश्वर की कृपा से इस विशेषता को (अधिमुक्ताशय वाले की इस पूर्ण अडिग श्रद्धा विशेष को) मानते हैं तथा अन्य तत्त्ववादी-सांख्य तो प्रकृति की परिणति से मानते हैं ॥२९५॥

विवेचन : पूर्व में कह चुके हैं कि अधिमुक्ति के आशय में स्थिरता आना यानि सर्वकर्म कलंक का त्याग करके, सहजानन्द रूप शिवपद की प्राप्ति की अभिलाषा होने के लिये जो अध्यवसायरूप पूर्णश्रद्धायुक्त स्थिरता वाली शुद्ध परिणामधारा है, वह मुक्ति का उपादान कारण है। यह तथ्य सर्वमतवादियों को स्वीकृत हैं, परन्तु कुछ लोग विशेष यह मानते हैं कि इस प्रकार की स्थिरता में कोई ईश्वर, महेश्वर, विष्णु आदि की कृपा हेतु है अर्थात् उनका मानना है कि ईश्वर की कृपा से ही मुक्त होने की अभिलाषा होती है। अन्य मतवाले सांख्यवादी मानते हैं कि जब प्रधान-प्रकृति अपना अधिकार जीवात्मा से हटा लेती है; तब उसे ऐसी मुक्त होने की प्रबल अभिलाषारूप अध्यवसाय होता है । इस प्रकार तत्त्ववादी मुक्ति के लिये विभिन्न बाह्य हेतुओं की चर्चा करते हैं, परन्तु वास्तव में तो आत्मस्वरूप की प्राप्ति रूप शुद्ध अध्यवसाय ही मुक्ति का हेतु है ॥२९५॥

तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा, नोभयत्राप्यदो भवेत् ।
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हन्तैषैव निबन्धनम् ॥२९६॥

अर्थ : (जीवात्मा की) उस स्वाभाविक योग्यता को छोड़कर, दोनों पक्षों में भी (ईश्वरानुग्रह और प्रकृति की परिणति पक्ष दोनों में) उक्त सिद्धि होने वाली नहीं, इसलिये उक्त व्यवस्था ही उचित है ॥२९६॥

विवेचन : पूर्व में कह चुके हैं कि तीर्थंकरत्व, गणधरत्व आदि विभिन्न अवस्थाओं को जीव अपनी योग्यता विशेष से प्राप्त करता है; जिस जीव में जैसी योग्यता का विकास हुआ हो उसे वैसा ही फल मिलता है, उसमें ईश्वर (अथवा प्रकृति) की कृपा मुख्य हेतु नहीं हो सकती क्योंकि स्वभाव

की योग्यता को छोड़कर, ईश्वर की कृपा अथवा प्रधान-प्रकृति की परिणति में इतना सामर्थ्य नहीं कि वह अकेली जीवात्मा को मुक्त करवा सके या विभिन्न दशाओं में ला सके। क्योंकि ईश्वरवादियों के ग्रन्थ गीता में भी कहा है कि:-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥ गीता, ५/१४

ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। यहाँ भी स्वभाव की योग्यता को ही स्वीकार किया है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥ गीता, ५/१५

परमात्मा किसी के पापपुण्य कुछ भी लेता-देता नहीं। प्राणी अपने ही अज्ञान के कारण मोहित होकर, विपरीत कार्य करते हैं। इसी प्रकार प्रकृति को अधिकार की निवृत्ति भी जीव की अपनी स्वाभाविक योग्यता के ऊपर निर्भर है। स्वभाव की योग्यता तो माननी ही पड़ेगी उसके सिवाय कार्यसिद्धि नहीं होती, इसलिये हमारे स्वभाव की योग्यता को ही मोक्ष का हेतु मानना उचित है। ईश्वर की कृपा को हेतु मानने से ईश्वर में दोषापत्ति आती है, अतः उक्त व्यवस्था ही उचित है। दोनों पक्षों में अर्थात् ईश्वरानुग्रह में और प्रकृति की परिणति में भी स्वभाव की योग्यता के सिवाय उक्त व्यवस्था घटित नहीं होती अतः स्वभाव की योग्यता तो मानना ही चाहिये ॥२९६॥

आर्ध्यं व्यापारमाश्रित्य, न च दोषोऽपि विद्यते ।
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य, यदि सम्यग्निरूप्यते ॥२९७॥

अर्थ : मध्यस्थ रहकर, यदि सम्यक् निरूपण करें, तो सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये यहाँ दोष भी नहीं है ॥२९७॥

विवेचन : मध्यस्थ रहकर, यदि सोचे विचारें कि भव्यात्मा के आत्मसामर्थ्य को प्रकट करने में अगर वैसी ईश्वर की कृपा-अनुग्रह पुष्टावलम्बनरूप बने तो ऐसी ईश्वर की आराधना उनकी कृपा प्राप्त करने में, जरा भी दोष नहीं है। क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार अपेक्षादृष्टि से विचार करने पर ईश्वर जो कि वीतराग है उसका ध्यान करके, आत्मा इष्ट-फल को प्राप्त करती है। स्याद्वादसिद्धान्त से मान्य यह बात है कि वीतरागदेव की पूजा, सेवा करना, अनुष्ठान आदि करना आत्मा के गुण प्रकट करने के लिये होता है। लोक-व्यवहार में भी ऐसा होता है जैसे अर्थ-धन-धान्य-रत्न स्वर्ण के इच्छुक अथवा सांसारिक भोगों के इच्छुक आर्थिक वस्तु से पुष्ट ऐसे धनवान, ज्ञानवानों, बुद्धिमानों का आश्रय लेकर; उनके मन को रञ्जित-खुश करके, अपने व्यापार के लिये उनकी आर्थिक अथवा बौद्धिक सहायता लेकर संसार में सुखी होते हैं। वैसे ही यहाँ मोक्ष के अर्थी-मुमुक्षुयोगी वैसे

उत्तमगुणवाले देवों की "शक्ति" "गुण", "आनन्द" को प्राप्त करने के लिये, उनके अनुग्रह को प्राप्त करने के लिये, उस देव की पूजा, सेवा, भक्ति करके, गुणस्तवन करके, महान् पुण्य को प्राप्त करता है। उस पुण्य के बल से, अनुक्रम से, अपने योग्य सिद्धियों को प्राप्त करता है। उसमें परमात्मा की कृपा-अनुग्रह उपचारभाव से इच्छनीय है।

तात्पर्य है कि स्याद्वादसिद्धान्त के अनुसार औपचारिक रूप से ईश्वर का अनुग्रह मान्य है उसमें कोई दोष नहीं है ॥२९७॥

गुणप्रकर्षरूपो यत्, सर्वैर्वन्द्यस्तथेष्यते ।
देवतातिशयः कश्चित्, स्तवादेः फलदस्तथा ॥२९८॥

अर्थ : गुणप्रकर्षरूप (गुण का उत्कृष्टत्व हो जिसमें) ऐसा कोई भी अतिशय शक्तिवंत देवता सभी के द्वारा वन्दनीय है, तथा स्तवनादि से फल को देने वाला है ॥२९८॥

विवेचन : ज्ञानादि गुण जिसमें उत्कृष्ट रूप से प्रकट हुये हों, ऐसा कोई भी देवताविशेष सभी को इष्ट है। फिर चाहे उसे ईश्वर कहो, जिन कहो या हरि, हर, ब्रह्मा, विष्णु, चाहे उसे कोई भी नाम दे वह सभी को वन्दनीय है। क्योंकि जहाँ भी गुणों का अतिशय है वह हमारे लिये स्तुत्य और आदरणीय है क्योंकि "गुणा हि पूजा स्थानं", कहा भी है :

भव बीजांकुर जनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।
विष्णु र्वा ब्रह्मा वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

श्री हेमचन्द्राचार्य, सोमनाथ महादेव के मन्दिर में जाकर, ऐसी स्तुति करते हैं कि रागादि दोष जिसके क्षय हो चुके हैं, ऐसे कोई भी देव चाहे उनका नाम विष्णु, ब्रह्मा हो या हर या जिन उन्हें मेरा नमस्कार है। कहा जाता है कि "जिनेश्वरादि परमात्मा की सेवा, पूजा, ध्यान, स्तवन आदि क्रिया-अनुष्ठान, स्वर्ग और अपवर्ग रूपी फल को देने वाला होता है"। जैसे जिनदेव को अनुलक्ष्य करके की गई क्रिया-अनुष्ठान फल को देती है, वैसे ही जगत्कर्ता अथवा नित्य, ईश्वर, ब्रह्मा, महादेव आदि नाम वाले गुणातिशय देव की सेवाभक्ति, स्तवन, वन्दन आदि श्रद्धा पूर्वक की गई क्रिया-अनुष्ठान वैसे फल को देनेवाली हैं।

इस प्रकार ईश्वर का अनुग्रह जीव के लिये उपकारक है। तात्पर्य है कि गुणी सभी को आदरणीय है और गुणी की स्तुति करने से आत्मा के गुण प्रकट होते हैं, यही सब से बड़ा उत्तम फल है ॥२९८॥

भवंश्चाशश्चाप्यात्मनो यस्मादन्यतश्चित्रशक्तिकात् ।
कर्माद्यभिधानादेर्नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥२९९॥

अर्थ : कर्म नाम की अन्य जिस विचित्र शक्ति से आत्मा का भव (जन्मादि) होता है; वह भी (उस आत्मा की अपनी स्वभाव की) योग्यतानुसार ही होता है अन्यथा (नहीं क्योंकि उससे) अतिव्याप्ति दोष आता है ॥२९९॥

विवेचन : जीवात्मा संसार में जो नया जन्म धारण करता है, नया शरीर, इन्द्रियाँ, ज्ञान, शक्ति, कुटुम्ब, परिवार अनुकूल या प्रतिकूल जो कुछ भी प्राप्त करता है, वह उसकी अपनी योग्यतानुसार किये गये कर्मों के योग से ही करता है। अगर ऐसा न माने अर्थात् कर्म और स्वयोग्यता बिना केवल ईश्वर के अनुग्रह से वैसा नाम, जाति, कुल, गौत्र, जन्म, शरीर, कुटुम्ब आदि की प्राप्ति माने तो अनेक दोषों की आपत्ति आती है, और स्वयोग्यता के अभाव में भव्य और अभव्य की कोई भेद रेखा नहीं रहती, इसलिये सर्वत्र कर्म और स्वयोग्यता को ही प्रधान हेतु मानना चाहिये। अतिव्याप्ति दोष-सर्वजीवों को सर्वत्र-सर्वकर्म लागु पड़ेंगे क्योंकि उसमें स्वयोग्यता का अभाव है ॥२९९॥

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदम्पर्यव्यपेक्षया ।
तत्त्वं निरूपणीयं स्यात्, कालातीतोऽप्यदोऽब्रवीत् ॥३००॥

अर्थ : मध्यस्थ रहकर, तत्त्वस्वरूप का यथार्थ पर्यालोचन करके, तत्त्व निरूपण करना चाहिये, आचार्य कालातीत ने भी यही कहा है ॥३००॥

विवेचन : स्वपक्ष में राग, परपक्ष में द्वेष इस प्रकार का राग-द्वेष जिसमें हो, वह वस्तुतत्त्व का यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता, इसलिये पक्षपात को छोड़कर, रागद्वेषरहित होकर, मध्यस्थ रहकर, तत्त्वग्रहण की दृष्टि रखकर, युक्तिपूर्वक तत्त्व-वस्तुतत्त्व का निरूपण करना चाहिये। पारमार्थिक देव कैसा होता है? सच्चा धर्म कैसा होता है ? सद्गुरु कैसा होता है ? उन सभी का निश्चय उनका यथार्थ बोध होने पर होता है, और मध्यस्थ व्यक्ति ही वस्तुतत्त्व को पा सकता है। आचार्य कालातीत ने भी ऐसा ही कहा है कि यदि मध्यस्थ रहकर विचार करें, तो गुण प्रकर्षरूप देवता विशेष सभी को वन्दनीय है ॥३००॥

''अन्येषामप्ययं मार्गो, मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।
अभिधानादिभेदेन, तत्त्वनीत्या व्यवस्थितः ॥३०१॥

अर्थ : मुक्तवादी, अविद्यावादी आदि अन्य मतावलम्बियों का भी यही मार्ग (योगमार्ग) है, केवल नामादि में भेद है। तत्त्वनीति से तो (इसी मार्ग में) व्यवस्थित है ॥३०१॥

विवेचन : मुक्तवादी=परब्रह्मवादी, अविद्यावादी=वेदान्ती आदि अन्य मतावलम्बियों का भी यही मार्ग है। वे भी हमारे कथित योगमार्ग को ही स्वीकार करने वाले हैं। यद्यपि उनके देव, गुरु और धर्म का नाम अलग हैं; स्वरूप में भेद हैं; भाषा और शैली में विभिन्नता हैं; कुछ तत्त्वों को वे एकान्तनित्य मानते है और कुछ को एकान्त-अनित्य मानते हैं; परन्तु फिर भी कुछ अंशों में वे

भी हमारे कथित मोक्ष मार्ग के अनुसार मानते हैं; अगर तत्त्वनीति-स्याद्वादन्याय की अपेक्षा से विचार करें तो तत्त्व तो एक का एक है और वस्तु वही की वही है, उसमें किसी प्रकार की विभिन्नता नही आती है ॥३०१॥

मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदैश्वर्येण समन्वितः ।
तदीश्वरः स एव स्यात्, संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥३०२॥

अर्थ : 'मुक्त', 'बुद्ध', 'अर्हत्' अथवा जो-जो भी ऐश्वर्य से युक्त हैं वही ईश्वर है। केवल नाम मात्र का ही यहाँ पर भेद है ॥३०२॥

विवेचन : ऐश्वर्य अर्थात् ज्ञानादिगुणों के अतिशय से जो युक्त हो, वह ईश्वर है। उसे चाहे मुक्त कहो, बुद्ध कहो या अर्हत् कहो केवल नाम अलग है वस्तु अलग नहीं है। वह सर्व कर्म कलंक से मुक्त होता है इसलिये परमब्रह्मवादी उसे मुक्त कहते हैं। वह सर्व पदार्थों को अपने ज्ञानातिशय से जानता है, इसलिये बौद्ध उसे बुद्ध नाम देते हैं। पूजने योग्य गुणों के अतिशय से युक्त होने से जैन उसे अर्हत् नाम से स्मरण करते हैं। वैष्णव उसे विष्णु कहते हैं और सर्वकल्याणकारी होने से शैव उसे शिव नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार नाम अलग-अलग होने पर भी सभी अत्यन्त अतिशय वाले केवलज्ञान, केवलदर्शन और पूर्ण उच्चकोटि के चारित्ररूप ऐश्वर्य से जो युक्त हैं ऐसे परमात्मा को हम ईश्वर कहते हैं। यद्यपि नाम भेद है परन्तु वस्तु में भेद नहीं है। श्री मानतुङ्गाचार्य ने भक्तामर स्तोत्र में भी इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया है :-

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित ! बुद्धि-बोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवन-त्रय-शंकरत्वात् ।

धाताऽसि धीर ! शिव-मार्ग-विधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥ भक्तामर गाथा-२५

ईश्वर के नाम भेद होने मात्र से कोई फर्क नहीं पडता ॥३०२॥

अनादिशुद्ध इत्यादिर्यश्च भेदोऽस्य कल्प्यते ।
तत्तत्तन्त्रानुसारेण, मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥३०३॥

अर्थ : अनादिशुद्ध इत्यादि जो भी इसके भेद अपने-अपने शास्त्रानुसार कल्पित किये हैं, वे भी निरर्थक है, ऐसा मैं मानता हूँ।

विवेचन : मैं मानता हूं कि शैवों ने अपने शास्त्र में ईश्वर को जो अनादिशुद्ध और सर्वगत माना है; बौद्धों ने अपने शास्त्र में ईश्वर को असर्वगत और क्षणिक माना है। जैनों ने आगमों में ईश्वर को जो सादि और असर्वगत माना है, वे सब भेद अकिंचित्कर हैं, इसलिये निरर्थक है।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि बाह्यदृष्टि से ईश्वर के स्वरूप में भेद दिखाई देता है, परन्तु निश्चयनय की दृष्टि में इन भेदों का कोई अर्थ-प्रयोजन नहीं है ॥३०३॥

विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादतः ।
प्रायो विरोधतश्चैव फलाभेदाच्च भावतः ॥३०४॥

अर्थ : (कारण कि मुक्तादि देवता) विशेष के अपरिज्ञान से, युक्तियों के हेतुवाद-असिद्धादि दोष रूप प्रायः परस्पर विरोध होने से तथा फलाभेद होने से और भाव से (सभी का ईश्वरत्व) मानना ही उचित है ॥३०४॥

विवेचन : विचारों की विभिन्नता अर्थहीन है, क्योंकि उच्च ईश्वरादि महान् आत्माओं के विषय में यथार्थ जानकारी हमारी बुद्धि के बाहर की वस्तु है। क्योंकि कि इस विषय में जो-जो भी युक्तियाँ, तर्क, हेतु आदि दिये जाते हैं, विचार विमर्श के लिये जो-जो दलीले दी जाती हैं, वे प्रायः भ्रमजनक और परस्पर विरोधी होती हैं। परन्तु उसकी आराधना द्वारा जो फल प्राप्त होता है, वह समान होता है। फल में भेद नहीं आता और भाव से ज्ञानादि गुणों के अतिशय प्रकर्ष में भी कोई भेद नहीं। इसलिये सब को ईश्वर मानना उचित है।

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक तन्त्रवादी को विशेष प्रकार के शुद्धज्ञान का अभाव होता है। उनके वचन एकान्तवादी होते हैं इसलिये परस्पर विरोधी होते हैं। बौद्ध, शैवों के ईश्वर का खण्डन करते हैं और शैव, बौद्धों के ईश्वर को अपनी युक्तियों से काटते हैं। इस प्रकार युक्तिवादों से और असिद्धादिरूप हेत्वाभासों से एक दूसरे के ईश्वर का खण्डन करते हैं, परन्तु वह तो केवल वाक्-युद्ध मात्र है। परन्तु अपने आराध्य की आराधना का फल सभी को समान मिलता है और उनमें ज्ञानादिगुणप्रकर्ष भी सभी को मान्य है। नाम और स्वरूपभेद से वस्तु का अभाव नहीं हो सकता जैसे गेहूँ के आटे से अनेक पकवान बनते है। और उनके नाम भी अलग-अलग होंगे। स्वरूप और स्वाद भी अलग होगा। परन्तु पौष्टिक तत्त्व, गेहुं का आटा सभी में विद्यमान है। उससे मिलने वाला लाभ भी समान है, अर्थात् लाभ कम-ज्यादा हो सकता है परन्तु लाभ का अभाव नहीं हो सकता। गेहुं का आटा सभी को मान्य है इसी प्रकार आराधना की पुष्टिरूप आलम्बनस्वरूप ईश्वर सभी को मान्य है। उसमें किसी का भी दो मत नहीं ॥३०४॥

अविद्या-क्लेश-कर्मादिर्यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥३०५॥

अर्थ : जैसे अविद्या, क्लेश, कर्मादि भव-संसार के हेतु हैं, वैसे ही प्रधान (प्रकृति) भी (हेतु) ही है, केवल नाम अलग है ॥३०५॥

विवेचन : भवपरम्परा का मुख्य हेतु अज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय, प्रमाद और अशुभयोग है।

इन्हीं के कारण जीवों का भवभ्रमण बढ़ता है। भवपरम्परा के इस कारण-हेतु को वेदान्ती और अद्वैतवादी 'अविद्या' नाम देते हैं। सांख्य-दर्शन वाले इसे 'प्रधान-प्रकृति' कहते हैं। योग दर्शनकार महर्षि पतञ्जली इसे 'क्लेश' बताते है और जैन इसे 'कर्म' कहकर पुकारते हैं। बौद्ध इसी को 'वासना-तृष्णा' कहते हैं। पाशुपत शैव इसे 'पाश' कहते हैं। इस प्रकार नाम अलग-अलग होने पर भी संसारवृद्धि का जो कार्य है वह सभी का एक है, और समान है। सभी इसे त्याज्य और हेय मानते हैं। नाम अलग होने पर भी वस्तु तत्त्व एक है, उसे चाहे अविद्या कहो, वासना कहो या कर्म अथवा पाश, तत्त्व में कोई अन्तर नहीं पड़ता, सब एक ही है।

ग्रंथकार की दृष्टि, विचार कितने सुलझे हुये और विशाल है ॥३०५॥

अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा।
गीयतेऽतीतहेतुभ्यो, धीमतां सोऽप्यपार्थकः ॥३०६॥

अर्थ : इसका (प्रधानरूप कर्म का) भी जो अन्य भेद अपने-अपने दर्शनशास्त्रों में नाना प्रकार के विशेषण देकर किया है वह भेद भी अतीत हेतुओं से (अन्य में जो विशेष परिज्ञान का अभावादि बताया है, उनके कारण) बुद्धिमानों को अकिंचित्कर लगता है ॥३०६॥

विवेचन : सभी दर्शनों में प्रधान को नानारूपों से सम्बोधित किया है, जैसे वेदान्ती इसे अविद्या, सांख्यवादी इसे प्रधान, जैन इसे कर्म, शैव इसे पाश नाम से पुकारते हैं। सभी ने नाम अलग-अलग दिये हैं। कुछ लोग इसे मूर्त मानते हैं और कुछ अमूर्त मानते हैं परन्तु इन सभी भिन्नताओं में भी अभिन्नता रही हुई है, और वह अभिन्नता है भव-संसार के बंध न का हेतुत्व, वह सर्वत्र एक समान व्याप्त है। पूर्व के श्लोक में जो हेतु कहे हैं कि विशेष पर-ज्ञान का अभाव और विवेक का अभाव है अगर विवेक होता तो इतने भेद न करते। परन्तु बुद्धिमानों को जैसे देवता विशेष के नामभेद में भी गुण का अभेद दिखाई देता है वैसे ही कर्म विशेष में अविद्या, वासना, पाश, प्रकृति आदि नामभेद होने पर भी भवबीजत्व का अभेद सर्वत्र दिखाई देता है। परमार्थी बुद्धिमानों को यह भेद अकिंचित्कर लगता है, क्योंकि (यम, नियम, आदि योग की अन्य शुभ प्रवृत्तियों द्वारा वह मल दूर करना है) कर्म मूर्त हो या अर्मूत, लेकिन वस्तु त्याज्य और हेय है, इसमें किसी को विरोध नहीं। उसे दूर करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये ऐसे भेदों में कुछ नही रखा है ॥३०६॥

ततोऽस्थानप्रयासोऽयं, यत् तद्भेदनिरूपणम्।
सामान्यमनुमानस्य, यतश्च विषयो मतः ॥३०७॥

अर्थ : इसलिये यह जो भेद निरूपण किया है वह अनुचित – व्यर्थ है क्योंकि अनुमान का विषय सामान्य है ॥३०७॥

विवेचन : कर्म के विषय में तात्त्विक अभेद होने पर भी उसमें व्यर्थ के संज्ञाभेद खड़े करने का प्रयत्न करना अस्थानीय है, क्योंकि देव और कर्म तत्त्व अनुमानगम्य हैं। ईश्वर साकार है या निराकार? कर्म मूर्त हैं या अमूर्त, यह तो अनुमान का विषय है, प्रत्यक्षगोचर नहीं है। ऐसी अनुमानगम्य वस्तु में तात्त्विकभेद न होने पर भी केवल कदाग्रह से संज्ञाभेद उपस्थित करना व्यर्थ है। कर्मतत्त्व सभी के लिये 'हेय' है उसमें दो मत नहीं। फिर मूर्त और अमूर्त में भेद पैदा करके, बुद्धिभेद करना अनुचित है। कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है। कार्य में यहाँ एकता है फिर भी जो वादी प्रतिवादी भेद-कल्पना का प्रयत्न करते हैं; वह अनुचित है। क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति अनुमान की सहायता से चलती है और अनुमान का विषय सामान्यरूप है विशेषरूप नहीं, इसलिये अनुमान से ऐसी भेद कल्पना का प्रयत्न करना व्यर्थ है ॥३०७॥

साधु चैतद् यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् ।
तथाभिधानभेदात् तु, भेदः कुचितिकाग्रहः ॥३०८॥

अर्थ : यह (कालातीताचार्य की उक्ति) न्याययुक्त और उचित है, शास्त्र भी इस विषय में उपदेश की प्रवृत्ति करते हैं कि नाममात्र के भेद से भेद मानना मात्र दुराग्रह है ॥३०८॥

विवेचन : श्लोक ३०७ में श्री कालातीत आचार्य ने बताया है कि देवविशेष और कर्म तत्त्व दोनों अनुमान के सामान्य विषय हैं। दोनों तत्त्व परोक्ष है, इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिये उसमें तत्त्व को ग्रहण करना चाहिये। अनुमान के विषय में नाना प्रकार के भेद की कल्पना करके, बुद्धिभेद करना उचित नहीं है। ग्रंथकर्ता इन (कालातीताचार्य) महाशय की उक्ति को लेकर, शास्त्र प्रमाण पूर्वक उसका समर्थन करते हैं कि शास्त्र में भी यही विधान है, सत्शास्त्र भी यही कहता है कि ईश्वर तत्त्व और कर्म तत्त्व आदि पदार्थों में देश, काल, भाषा, पद्धति आदि के कारण नामभेद होने पर भी मुख्य साध्य को ध्यान में रखकर, भव्यात्माओं को मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति करनी चाहिये। इसलिये मुक्त, बुद्ध, शिव, विष्णु आदि देवताओं में नामभेद से भेद मानना कदाग्रह मात्र है। इसी प्रकार कर्मविषय में नामभेद से भेद मानना मात्र मन की कुटिलता है, दुराग्रह मात्र है और इससे तत्त्व हाथ में नही आता इसलिये तत्त्वाभिलाषी को ऐसे कुतर्कों से दूर रहना चाहिये और उसके तत्त्व को ग्रहण करना चाहिये।

ग्रंथकर्ता को आचार्य कालातीत पर बहुत आदर और बहुमान है, क्योंकि वे एक तटस्थ, सत्य गवेषक, तत्त्वाभिलाषी, गुणग्राहक आचार्य हैं, ऐसा ग्रंथकर्ता को पूर्ण विश्वास है। इसीलिये कर्ता उन्हें महर्षिपद से सम्बोधित करते हैं। बार-बार उनके वचनों का आश्रय लेते हैं ॥३०८॥

विपश्चितां न युक्तोऽयमैदंपर्यप्रिया हि ते ।
यथोक्तास्तत्पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥३०९॥

अर्थ : बुद्धिमानों को ऐसा दुराग्रह (करना) उचित नहीं क्योंकि वे (विद्वान्) परमार्थप्रिय होते हैं । जो पूर्वोक्ति (कालातीत की उक्ति) कही है, वह सुन्दर है परन्तु फिर भी उस पर यहाँ पुनः विचार करें ॥३०९॥

विवेचन : परमार्थ गवेषक पण्डित पुरुषों को पारमार्थिक तत्त्व की कसौटी करते समय स्वपक्ष में राग और परपक्ष में द्वेषबुद्धि रखकर, कपटयुक्त झुठा कदाग्रह रखना बिल्कुल अनुचित है । क्योंकि पण्डितों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे हमेशा सत्यप्रिय, परमार्थप्रिय, तत्त्वप्रिय होते हैं । अर्थात् जो व्यक्ति कसौटी के समय निष्पक्ष रहकर, सत्य तत्त्व को ग्रहण करता है वह वास्तव में पण्डित है । अगर उनमें ऐसा मध्यस्थ भाव नहीं, तो वे पण्डित कहलाने के भी योग्य नहीं हैं । पूर्व में आचार्य कालातीत ने ऐसा सुन्दर कहा है और अन्य आचार्यों ने और पारमार्थिक पण्डित पुरुषों ने भी कहा है कि पक्षपात का त्याग करके, सत्यतत्त्व की गवेषणा, शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि के उपयोग से करनी चाहिये। पण्डितों का यही धर्म है और यही विशेषता है ॥३०९॥

उभयोः परिणामित्वं, तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् ।
अनुग्रहात् प्रवृत्तेश्च, तथाद्धाभेदतः स्थितम् ॥३१०॥

अर्थ : काल क्रम के भेद से (ईश्वर और प्रधान के) अनुग्रह और प्रकृति को अंगीकार करने से ईश्वर और प्रधान दोनों का परिणामित्व भाव निश्चित सिद्ध है ॥३१०॥

विवेचन : ईश्वर और प्रधान दोनों का परिणामित्वभाव सिद्ध होता है । क्योंकि उनके अभ्युपगम-शास्त्रों के सिद्धान्तानुसार ईश्वर अनुग्रह करके, जीवों की सृष्टि करता है और प्रधान स्वयं प्रवृत्त होकर, जगत की रचना करता है । (उसमें ईश्वर अन्य जीवों पर अनुग्रह करता है और प्रधान अन्य अन्यरूप में प्रवृत्ति करता है) इस तथ्य को स्वीकार करने पर, अन्य रूप में और अन्य पर्यायरूप में दोनों का परिणामित्वभाव निश्चित सिद्ध होता है ।

महर्षि कालातीत कहते हैं कि ईश्वर और प्रधान-कर्म, प्रकृतियों के परिणामित्व स्वभाव को स्वीकार करने पर ही वस्तुओं में कथंचित् ध्रुवत्व का निश्चय होता है क्योंकि "उत्पाद विनाश ध्रुवत्वयुक्तं सद्द्रव्यम्" । पदार्थ में पर्यायों की उत्पत्ति, विनाश होता है और एक ऐसा तत्त्व भी होता है जो सदैव स्थित रहता है । ऐसा सिद्धान्त अंगीकार करने पर ही कार्य सिद्ध हो सकता है । ईश्वर-चैतन्यधर्मी, परमात्मा सत्ता से नित्य होने पर भी, समय-समय पर नये-नये परिणामरूप पर्याय को धारण करने वाला है, इसीलिये द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से आत्मद्रव्य का ध्रुवत्व नित्यत्व सिद्ध है । उसी कारण से तथाप्रकार के योग्य जीवात्मा की उत्तमभक्ति, पूजा, ध्यान द्वारा ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर सकता है । ईश्वर अनुग्रह करता है; वह परिणामिभाव से न हो तो कैसे होगा ? इसलिये ईश्वर और जीव दोनों में परिणामिकता सिद्ध होती है । ऐसी ही प्रधान-प्रकृति अथवा कर्म को भी

जीवात्मा के व्यापार के अनुसार संयुक्त और वियुक्त होने की क्रियारूप कारणत्व होने से पारिणामिकता की सिद्धि होती है, अतः सर्ववस्तु की सिद्धि में तथाप्रकार की द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलता भी जरूरी है। ऐसे आत्मा, ईश्वर, कर्मरूप-प्रधान और काल आदि का पारिणामिक भाव मानना चाहिये, क्योंकि जगत में काल के अनुक्रम से ही सर्व प्रवृत्ति होती है, इसलिये यहाँ काल की समय से भिन्नता सिद्ध होती है। व्यवहार में भी दिन-रात, घड़ी, पल, मास, ऋतु आदि विभाग काल के होते हैं। समय काल का अतिसूक्ष्म भेद है। जीव को तप, जप, यम, नियम, ईश्वरध्यान, करते हुये जैसे-जैसे योग्यता प्राप्त होती जाती है, वैसे-वैसे कालक्रम से जीवात्मा के पुण्यबल से ईश्वर की कृपा होती है। इसी प्रकार प्रधान-कर्म भी अनुक्रम से फल देने में अनुकूलभाव से प्रवृत्त होता है। परन्तु अगर सभी पदार्थों का स्वरूप एकान्त कूटस्थ-नित्य माना जाय तो क्रिया करने में जो कारणभूत पारिणामित्वभाव है वह नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुग्रह करने वाला, पाने वाला और अनुग्रहत्व भी असिद्ध होता है। इस प्रकार ईश्वर, जीव, प्रधान, कर्म आदि में असिद्धता प्राप्त होती है। इच्छा न होने पर भी अद्वैतवादी को अनेक स्वरूपता माननी ही पड़ती है, इसलिये परिणामित्वभाव मानना ही चाहिये ॥३१०॥

सर्वेषां तत्स्वभावत्वात् तदेतदुपपद्यते ।
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन, सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥३११॥

अर्थ : अगर सूक्ष्मबुद्धि से विचारे करें तो (ईश्वर, प्रधान, और अनुग्राह्य) का वैसा स्वभाव मानने से ही उनकी परिणामिकता सिद्ध होती है अन्यथा अतिव्याप्तिदोष आता है ॥३११॥

विवेचन : अगर सूक्ष्मबुद्धि से तत्त्व पर विचार करें तो ईश्वर, प्रधान और अनुग्राह्य इन सभी का वैसा अनुग्राहक, निवृत्ताधिकारित्व और अनुग्राह्य स्वभाव मानने पर ही ईश्वरानुग्रहादि घटित होता है अर्थात् परिणामित्व स्वभाव मानने पर ही सब सिद्ध होता है, अन्यथा अतिव्याप्ति दोष आता है ॥३११॥

आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्यापि संस्थिते
ईश्वरस्यापि सन्न्यायाद्, विशेषोऽधिकृते भवेत् ॥३१२॥

अर्थ : जीवात्माओं का अनुग्राह्य स्वभाव, प्रधान का निवृत्त अधिकारित्व स्वभाव सिद्ध होने पर ईश्वर का भी (अनुग्राहक स्वभाव) विशेष अधिकृत-तीर्थंकरादि रूप न्याययुक्त है ॥३१२॥

विवेचन : जीवात्मा, प्रधान और ईश्वर ये सभी अपना-अपना निश्चित स्वभाव रखते हैं। जैसे आत्मा का स्वभाव अनुग्राह्य है, प्रधान-कर्म का स्वभाव निवृत्ताधिकारित्व है और ईश्वर का स्वभाव अनुग्राहक है, यह तथ्य न्याय-तर्कयुक्त है। क्योंकि जब सभी का अपना-अपना स्वभाव है तो ईश्वर का अनुग्राहक स्वभाव विशेष तीर्थंकर एवं गणधर, मुण्डकेवली आदि रूप भी युक्ति सिद्ध है ॥३१२॥

सांसिद्धिकं च सर्वेषामेतदाहुर्मनीषिणः ।
अन्ये नियतभावत्वादन्यथा न्यायवादिनः ॥३१३॥

अर्थ : जैन मनीषी सभी के इस स्वभाव को सांसिद्धिक कहते हैं; अन्य-नियतिवादी नियति से ही सब कुछ होता है ऐसा मानते हैं, और न्यायवादी इससे अन्यथा (सांसिद्धिक स्वभाव से अलग) मानते हैं ।

अथवा

जैन मनीषी सभी के इस स्वभाव को सांसिद्धिक-सहज मानते हैं; अन्य-नियतिवादी नियति से और न्यायवादी इससे अन्यथा मानते हैं ॥३१३॥

विवेचन : जैन मनीषी मानते हैं कि जगत के सर्व पदार्थ अपने-अपने सांसिद्धिक-सहज निश्चित स्वभावानुसार विद्यमान हैं, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ सहज तौर पर परिणामिक स्वभाव में स्वगुण पर्याय में विद्यमान है, परस्वभाव में जाता नहीं है । जैन प्रत्येक पदार्थ की स्वयोग्यता को स्वीकार करते हैं जो सांसिद्धिक-आत्मसमकालीन मानी गई है ।

अर्थात् जैन लोग सभी पदार्थों में सांसिद्धिक स्वभाव (योग्यता) को स्वीकार करते हैं । नियतिवादी जगत की उत्पत्ति में केवल नियति को ही कारण मानते हैं । वे मानते हैं कि नियति से ही सब कुछ होता है । जगत के पदार्थ एक नियति-निश्चित जो भावीभाव है उसके अनुसार ही प्रवृत्ति करते हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी उस भावीभाव के आधार पर निश्चित होता है । नियतिवादी के मत को टीकाकार ने ऐसा दिया है :- यद् यदा, तद् तदा, यद् यत्र, तत्-तत्र, यद्येन तत्तेन, यद् यस्य, तद् तस्य, यद् भवति, तद् भवति, यत्र भवति, तत्र भवति ॥ जो जब होने वाला हो तभी होगा, अन्य काल में नहीं होता, जो वस्तु जिससे होने वाली हो उसी से बनती है, अन्य से नहीं। जिसके साथ सम्बंध होने वाला हो उसी से होता है अन्य से नहीं । इसी प्रकार शुभ-अशुभ जो भी जीव को प्राप्त होता है वह पहले निश्चित ही होता है, हजार उपाय करने पर भी वह अन्यथा नहीं होता । इस प्रकार वे नियति को ही बलवान मानते हैं । न्यायवादी इससे अन्यथा मानते हैं ॥३१३॥

सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा नोपपद्यते ।
योगिनो वा विजानन्ति, किमस्थानग्रहणेन नः ॥३१४॥

अर्थ : यह (नियतिवाद) भी सांसिद्धिक ही है इससे अन्यथा सिद्ध नहीं होता अथवा योगी ही (इस विषय को) यथार्थ जानते हैं; हमारा कदाग्रह (इसमें) व्यर्थ है ॥३१४॥

विवेचन : नियतिवाद की सिद्धि भी आत्मा के सांसिद्धिक-तथाप्रकार के सहज स्वभाव

से ही होती है । आत्मा के उस तथाप्रकार के सांसिद्धिक स्वभाव के बिना नियतिभाव कैसे घट सकता है ? उपर श्लोक में नियति का जो स्वरूप बताया है, वह आत्मा की भिन्न-भिन्न योग्यता के आधार पर ही नियत होता है, उसके बिना नहीं हो सकता । इसलिये सभी पदार्थों में सांसिद्धिक तथाप्रकार के सहज स्वभाव को ही मुख्य हेतु मानना उचित है, अथवा आत्मज्ञानी योगी ही इस विषय को अपनी दिव्यदृष्टि से यथार्थ जानते हैं, क्योंकि जो इन्द्रियों से प्रत्यक्ष न हो सके, ऐसे इन्द्रिय परोक्ष विषय में हमारे जैसों का कदाग्रह करना व्यर्थ हैं ॥३१४॥

अस्थानं रूपमन्धस्य, यथा सन्निश्चयं प्रति ।
तथैवातीन्द्रियं वस्तु, छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥३१५॥

अर्थ : जैसे अन्ध का रूपनिश्चय व्यर्थ है, वैसे ही छद्मस्थ के लिये अतीन्द्रियवस्तु का तत्त्वनिश्चय है ॥३१५॥

विवेचन : जो आँख से देख नहीं सकता, ऐसा अन्ध व्यक्ति, यह लाल है, यह पीला है, यह हरा या सफेद है, इसका निश्चय नहीं कर सकता क्योंकि उसके पास आँख ही नहीं है । इसलिये, उसके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है । आँख वाला ही रूप का निश्चय कर सकता हैं क्योंकि आँख का विषय रूप है । इसी प्रकार हमारे जैसे छद्मस्थ, दिव्य दृष्टि से हीन व्यक्ति, जिनके पास इन्द्रियों से परोक्ष ऐसे अगोचर विषयों को जानने की शक्ति नहीं; केवल मात्र इन्द्रियगोचर पदार्थों को ही देखने और जानने का अभिमान रखते हैं; वे इन्द्रिय अगोचर आत्मा, परमात्मा, कर्म आदि पदार्थों का तत्त्व निश्चय कैसे कर सकते हैं ? अर्थात् जैसे अन्ध व्यक्ति को रूप का बोध नहीं हो सकता वैसे ही छद्मस्थ व्यक्ति को इन्द्रिय अगोचर पदार्थों का वास्तविक-तात्त्विक निश्चय नहीं हो सकता । इसलिये ऐसे विषयों में आप्त-वचन प्रमाण मानना चाहिये ॥३१५॥

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं, तत एव कथञ्चन ।
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात्, तथाचन्द्रोपरागवत् ॥३१६॥

अर्थ : शास्त्र अन्धव्यक्ति के हस्त स्पर्श जैसा है, शास्त्र से ही छद्मस्थ व्यक्ति को (अगोचर-अतीन्द्रिय विषयों का) निश्चय चन्द्रग्रहणवत् (कुछ अंशों में) होता है ॥३१६॥

विवेचन : "**हस्तस्पर्शेन वस्तूपलब्धतुल्यम्**" हाथ के स्पर्श से वस्तु उपलब्ध तुल्य होती है । जैसे अन्धव्यक्ति को हाथ के स्पर्श से वस्तुओं का बोध कुछ अंशों में हो जाता है, कि इस वस्तु का यह आकार है, इतनी भारी अथवा हल्की है; कोमल है या कठिन है । वैसे ही इन्द्रिय और मन से जो जानी नहीं जा सकती; ऐसी आत्मा, कर्म, ईश्वर आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का कुछ अंश में निश्चय, छद्मस्थ को शास्त्र द्वारा हो जाता है । शास्त्र जो अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने में

चश्मे का काम देता है, वह मनुष्य के विशेष जाति अनुभवों में विशेष हेतु बनता है-सहायक बनता है। जैसे चन्द्र और सूर्य ग्रहण दूर होने पर भी पारदर्शक काँच से-अनुमान से राहु, सूर्य अथवा चन्द्र को कितने अंश में ग्रहण करके निगल गया है ? चन्द्रग्रहण कितने भाग में है ? आधेभाग में या चौथाई भाग में है ? इसका निश्चय होता है। वैसे ही शास्त्र द्वारा श्रद्धावंत छद्मस्थ को पारमार्थिक आत्मा, परमात्मा, कर्म आदि अगोचर वस्तुओं का निश्चय होता है। अर्थात् छद्मस्थ व्यक्ति शास्त्र में वर्णित उनके लक्षण, स्वभाव आदि का ज्ञान करके, उससे तत्त्वनिश्चय कर सकता है।

तात्पर्य यह है कि वैसे तो इन्द्रियगोचर विषयों का साक्षात्कार अनुभवगोचर है। कोई भी साधन अन्ध के हस्तस्पर्श जैसा वस्तु स्वरूप का बोध करा सकता है, केवल सहायक बन सकता है। वेद ने भी उपनिषदों में इसको "नेति-नेति" कहकर उसे अवर्णनीय बताया है। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी अपने अपूर्व अवसर में इसी बात को बताया है :-

जे पद श्रीसर्वज्ञे दीठुं ज्ञान मां,
कही शक्या नहि, ते पण श्री भगवान जो ।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहें,
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ।

शास्त्र कुछ अंश में जरूर सहायकरूप है पूर्णज्ञान तो अनुभव गोचर है ॥३१६॥

ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य, तद्गम्भीरेण चेतसा ।
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसङ्गतः ॥३१७॥

अर्थ : अतः सर्वत्र दुरभिनिवेष - दुराग्रह को छोड़कर, चित्त की गम्भीरता से, शास्त्र का जो सार है, वह इष्टार्थसंगत है या नहीं ? उसकी समालोचना करके, ग्रहण करना चाहिये ॥३१७॥

विवेचन : ग्रंथकार ने अन्तिम निर्णय कितना सुन्दर दिया है। सीमित अक्षरों में गागर में सागर भर दिया है। उन्होंने कहा है कि मन के सभी दुराग्रहों और पूर्वाग्रहों को छोड़कर, गम्भीर चित्त से शास्त्रों का जो सार है वह इष्टार्थसंगत अर्थात् इष्टार्थ-मोक्ष-उसके साथ संगत है या नहीं उसकी परीक्षा करके, ग्रहण करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि सभी शास्त्रों के अन्दर जो मामूली भेदभाव हों और जो मोक्ष प्राप्ति में अवरोध पैदा करते हों, उन्हें छोड़कर, मोक्षसंगत शास्त्र के सार को ग्रहण करना चाहिये क्योंकि लक्ष्य सभी का मोक्ष है। जो मोक्ष के अनुकूल हो उसे ही महत्त्व देना चाहिये ॥३१७॥

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे, युज्यते न्यायतः परम् ॥३१८॥

अर्थ : दैव और पुरुषार्थ दोनों तुल्य है, यह भी स्पष्ट है। इस प्रकार (परिणामित्वादि से) तत्त्व व्यवस्थित होने पर न्याय से यह घट जाता है ॥३१८॥

विवेचन : दैव जिसे सामान्य लोग प्रारब्ध, कर्म, नसीब, किस्मत, भाग्य आदि शब्दों से पुकारते हैं और पुरुषार्थ जो पुरुष-आत्मा का प्रयत्न है, दोनों आत्मा के ही गुणधर्म हैं। एक क्रिया रूप है तो दूसरा उसी का फल है। दोनों तुल्य बल वाले प्रत्यक्ष अनुभूत होते हैं, क्योंकि दोनों में परिणामित्वभाव रहा हुआ है। इस प्रकार दैव और पुरुषार्थ, ईश्वर और आत्मा सभी परिणामित्वभाव वाले पूर्व में व्यवस्थित रूप से सिद्ध होने पर जीवाजीवादिक सर्ववस्तु न्यायपूर्वक, द्रव्यस्वरूप से नित्य है और पर्यायरूप से अनित्य है यानि स्यादनित्यानित्य रूप है। परन्तु दूसरे प्रकार से एकान्त-नित्य या एकान्त-अनित्य नहीं हो सकती क्योंकि एकान्त नित्य या अनित्य मानने से वास्तविक सिद्धि नहीं होती ॥३१८॥

दैवं नामेह तत्त्वेन, कर्मैव हि शुभाशुभम् ।
तथा पुरुषकारश्च, स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥३१९॥

अर्थ : यहाँ शुभा-शुभ कर्म को ही वास्तव में 'दैव' नाम दिया है तथा सिद्धि-फल देने वाला जीवात्मा का स्व-व्यापार प्रयत्न ही पुरुषकार है ॥३१९॥

विवेचन : 'दैव' को चाहे कोई प्रारब्ध, कर्म, नसीब, किस्मत, भाग्य आदि नामों से पुकारें-परन्तु पूर्वकाल में, भूतकाल में या पूर्वजन्म में जीवों ने शुभ और अशुभ अध्यवसायों द्वारा वैसी शुभ और अशुभ क्रिया करके, जो कर्म बांधा हो उसे ही 'दैव' नाम दिया जाता है। क्योंकि 'दैव' का रूढ़ अर्थ शुभाशुभ अथवा प्रशस्त या अप्रशस्त-कर्म ही होता है। यही लोकमान्य अर्थ लेना यहाँ उचित है। परन्तु व्युत्पत्ति जन्य अर्थ-देवता की ओर से होने वाला अनुग्रह या अपग्रह अर्थ लेना यहाँ उचित नहीं है। इसी प्रकार जीवात्मा का इष्टार्थ-विवक्षितकार्यार्थ किया जाने वाला स्व-व्यापार रूप प्रयत्न ही पुरुषकार है।

यहाँ दोनों का ऐसा अर्थ ही लेना चाहिये, परिकल्पित अर्थ नहीं लेना चाहिये ॥३१९॥

स्वरूपं निश्चयेनैतदनयोस्तत्त्ववेदिनः ।
ब्रुवते व्यवहारेण, चित्रमन्योन्यसंश्रयम् ॥३२०॥

अर्थ : तत्त्ववेत्ता दैव और पुरुषकार के स्वरूप को निश्चयनय से पूर्वोक्त प्रकार से (तुल्यबल वाले कहते हैं) और व्यवहार नय से (दोनों को) भिन्न-भिन्न और परस्पराश्रित कहते हैं ॥३२०॥

विवेचन : पूर्व में जैसा कहा है कि दैव और पुरुषार्थ दोनों सर्व प्रवृत्ति में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार तुल्यबल वाले हैं और स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं ऐसा

निश्चयनय को मानने वाले तत्त्वज्ञ पुरुषों का कहना है। परन्तु जो तत्त्वज्ञ पण्डित व्यवहारनय का आलम्बन लेते हैं वे व्यवहारनय की दृष्टि से कर्म और पुरुषार्थ दोनों को चित्र स्वभाववाला अर्थात् भिन्न-भिन्न स्वभाववाला होने पर भी परस्पर आश्रित मानते हैं। तात्पर्य कि भिन्न- भिन्न स्वभाव होने पर भी एक दूसरे की सहायता से ही कोई भी कार्य सिद्ध करते हैं, अकेले नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है—जब पुरुषार्थ बलवान हो तब दैव की सत्ता होने पर भी पुरुषार्थ ही फल साधक होता है, दैव कमजोर होकर वहीं पर दबा रहता है और जब दैव बलवान हो तब पुरुषार्थ होने पर भी दैव ही अपना प्रभाव दिखाता है पुरुषार्थ असफल हो जाता है इस प्रकार अपनी स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न कार्यशक्ति रखते हुये भी परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं। सहायक है ॥३२०॥

न भवस्थस्य यत् कर्म विना व्यापारसम्भवः।
न च व्यापारशून्यस्य फलं स्यात् कर्मणोऽपि हि ॥३२१॥

अर्थ : भवस्थ-संसारी जीव को कर्म के बिना व्यापार सम्भव नहीं और व्यापारशून्य को कर्म का फल भी सम्भव नहीं है ॥३२१॥

विवेचन : संसारी जीव को अनेक प्रकार के सुख-दुःखों का अनुभव होता है। उसमें पुरुषार्थ और कर्म की ही मुख्यता और गौणता रही हुई हैं, क्योंकि जीव जैसा भी शुभाशुभ कर्म बांधता है, वह वैसे पुरुषार्थ-अर्थात् क्रियाकारित्वरूप व्यापार के बिना नहीं बांध सकता। मन से, वचन से, काया से क्रियारूप जो भी पुरुष प्रयत्न होता है; उसी से शुभाशुभ कर्म बनते हैं, और पूर्वसञ्चित कर्मों के फल की प्राप्ति भी उसी प्रकार की बुद्धि और व्यापार बिना सम्भव नहीं। इसीलिये श्री रामचन्द्रजी जैसे समर्थ महापुरुष असम्भव स्वर्ण मृग के पीछे भागते हैं क्योंकि अशुभकर्म का उदय था। कहा भी है **'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः'** अगर उनका अशुभ कर्मोदय न होता तो ऐसा न होता। लेकिन जब भाग्य विपरीत हो जाता है तब पुरुषार्थ करने पर भी अनुकूल फल की सिद्धि नहीं होती। अतः व्यवहारनय फल प्राप्ति में अकेले कर्म को अथवा अकेले पुरुषार्थ को कारणभूत न मानकर, परस्पर आश्रित मानता है। "एकेन चक्रेण न रथश्चलति" इसलिये फल प्राप्ति में दैव और उद्यम दोनों हेतु है। लोक में भी कर्म और पुरुषार्थ के सहयोग से फलप्राप्ति देखी जाती है। अकेला भाग्य भी कुछ नही कर सकता और अकेला पुरुषार्थ भी कुछ नही कर सकता। जब दोनों का सहयोग होता है, भाग्य भी हो और उसके अनुकूल पुरुषार्थ भी किया जाय तब ही मनुष्य को सफलता मिलती है ॥३२१॥

व्यापारमात्रात् फलदं, निष्फलं महतोऽपि च।
अतो यत् कर्म तद् दैवं, चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥३२२॥

अर्थ : (कभी-कभी किसी को) साधारण पुरुषार्थ भी फल देने वाला सिद्ध होता है और (दूसरे को) महान् प्रयत्न-पुरुषार्थ भी निष्फल सिद्ध होता है इसलिये (इसमें मुख्य कारण) जो नाना प्रकार का शुभाशुभ कर्म है, उसी को 'दैव' कहा जाता है ॥३२२॥

विवेचन : संसार में कर्म की यह विचित्रता जीवन में पद-पद पर अनुभव की जाती है। एक व्यक्ति बहुत साधारण पुरुषार्थ करता है परन्तु सफलता उसके पद चूमती है, अल्प प्रयत्न भी उसे फल देने वाला होता है। जब कि दूसरा व्यक्ति महान् परिश्रम करता है, बुद्धि और शक्ति का उपयोग करता है, दिन-रात एक कर देता है परन्तु फिर भी वह अपने क्षेत्र में सफल नहीं होता। एक व्यक्ति अपनी वाणी द्वारा लोकप्रिय बनता है और दूसरे का बोलना भी अच्छा नहीं लगता। संसार की इस विचित्रता को देखकर, अनुभव होता है कि इसमें जरूर कोई अदृश्य कारण विद्यमान है। और उस अदृश्य कारण को ही 'दैव' या 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है जो नाना प्रकार का है और शुभ-अशुभ रूप है। इस प्रकार ऐसी स्थिति में पुरुषार्थ से 'दैव' अधिक बलवान हो जाता है।

जातिचातुर्यहीनोऽपि कर्माण्यभ्युदयात् हे ।
क्षणाद्रङ्कोऽपि राजा स्यात्, छिन्नछत्रदिगन्तरः ॥

रंक-भिक्षुक जैसी निम्न स्थिति में उत्पन्न होने वाला, बुद्धि, चातुर्य, रूप, गुण हीन होने पर भी, हाथ, पैर आदि अंग पूर्ण और सुन्दर न होने पर भी; पुण्यकर्म के शुभोदय से छत्र, चामर आदि राज्यचिह्न की विभूति से युक्त, दस दिशाओं में जिसकी आज्ञा प्रवर्त रही है, ऐसे बल से युक्त चक्रवर्ती राजा के समान बन जाता है। इसमें बाह्य कोई प्रयत्न पुरुषार्थ तो कुछ दिखाई नहीं देता। इसलिये यहाँ कर्म का ही बलवान प्रभाव मानना चाहिये। अतः कभी-कभी कर्म-दैव ही अतिबलवान हो जाता है ॥३२२॥

एवं पुरुषकारस्तु, व्यापारबहुलस्तथा ।
फलहेतुर्नियोगेन, ज्ञेयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥३२३॥

अर्थ : इसी प्रकार पुरुषार्थ भी व्यापार बहुल (कर्म की अपेक्षा से अधिक बलवान) होता है और जन्मान्तर में भी निश्चित ही वह फल का हेतु होता है।

अर्थात् इसी प्रकार पुरुषार्थ भी व्यापार बहुल (नाना प्रकार का) है और जन्मान्तर में निश्चित ही फल देता है ॥३२३॥

विवेचन : जैसे पूर्व में कर्म की बलवत्ता बताई है, वैसे ही यहाँ पुरुषार्थ को भी कर्म की अपेक्षा से बलवान बताया है। अर्थात् कर्म-दैव की भाँति कभी-कभी पुरुषार्थ भी बलवान बन जाता है और दैव कमजोर रह जाता है। कभी-कभी पुरुषार्थ तो इतना बलवान हो जाता है कि

वह इस लोक में तो फल को देता ही है व दूसरे जन्म में भी वह अपना शुभाशुभ फल दिखाये बिना नहीं रहता ॥३२३॥

अन्योन्यसंश्रयावेवं, द्वावप्येतौ विचक्षणैः ।
उक्तावन्यैस्तु कर्मैव, केवलं कालभेदतः ॥३२४॥

अर्थ : इस प्रकार इन दोनों (दैव और पुरुषार्थ) को विद्वानों ने परस्पराश्रित माना है; अन्य (सांख्यवादियों) ने कालभेद से केवल कर्म को ही माना है ॥३२४॥

विवेचन : इस प्रकार व्यवहार नय से विद्वानों ने दैव और पुरुषार्थ को अन्योऽन्याश्रित माना है। दोनों का परस्पर आश्रय-आश्रयीभाव है। कर्म पुरुषार्थ की सहायता से फल देता है और पुरुषार्थ, कर्म की सहायता से फल देता है। अर्थात् कर्म से जिस फल की प्राप्ति होने वाली हो उसमें पुरुषार्थ निमित्त कारण होता है और पुरुषार्थ से होने वाली कार्य सिद्धि में कर्म निमित्त कारण होता है। परन्तु अन्य सांख्यवादी कालभेद से केवल कर्म को ही फल प्राप्ति में निमित्त कारण मानते हैं। वे मानते हैं कि जैसे जैन लोग मोक्ष प्राप्ति में काल की परिपक्वता को मानते हैं, वैसे ही सर्वकार्यों में काल के अनुसार पुरुषार्थ और कर्म अनुकूल या प्रतिकूल रूप से बाध्य-बाधक-भाव को प्राप्त होते हैं। अर्थात् किसी समय कर्म बलवान, कभी पुरुषार्थ बलवान होता है वह सब काल के कारण होता है। कालानुसार ही कर्म फल देता है और काल के अनुसार ही कर्म नाश भी हो जाता है॥३२४॥

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम् ।
स्मृतः पुरुषकारस्तु, क्रियते यदिहापरम् ॥३२५॥

अर्थ : स्वयंकृत पौर्वदेहिक कर्म को 'दैव' जानना चाहिये और इस भव में जो क्रिया व्यापार किया जाता है वह पुरुषार्थ कहा जाता है ॥३२५॥

विवेचन : पूर्वदेह में अर्थात् पूर्वजन्म में जीवात्मा स्वयं मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोगों से अथवा शुभ अध्यवसायों द्वारा जो-जो भी अशुभ या शुभ कर्म बान्धता है उसे 'दैव' समझना चाहिये अथवा कई उसे अदृष्ट भी कहते हैं। और इस भव में — इस जन्म में जो भी क्रिया व्यापार किया जाता है, प्रयत्न किया जाता है वह पुरुषार्थ कहा जाता है।

संक्षेप में पूर्वभव में आत्मा द्वारा किया गया शुभा-शुभ प्रयत्न 'दैव' है, और इस भव में जो आत्मा का सत्प्रयत्न है वह पुरुषार्थ कहा जाता है ॥३२५॥

नेदमात्मक्रियाभावे, यतः स्वफलसाधकम् ।
अतः पूर्वोक्तमेवेह, लक्षणं तात्त्विकं तयोः ॥३२६॥

अर्थ : क्योंकि यह (कर्म) जीव के निजी पुरुषार्थ रूप क्रिया-व्यापार के बिना अपना फल देने में समर्थ नहीं; इसलिये दोनों (दैव और पुरुषार्थ) का यहाँ पूर्वोक्त लक्षण (अन्योऽन्याश्रितम्) ही तात्त्विक-वास्तविक है ॥३२६॥

विवेचन : पूर्व में दैव और पुरुषार्थ दोनों का जो लक्षण बताया है कि दोनों अन्योऽन्याश्रित स्वभाव वाले हैं, वही युक्त है क्योंकि कर्म और पुरुषार्थ दोनों एक दूसरे के उपकारक हैं। कर्म के बिना, पुरुषार्थ अकेला अपना फल नहीं दे सकता और कर्म भी अकेला कार्यसिद्धि में सफल नहीं हो सकता, उसे भी पुरुषार्थ कर्म की अपेक्षा रहती है। इसलिये पूर्वोक्त लक्षण ही उपयुक्त है ॥३२६॥

दैवं पुरुषकारेण, दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चैषोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥३२७॥

अर्थ : क्योंकि दुर्बल दैव (बलवान) पुरुषार्थ से उपहत-नष्ट हो जाता है और पुरुषार्थ भी (अगर दुर्बल हो तो) (बलवान) दैव से नष्ट हो जाता है, इससे अन्यथा नहीं घटित नहीं होता।

अथवा

क्योंकि दुर्बल दैव बलवान पुरुषार्थ से उपहत होता है और पुरुषार्थ भी बलवान दैव से उपहत होता है, इससे अन्यथा नहीं घटित नहीं होता ॥ ३२७ ॥

विवेचन : अगर 'दैव' दुर्बल कमजोर हो तो बलवान पुरुषार्थ से नष्ट हो जाता है। जैसे उपदेशपद में यह बात प्रसिद्ध है कि ज्ञानगर्भित एक महान मन्त्री ने, जब उनके कुटुम्बी-स्वजन को अशुभ कर्मोदय के योग से, वध-फांसी का प्रसंग उपस्थित हुआ तब उन्होंने अपनी उत्तमबुद्धि द्वारा किये गये महान् पुरुषार्थ द्वारा उस अशुभ कर्मोदय के बल को हटाकर या दबाकर, स्वयं को और अपने कुटुम्बियों को वध-फांसी के प्रसंग में से बचा लिया। इस प्रकार यहाँ दुर्बल दैव, महान् पुरुषार्थ से उपहत हुआ और इसी प्रकार जब दैव बलवान हो तो वह पुरुषार्थ को असफल बना देता है नष्ट कर देता है। जब द्वारका नगरी का अशुभकर्मोदय योग से जलने का प्रसंग उपस्थित हुआ, तब बलभद्र और श्रीकृष्ण जैसे समर्थ महापुरुषों का अथाह पुरुषार्थ होने पर भी वे उसे नहीं बचा सके। इस प्रकार जब कर्म बलवान होता है तब पुरुषार्थ भी हतप्रायः हो जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थ भी कर्म की बलवान सत्ता के नीचे नष्ट हो जाता है और जब पुरुषार्थ का बल बढ़े तो कर्म उससे नष्ट हो जाता है। इस प्रकार फल देने में दोनों तुल्य बल वाले नहीं होते या कर्म बलवान होता है या पुरुषार्थ बलवान होता है। ऐसे ही वस्तुतत्त्व घटित होता है, इसके विपरीत नहीं (अन्यथा में अनेक दोषापत्ति है) ॥३२७॥

कर्मणा कर्ममात्रस्य, नोपघातादि तत्त्वतः ।
स्वव्यापारगतत्वे तु, तस्यैतदपि युज्यते ॥३२८॥

अर्थ : वस्तुतः केवल कर्म से कर्ममात्र का विनाश-उन्मूलनादि, उपघात-अनुग्रहादि नहीं हो सकता। आत्मा के व्यापार रूप पुरुषार्थ का सम्बंध होने पर ही इसका (कर्म का) यह परस्पर उपघातादि घटित हो सकता है ॥३२८॥

विवेचन : अकेले कर्म में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि वह अकेला किसी को अनुग्रहीत कर सके या निग्रहीत कर सके, क्योंकि वह जड़ है-असहाय है। अकेला कर्म पूर्वसञ्चित कर्म का नाश नहीं कर सकता, जीव व्यापाररूप पुरुषार्थ उस के साथ में जरूरी है। जीव के पुरुषार्थ का सम्बंध होने पर ही कर्म का जो परस्पर सापेक्षत्वरूप सम्बंध है अर्थात् इनका जो बाध्य-बाधक भाव (जैसा कि श्लोक ३०५ में बताया है) सम्भव है, और (श्लोक ३०७) में जो फल सिद्धि कही है वह इनके इस बाध्य-बाधक भाव की ही सिद्धि समझनी चाहिये।

तात्पर्य यह है कि अकेले कर्म से पूर्वसञ्चित कर्म का निर्मूलन हो नहीं सकता उसमें जीव व्यापाररूप पुरुषार्थ जरूरी है। दोनों का सापेक्षत्व सम्बंध है। पुरुषार्थ बिना कर्म अधूरा है और कर्म बिना पुरुषार्थ लंगड़ा है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ॥३२८॥

उभयोस्तत्स्वभावत्वे, तत्तत्कालाद्यपेक्षया ।
बाध्यबाधकभावः स्यात्, सम्यग्न्यायाऽविरोधतः ॥३२९॥

अर्थ : दोनों (कर्म और पुरुषार्थ) का अपना निजी स्वभाव होने पर भी कालादि की अपेक्षा से बिना विरोध के बाध्य-बाधक भाव युक्ति पूर्वक घटित होता है ॥३२९॥

विवेचन : दैव और पुरुषार्थ दोनों आत्मगत वस्तुएँ हैं, आत्मा के तथाप्रकार के योग से उत्पन्न हुई है, फिर भी दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। कर्म पुद्गल का स्वभाव, उदयकाल प्राप्त होने पर आत्मा के शुभाशुभ कर्म-विपाकों के फल रूप-सुख-दुःख देता है, और पुरुषार्थ का स्वभाव, आत्मवीर्य के साथ शुभाशुभ-विचारानुसार कर्म का घात-नाश करने में या नया कर्म बान्धने में सहायक होता है। इस प्रकार भिन्न स्वभावी होने पर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अनुकूलता के अनुसार जहाँ कर्म का उदय बलवान हो, वहाँ पुरुषार्थ बाधित हो जाता है, अर्थात् फल देने में असमर्थ हो जाता है और जहाँ पुरुषार्थ बलवान हो और दैव दुर्बल हो वहाँ दैव बाधित हो जाता है और पुरुषार्थ बाधक बन जाता है अतः बिना किसी विरोध के युक्ति पूर्वक दोनों का परस्पर बाध्य-बाधक भाव घटित हो जाता है। अतः यहाँ एकान्त कदाग्रह का त्याग करना चाहिये, सत्यअन्वेषक दृष्टि रखनी चाहिये ॥३२९॥

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात् कर्तृ-कर्मणोः ।
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्क्टुपाकवत् ॥३३०॥

अर्थ : कर्ता और कर्म (दोनों) का वह स्वभाव प्रतिनियत-निश्चित होने से ही फल सिद्धि होती है अन्यथा कोड़कु-कल्लु (जो मूंग पकाने पर भी पके नहीं) को पकाने की भांति फल की सिद्धि ही नहीं हो सके ॥३३०॥

विवेचन : वस्तुतः कर्ता और कर्म का वैसा बाध्य-बाधक स्वभाव प्रतिनियत-निश्चित होने से ही फल की सिद्धि होती है। यदि ऐसा न माने, तो जैसे कोड़कु-मूंग को पकाने का प्रत्यन व्यर्थ सिद्ध होता है; वैसे ही कर्म और कर्ता-पुरुषार्थ कार्यसाधक नहीं हो सकते ।

अर्थात् कर्म और पुरुषार्थ में बाध्य-बाधक स्वभाव सिद्ध होने पर कर्ता-आत्मा तथा क्रिया से उत्पन्न कर्म और पुरुषार्थ आदि अपने-अपने नियत स्वभाव में विद्यमान होने के कारण जहाँ परस्पर बाध्य-बाधकता हो, वहाँ वैसा फल प्राप्त होता है। जैसे पाचक-रसोइये के पुरुषार्थ से रसोई-रसवती की सिद्धि होती है अर्थात् पूर्वकर्म की अनुकूलता से पुरुषार्थ का सहयोग होने पर वस्तुतत्त्व-फल की प्राप्ति होती है । इससे विरुद्ध जहाँ कर्म और पुरुषार्थ परस्पर बाध्य-बाधक न हो वहाँ फल की प्राप्ति नहीं होती । अगर ऐसा बाध्य-बाधक भाव न हो तो कर्ता का पुरुषार्थ पाक में अयोग्य कोडकुमूंग को भी पाचक पचा सके, परन्तु ऐसा कभी होता नहीं । बाधक कर्मरूप कोड़कु, रसोइये के पुरुषार्थ से पकाजाना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होता । यहाँ नन्दिषेण का दृष्टान्त है । वैराग्य से चारित्र लेकर कठिन तपरूप, उग्र पुरुषार्थ करने पर भी पूर्व में बांधे हुये भोगावली कर्मों का वह नाश नहीं कर सका । कर्मों के बलवान उदय से चारित्र छोड़कर, १२ वर्ष वेश्या के घर में उसे रहना पडा, यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है । इसलिये जहाँ कर्म का बल हो, वहाँ पुरुषार्थ असफल हो जाता है ॥३३०॥

विचित्र (सुख-दुःखादि) फल के प्रति अगर कर्म का अनियतभाव माने; तो वह (कर्म) या (बाध्य-बाधक भाव में) दारु-लकड़ी की प्रतिमा योग्यता जैसा बाध्य भाव वाला हैं ॥३३०॥

कर्मानियतभावं तु, यत् स्याच्चित्रं फलं प्रति ।
तद् बाध्यमत्र दार्वादिप्रतिमायोग्यतासमम् ॥३३१॥

अर्थ : कर्म और पुरुषार्थ को नियत स्वभाव वाला न माने तो लकड़ी में योग्यता होने पर भी, पुरुषार्थ के अभावरूप बाधक होने पर भी प्रतिमा निष्पन्न होनी चाहिये, परन्तु नहीं होती ॥३३१॥

विवेचन : ग्रंथकार ने यहाँ कर्म और पुरुषार्थ दोनों के परस्पर बाध्य-बाधक भाव को दृष्टान्त देकर, विस्तृत रूप से समझाने का प्रयत्न किया है। जैसे काष्ठ विशेष में प्रतिमा योग्यता अर्थात्

उस काष्ट से प्रतिमा निर्मित हो सकती है, ऐसी उसमें योग्यता है, परन्तु शिल्पी के पुरुषार्थ की उसमें अपेक्षा रहती है। उसके पुरुषार्थ के बिना, योग्यता होने पर भी प्रतिमा तैयार नहीं हो सकती। इसी प्रकार कर्म में विचित्र फल-नाना प्रकार के सुख-दुखादि फल देने की योग्यता है, परन्तु पुरुषार्थ विशेष के बिना फल प्रकट नहीं हो सकता। इसलिये कर्म बाध्य है - अव्यक्त है और पुरुषार्थ बाधक है - फल लाने में समर्थ है। इसी प्रकार जब काष्ट से प्रतिमा निर्मित हुई तब प्रतिमा काष्ट योग्यता की बाधक और योग्यता बाध्य हुई। इसीलिये कर्म जो विचित्रफल पैदा करने की योग्यता वाला है उसे प्रतिमा योग्यता जैसा कहा है। जब पुरुषार्थ के सहयोग से काष्ट से प्रतिमारूप परिणाम प्रकट होता है, तब कर्म का बाध होकर, पुरुषार्थ बाधक बनता है। इस प्रकार कर्म और पुरुषार्थ का बाध्य-बाधकभाव युक्ति पूर्वक घटित होता है। कर्म को पुरुषार्थ की सहायता जरूरी है और पुरुषार्थ को कर्म का बल जरूरी है। इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक बनकर, फलविशेष को पैदा करते हैं, अकेला कोई भी कुछ नहीं कर सकता। अतः दोनों का अपना-अपना नियत स्वभाव-योग्यता मानना जरूरी है ॥३३१॥

नियमात् प्रतिमा नात्र, न चातोऽयोग्यतैव हि।
तल्लक्षणनियोगेन, प्रतिमेवास्य बाधकः ॥३३२॥

अर्थ : अवश्य काष्ठ में प्रतिमा नहीं क्योंकि उसमें अयोग्यता है, ऐसा भी नहीं (कह सकते) उसके लक्षण-नियोग से प्रतिमा ही उसकी बाधक है ॥३३२॥

विवेचन : निसन्देह, काष्ठ में प्रतिमा भले स्पष्ट रूप से दिखाई न दे, परन्तु उसमें प्रतिमा बनने की योग्यता का हम निषेध नहीं कर सकते, क्योंकि योग्यता उसमे विद्यमान है। प्रतिमा न बनने में जो बाधक है, वह शिल्पी के पुरुषार्थ का अभाव है। इसीलिये यह योग्यता रूपी क्रिया पुरुषार्थ के अभाव से बाध्यभाव में रही हुई है, और प्रतिमा इस (योग्यता) की बाधक है। इसी प्रकार आत्मा में कर्मरूप पुद्गल बाध्यभाव से रहे हुये है और पुरुषार्थ बाधक भाव से विद्यमान है। लेकिन जब तक आत्मा आत्मस्वरूप प्रकट करने वाला बलवान पुरुषार्थ प्रकट न करे, तब तक कर्म बाधक बनकर, आत्मस्वरूप को ढंकते हैं; आत्मस्वरूप को विकृत बनाते हैं; विपरीत परिणाम लाते हैं; परन्तु जब आत्मा जाग्रत होकर, कर्मदल को नष्ट करने का दृढ़निश्चयात्मक उत्कृष्ट पुरुषार्थ करता है तब बाधक बना हुआ वह कर्मदल बाध्य बन जाता है। इस प्रकार पुरुषार्थ कर्मरूप बाध्य का बाधक अर्थात् नाश करने वाला होता है ॥३३२॥

दार्वादेः प्रतिमाक्षेपे, तद्भावः सर्वतो ध्रुवः।
योग्यस्यायोग्यता चेति, न चैषा लोकसिद्धितः ॥३३३॥

अर्थ : काष्ठादि से ही प्रतिमा की निष्पत्ति मानने पर निश्चित ही उसकी (प्रतिमा की) प्राप्ति सर्वत्र होगी और योग्य की अयोग्यता (सिद्ध) होगी, जो लोक प्रसिद्ध नहीं ॥३३३॥

विवेचन : यदि कोई ऐसा माने कि कर्म और पुरुषार्थ के परस्पर सापेक्षभाव को मानने की जरूरत नहीं। काष्ट स्वयं अपनी योग्यता से ही प्रतिमा का निर्माण कर लेगा। तो ऐसा मानना उचित नहीं, क्योंकि अगर सापेक्षभाव न स्वीकारें और ऐसा माने कि काष्ठ ही अपनी योग्यता से प्रतिमा बना सकेगा तो सर्वत्र जहाँ-जहाँ भी काष्ट का टुकड़ा होगा; सभी की प्रतिमा बन जानी चाहिये। क्योंकि उसमें योग्यता विद्यमान है, उसकी योग्यता का निषेध नहीं किया जा सकता। परन्तु सर्वत्र ऐसी प्रतिमा निष्पत्ति नहीं होती, तो योग्य काष्ठ में भी अयोग्यता स्वीकारनी पड़ेगी, जो लोक प्रसिद्ध नहीं है। अतः लोकप्रसिद्धि से विरुद्ध-अनुभव विरुद्ध, काष्ट से स्वतः प्रतिमा निष्पत्ति स्वीकारना अनुचित है। इसलिये योग्यता के साथ पुरुषार्थ भी जरूरी है ॥३३३॥

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे, दानादौ भावभेदतः।
फलभेदः कथं नु स्यात्, तथा शास्त्रादिसङ्गतः ॥३३४॥

अर्थ : कर्म के उपर भी ऐसा आक्षेप करने पर अर्थात् कर्म में पुरुषार्थ उत्पन्न करने की शक्ति स्वीकारने पर दानादि में भावभेद से जो शास्त्रसम्मत फलभेद होता है वह कैसे घटित हो ? ॥३३४॥

विवेचन : इसी प्रकार यदि अकेले कर्म-प्रारब्ध से ही पुरुषार्थ से उत्पन्न फल की उत्पत्ति होती हो अर्थात् फलोत्पत्ति में केवल कर्म को ही निमित्त माने; पुरुषार्थ को न माने तो दान, शील, तप आदि में भावना की तारतम्यता से जो लोकप्रतिष्ठ और शास्त्रसम्मत फलभेद होता है वह कैसे घटित होगा ? अर्थात् नहीं घटित होता। तात्पर्य यह है कि एक ही शुभ या अशुभ कार्य को तीन व्यक्ति करते हैं, परन्तु तीनों को उनकी भावना की उत्कृष्टता या निकृष्टता की तारतमश्रेणी के अनुसार अलग-अलग फल मिलता है। यह जो फलों में भेद पड़ता है वह व्यक्ति के अध्यवसाय, भावनारूप पुरुषार्थ मय परिणाम की धारा विशेष के उपर निर्भर है। ऐसा लोक में भी देखा जाता है और शास्त्र में भी वर्णित है। "पुरुषार्थ के बिना अकेला कर्म फल देने में समर्थ है" ऐसा मानने पर फल की विचित्रता घटती नहीं और एकरूपतादोष आता है, जो लोक और शास्त्र विरुद्ध है। अगर कोई कहे कि शुभाशुभ कर्म के कारण फल में भेद हो सकता है; तो वह शुभाशुभ कर्म भी पूर्वजन्म के पुरुषार्थ से ही पैदा होते हैं। इसलिये इनका मूल तो पुरुषार्थ ही है। उसके बिना अकेला कर्म फल देने में असमर्थ है ॥३३४॥

शुभात् ततस्त्वसौ भावो, हन्तायं तत्स्वभावभाक्।
एवं किमत्र सिद्धं स्यात्, तत एवास्त्वतो ह्यदः ॥३३५॥

अर्थ : यदि ऐसा कहो कि शुभाशुभ कर्म से यह (भिन्न-भिन्न) (कर्मका) स्वभाव है। इससे क्या सिद्ध हुआ ? (तो कहते हैं) भाव (पुरुषार्थ) से कर्म की उत्पत्ति और कर्म से भाव (पुरुषार्थ) की उत्पत्ति होती है ॥३३५॥

विवेचन : पूर्व में भिन्न-भिन्न निमित्तों से तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के भावों से जो भी शुभाशुभ कर्म बांधा हो; उन कर्मों से पैदा होने वाले भिन्न-भिन्न अध्यवसायों द्वारा किये गये दान, शील, तप आदि की प्रवृत्ति बाहर से तुल्य होने पर कर्म की भिन्नता अर्थात् फल में भेद पड़ता है, वह फलभेद परिणाम-भाव से पड़ता है। परन्तु कर्म तो तुल्य था अतः फल में भी तुल्यसदृशता आनी चाहिये। नहीं आती, इसलिये कहना पड़ता है, उसमें रहा हुआ जो भावरूप परिणाम है वह वैसा विभिन्न फल देने में समर्थ है इसलिये परिणाम-भाव रूपी पुरुषार्थ उसमें रहा हुआ है; सो इस प्रकार के स्वरूप वाला वह पुरुषार्थ है। कर्म में जो भावरूप से विद्यमान है वह पुरुषार्थ है। इसलिये दोनों का सहयोग इष्ट फल को सिद्ध करता है। अतः पुरुषार्थ कर्म से और कर्म पुरुषार्थ से सफल होता है। इस प्रकार कर्म और पुरुषार्थ सापेक्षधर्म वाले हैं। इसमें परवादी पूछता है कि इसमें इष्ट कौन सी वस्तु की सिद्धि हुई, तो कर्म और पुरुषार्थ की विचारणा में यही सिद्ध हुआ कि पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से शुभाशुभ भाव पैदा होता है और शुभाशुभ भावों से शुभाशुभ कर्म बनते हैं, इस प्रकार परम्परा से वे एक दूसरे के कारण और कार्य होते हैं। ऐसी ही उनकी अनादिकालीन स्थिति है ॥३३५॥

तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि, तत्स्वभावत्वसंस्थितौ ।
भवत्येवमिदं न्यायात् तत्प्राधान्याद्यपेक्षया ॥३३६॥

अर्थ : इस प्रकार तत्त्व यह निकला कि दोनों (कर्म और पुरुषार्थ) के अपने-अपने स्वभाव में स्थिरता होने पर भी, एक दूसरे की प्रधानता और गौणता की अपेक्षा से यह (परस्पर बाध्य-बाधक स्वभाव) न्याय पुरस्सर है ॥३३६॥

विवेचन : कर्म और पुरुषार्थ सम्बन्धी इतनी विचारणा के पश्चात् तत्त्व यह सिद्ध हुआ कि कर्म और पुरुषार्थ सापेक्षभावी और बाध्य-बाधक स्वभाव वाले हैं। लेकिन उसका तात्पर्य यह नहीं कि दोनों में से एक का अस्तित्व है और दूसरे का नहीं, क्योंकि कर्म और पुरुषार्थ दोनों अपना निजी स्वतन्त्र नियत स्वभाव रखते हैं। दोनों की अपनी-अलग अलग प्रवृत्ति होती है। वे अपने ही स्वभाव में प्रवृत्ति करते है, दूसरे के स्वभाव-स्वरूप को धारण नहीं करते। अर्थात् कर्म पुरुषार्थ नहीं बनता और पुरुषार्थ कर्मरूप मे नहीं होता। इस प्रकार अपने-अपने स्वभाव में निश्चित-नियत होने पर भी परस्पर-एक दूसरे की प्रधानता और गौणता के कारण बाध्य-बाधक भाव वाले हैं। अर्थात् अपना स्वतन्त्र स्वभाव रखने पर भी जब पुरुषार्थ बलवान होता है तो कर्म गौण हो जाता

है और जब कर्म प्रधान होता है पुरुषार्थ असफल और गौण हो जाता है। जो बलवान है वह दुर्बल को दबा देता है, इस न्याय से दोनों का प्रधान-गौण भाव अथवा कार्य-कारणभाव अपेक्षा से न्याययुक्त है ॥३३६॥

एवं च चरमावर्ते, परमार्थेन बाध्यते ।
दैवं पुरुषकारेण, प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा ॥३३७॥

अर्थ : इस प्रकार चरमपुद्‌गलपरावर्तन काल में पारमार्थिक उत्कृष्ट पुरुषार्थ से प्रायः दैव बाधित होता है और अन्य काल में (अचरमावर्तकाल में) इससे विपरीत होता है (पुरुषार्थ कर्म से बाधित होता है) ॥३३७॥

विवेचन : कर्म और पुरुषार्थ का परस्पर बाध्य-बाधक स्वभाव सिद्ध होने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस समय कौन बलवान और कौन दुर्बल होता है ? ग्रंथकार यह बताते है कि चरम पुद्‌गलपरावर्तन काल में आत्मा के ऊपर कर्मों का जोर कम हो जाता है; कर्म प्रायः निर्बल हो जाते हैं और पुरुषार्थ की शक्ति बढ़ जाती है; इसलिये इस काल में उत्कृष्ट बलवान पुरुषार्थ से कर्म हत हो जाते हैं, प्रायः बाधित हो जाते हैं। 'प्रायः' शब्द से ग्रंथकार यह सूचित करना चाहते हैं कि यद्यपि इस काल में पुरुषार्थ, कर्म को बाध्य करता है परन्तु कभी-कभी पुरुषार्थ भी कर्म से बाधित हो जाता है। जैसे नन्दिषेण का दृष्टान्त है। उसके भोगावली कर्म बलवान और निकाचित थे; भोग किये बिना, उनसे छुटकारा पाना असम्भव था। परम पुरुषार्थरूप कठिन तप-जप करने पर भी उसे आखिर में चारित्र छोड़कर, वेश्या के घर पर रहना पड़ा। सो यहाँ चरमावर्तकाल में भी कर्म से पुरुषार्थ हत हो गया। अतः कभी-कभी इसके विपरीत अर्थात् कर्म से पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। परन्तु सामान्य नियम यह है कि चरमावर्त में पुरुषार्थ से कर्म बाध्य होता है, और पुरुषार्थ बाधक होता है और अचरमावर्त में आत्मा पर कर्मों का प्राबल्य होने से प्रायः कर्म से पुरुषार्थ बाध्य होता है और कर्म बाधक बन जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि चरमावर्त में कर्म का जोर घट जाता है, इसलिये पुरुषार्थ सफल हो जाता है और अचरमावर्त में कर्म बलवान होते हैं इसलिये वहाँ पुरुषार्थ हार जाता है ॥३३७॥

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया ।
सूक्ष्मबुद्ध्याऽवगन्तव्यं, न्यायशास्त्राविरोधतः ॥३३८॥

अर्थ : इस प्रकार व्यवहारनय और निश्चयनय की अपेक्षा से, सूक्ष्म बुद्धि से विचारने पर, इन दोनों (कर्म और पुरुषार्थ) का तुल्यबल, युक्ति-न्याय पुरस्सर है। (अर्थात् न्यायशास्त्र का भी इसमें विरोध नहीं होता) ॥३३८॥

विवेचन : निश्चयनय की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ दोनों अपने-अपने कार्यकाल में प्रधान है; इसलिये दोनों समान बल वाले हैं । और व्यवहारनय की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ फलोत्पत्तिकाल में परस्पर सापेक्ष, अन्योऽन्याश्रित और बाध्य-बाधक भाव वाले हैं अथवा प्रधान-गौण भाववाले हैं, इसलिये तुल्य हैं । इसलिये सूक्ष्म बुद्धि से विचारने पर दोनों का तुल्यबल न्यायपुरस्सर है - युक्तिपूर्वक सिद्ध है ॥३३८॥

एवं पुरुषकारेण, ग्रन्थिभेदोऽपि संगतः ।
तदूर्ध्वं बाध्यते दैवं, प्रायोऽयं तु विजृम्भते ॥३३९॥

अर्थ : इस प्रकार पुरुषार्थ से ग्रंथिभेद भी संगत सिद्ध हुआ, (क्योंकि ग्रंथीभेद के पश्चात्काल में) बाद में प्रायः दैव प्रतिहत होता है और पुरुषार्थ तो फलता-फूलता है ॥३३९॥

विवेचन : शास्त्र में जो कहा है कि 'चरमावर्तकाल में पुरुषार्थ से कर्मग्रंथी का भेद हो जाता है' वह शास्त्रवचन भी इस प्रकार युक्ति पूर्वक घटित होता है क्योंकि अन्तिमपुद्गलपरावर्तन काल में जीव की परिणामधारा और भावना में विलक्षण-अपूर्व परिवर्तन होता है, और पुरुषार्थ का बल बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ जाता है कि वह कर्मों की ग्रंथिओं को भेदकर, कर्मों की गाढ़ शक्ति को उपहत-नष्ट कर देता है । उस समय कर्म पुरुषार्थ से बाध्य हो जाते हैं । ग्रंथीभेद के पश्चात् तो ऐसा समय आता है कि पुरुषार्थ तो प्रायः सत्ताधीश होकर, सर्वत्र अपने प्रभाव से सबको प्रभावित करता है और कर्म तो मृतप्रायः हो जाता है । इसीलिये ग्रंथकार ने कहा है कि पुरुषार्थ प्रायः फलता फूलता है और दैव पुरुषार्थ से हत हो जाता है । ग्रंथीभेद के पश्चात् कर्म और पुरुषार्थ की ऐसी स्थिति होती है ॥३३९॥

अस्यौचित्यानुसारित्वात्, प्रवृत्तिर्नासती भवेत् ।
सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद्, ध्रुवः कर्मक्षयो यतः ॥३४०॥

अर्थ : इसकी (भिन्नग्रंथी आत्मा की) प्रवृत्ति औचित्यानुसारित्व, (उचितानुचित में से उचित प्रवृत्ति को अनुसरण करने का स्वभाव उस समय बंध जाने के कारण) असत्प्रवृत्ति नहीं होती; निश्चित ही सत्प्रवृत्ति होती है और इसी कारण कर्म का क्षय भी निश्चित ही है ॥३४०॥

विवेचन : ग्रंथीभेद होने पर आत्मा उस स्थिति पर पहुंच जाती है कि जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति में कौन सी उचित ? कौन सी अनुचित है ? अर्थात् कृत्य-अकृत्य, पेय-अपेय, हेय-उपादेय, भक्ष्य-अभक्ष्य आदि विषयों या परिस्थितियों के उपस्थित होने पर विवेकबुद्धि से उसकी परीक्षा करके, सतत सत्प्रवृत्ति - उचित प्रवृत्ति करने का ही उसका स्वभाव बन जाता है । विवेक दीपक जगमगा उठता है, इसलिये उसकी कोई भी प्रवृत्ति असत्प्रवृत्ति, अशुद्ध, अशुभ, आस्त्रवमय, पापमयी नहीं होती। निश्चित ही उसकी बुद्धि व्रत, नियम, शौच, त्याग, प्रभुपूजा, गुरुसेवा, प्राणीदया, सत्य बोलना, चोरी

का त्याग करना, वेश्यागमन त्याग आदि सुन्दर आचरणों से युक्त होती है इसलिये वह हमेशा सत्कार्यों में, परमशुद्ध, पवित्र कार्यों में ही प्रवृत्त होता है। क्योंकि कर्ममात्र का क्षय होने से सत्प्रवृत्ति का बाधक कारण वहाँ पर कोई रहता नहीं।

तात्पर्य यह है कि ग्रंथीभेद होने पर जीव का मानसिक स्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि उसका झुकाव हमेशा सत्प्रवृत्ति की ओर ही रहता है। हमेशा वह उचितप्रवृत्ति का ही चुनाव करता है ॥३४०॥

संसारादस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः ।
संज्ञानचक्षुषा सम्यक्, तन्नैर्गुण्योपलब्धितः ॥३४१॥

अर्थ : सद् ज्ञानचक्षु से संसार की असारता को सम्यक् तौर पर जानकर, भिन्नग्रंथी आत्मा को संसार से उत्तम प्रकार का पारमार्थिक भाववैराग्य पैदा होता है ॥३४१॥

विवेचन : ग्रंथी का भेद होने पर जीवात्मा का निर्मल ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। जब निर्मल विवेकचक्षु खुलत हैं तो भव्यात्मा को संसार के प्रति अरुचि पैदा होती है क्योंकि संसार उसे आधि, व्याधि, उपाधि, जन्म, जरा, मरण, भय, रोग, शोक और क्लेशों से पीड़ित नजर आता है। इस प्रकार नर, नारक, तिर्यञ्चों को दुःखी और पीड़ित देखकर, संसार की निर्गुणता-असारता को जानकर, उसे सर्वोत्तम ऐसा पारमार्थिक अर्थात् तात्पर्य अकृत्रिम-स्वाभाविक भाववैराग्य प्रकट होता है। संसार में कहीं भी उसकी दृष्टि ठहरती नहीं। सर्वत्र उसे असारता के ही दर्शन होते हैं, इसलिये उसके हृदय में एक ही तड़प रह जाती है कि मैं ऐसे दुःख ग्रस्त संसार से कब छूटूं ? इस संसार-समुद्र को कैसे शीघ्र पार करुँ ? उसका वैराग्य कृत्रिम नहीं होता। शुद्ध अन्तःकरण से निकला हुआ भाववैराग्य होता है, जो उसे मोक्ष के समीप ले जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब ज्ञानचक्षु खुलते हैं तो संसार का यथार्थ स्वरूप सामने आता है और जब संसार का यथार्थ स्वरूप जान लिया तो भाववैराग्य पैदा होना जरुरी और स्वाभाविक है ॥३४१॥

मुक्तौ दृढानुरागश्च, तथातद्गुणसिद्धितः ।
विपर्ययो महादुःखबीजनाशाच्च तत्त्वतः ॥३४२॥

अर्थ : मुक्ति पर दृढ़ अनुराग (भिन्नग्रंथी को) मोक्ष सम्बन्धी गुणों की जानकारी से और तत्त्व से विपरीत, महादुःख के बीजरूप मिथ्यात्वमोहादि के नाश होने से होता है ॥३४२॥

विवेचन : संसार के भिन्न-भिन्न पर्यायों में भटकाने वाला तथा उनके नाना दुःखों का मूल कारण अगर कोई है, तो वह मिथ्यात्व मोहनीय है। तत्त्व जो मोक्ष है, उसके विपरीत (ले जाने वाला) और महादुःख का बीजरूप, मिथ्यात्वमोहनीय का जोर ग्रंथीभेद होने पर बहुत कम हो जाता

है इसलिये उसे संसार में कोई रुचि नहीं रहती । मोक्ष के जो अजरामरत्व, निरामयत्व, अविनाशित्व तथा रोग, शोक, पीड़ा के अत्यन्त अभावरूप गुणों की जानकारी होने से, मुक्ति में अत्यन्त प्रीतिरूप सम्यक्दर्शन उसे होता है, और वही मोक्ष का मुख्य हेतु हैं ।

संक्षेप में ग्रंथीभेद होने पर मिथ्यात्व मोहनीय - जो तत्त्व से विपरीत है और महादु:ख का बीज है उसका नाश हो जाता है और मोक्षसम्बन्धी गुणों का ज्ञान हो जाने से मुक्ति पर बेहद प्रीति हो जाती है, वही सम्यक्दर्शन है और मोक्ष का मुख्य हेतु है ॥३४२॥

एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थमन्यथा तदभावत: ।
अस्यौचित्यानुसारित्वमलमिष्टार्थसाधनम् ॥३४३॥

अर्थ : इस (भिन्नग्रंथी) को इनकी (संसार और मोक्ष की क्रमश:) त्याग और प्राप्तिरूप सिद्धि के लिये औचित्यानुसारित्व ही उत्तमोत्तम पर्याप्त इष्टार्थ का साधन है, अन्यथा (औचित्यानुसारित्व के बिना) उसका अभाव सिद्ध हो जाता है (अर्थात् संसार और मोक्ष का क्रमश: त्याग और प्राप्ति का ही अभाव हो जाय) ॥३४३॥

विवेचन : ग्रंथीभेद होने पर जीवात्मा का विवेकज्ञान जाग्रत हो जाता है । उसी विवेक ज्ञान को ही यहाँ औचित्यानुसारित्व कहा है क्योंकि विवेकज्ञान होने पर ही व्यक्ति उचित-अनुचित कृत्य आदि का भेद करके, उचितप्रवृत्ति का अनुसरण कर सकता है । जब यह गुण विकसित होता है, तभी संसार का त्याग और मोक्ष की प्राप्तिरूप सिद्धि होती है । उसका इष्टार्थ जो मोक्ष या आध्यात्मिक विकास है, उसे सिद्ध करने के लिये औचित्यानुसारित्व को पर्याप्त साधन बताया है, जो युक्तियुक्त है, क्योंकि उस गुण के बिना संसार का त्याग और मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥३४३॥

औचित्यं भावतो यत्र, तत्रायं संप्रवर्तते ।
उपदेशं विनाऽप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदित: ॥३४४॥

अर्थ : यह (भिन्नग्रंथी जीवात्मा) वही पर प्रवृत्ति करता है जहाँ पारमार्थिक औचित्य हो, (उस उचित प्रवृत्ति को वह) बिना उपदेश के, शुद्ध अन्त:करण से, ग्रंथीभेद से उत्पन्न बलवान पुरुषार्थ की प्रेरणा से प्रेरित होकर करता है ॥३४४॥

विवेचन : जो भव्यात्मा परमार्थभाव को यथास्वरूप में समझ चुका है और जिसका ग्रंथी भेद हो चुका है वह हमेशा उचित प्रवृत्ति ही करता है । अर्थात् जो मोक्षमार्ग के अनुकूल हो और शाश्वत सुख की साधक हो ऐसी देवपूजा, गुरुभक्ति, सुपात्रदान, साधर्मिकवात्सल्य, सर्वत्र मैत्री, प्रमोद, माध्यस्थ्य, करुणा भावना, पंचमहाव्रत, गुणव्रत, ध्यान, समाधि आदि शुभ और शुद्ध प्रवृत्ति ही करता है । अन्यत्र जो प्रवृत्ति मोक्षसाधक न हो वहाँ पर वह प्रवृत्त नहीं होता । ऐसी उचित प्रवृत्ति में प्रवृत्त

होने के लिये भी उसे किसी अन्य गुरु या किसी के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध हृदय-अन्तः करण से ही उसे ऐसी स्फुरणाएं उत्पन्न होती है और ग्रंथीभेद होने पर जो परमपुरुषार्थ प्रकट होता है, उसकी प्रेरणा से ही वह स्वयं ही उन सत् प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। सार यह है कि ग्रंथीभेद होने पर आत्मा स्वयंप्रेरित उचित प्रवृत्ति करता है उसमें किसी के उपदेश या प्रेरणा की आवश्यकता नहीं होती है ॥३४४॥

अतस्तु भावो भावस्य, तत्त्वतः संप्रवर्तकः ।
शिराकूपे पय इव, पयोवृद्धेर्नियोगतः ॥३४५॥

अर्थ : इस प्रकार वस्तुतः भाव, भावान्तर को पैदा करता है (प्रेरित करता है) जैसे शिराकूप का जल निश्चित ही जलवृद्धि करता है ॥३४५॥

विवेचन : जैसे कुआँ खोदने पर भूमि के अन्तस्तल से प्रकट होने वाली छोटी-छोटी जल की नीकों, झरणों से जल आता है, और कुएँ में जल वृद्धि का हेतु बनता है, उसी प्रकार ग्रंथीभेद होने पर जो भवनिर्वेदरूप भाववैराग्य प्रकट होता है, वह दूसरे शुभभावों को प्रकट करने में निमित्त बनता है। अर्थात् ग्रंथीभेद से जो भवनिर्वेद प्रकट होता है वह जीवात्मा को उचित प्रवृत्ति में ही जोड़ता है, और उचित प्रवृत्तित्वभाव मोक्ष में दृढ़ विश्वास, परमप्रीति को उत्पन्न करता है, और वह प्रीति वह सम्यक्दर्शन को उत्पन्न करती है। सम्यक्दर्शन अन्य सैकड़ों अन्य शुभभावों को उत्पन्न करता है इस प्रकार वस्तुतः कुएँ के अन्दर रहे हुये झरणों से कुएँ की जलवृद्धि की भांति, एक भाव दूसरे भावों को और दूसरा अन्य सैकड़ों भावों को उत्पन्न करता है। तात्पर्य यह है कि ग्रंथीभेद के पश्चात् पूर्वभाव उत्तरभाव का कारण बनता है और उत्तरोत्तर भावों की शुद्धि और वृद्धि होने से आत्मा प्रगति पथ पर आरुढ़ होती है ॥३४५॥

प्रश्न है – अगर उपदेश बिना ही उचित प्रवृत्ति होती हो तो उपदेश व्यर्थ हुआ तो कहते हैं :-

निमित्तमुपदेशस्तु, पवनादिसमो मतः ।
अनैकान्तिकभावेन, सतामत्रैव वस्तुनि ॥३४६॥

अर्थ : सज्जनों के मतानुसार उपदेश तो पवनादि के समान निमित्तमात्र है (क्योंकि) यहाँ वस्तु के सम्बंध में अर्थात् मुक्ति के सम्बंध में उपदेश का (निमित्त का) अनेकान्तिक भाव याने नियत सम्बंध नहीं है, अर्थात् कभी निमित्त बन भी सकता है कभी निमित्त नहीं भी बनता ॥३४६॥

विवेचन : उपदेश तो निमित्त कारण है जैसे कूपजल के लिये खनन और पवन निमित्त कारण है। भूमि खोदने से और पवन के सहयोग से भूमि के अन्दर से जल बाहर आता है, परन्तु कभी-कभी भूमि रसवती नहीं होती तो पानी नहीं भी आता। इसी प्रकार मूंग पकाने के लिये अग्नि

और पाचक निमित्त कारण है। दोनों के सहयोग से मूंग पकते हैं, लेकिन कोड़कु मूंग (ऐसा मूंग जो पके ही नहीं सके) पकाने में अग्नि और पाचक निमित्त नहीं भी बनते। अनेकान्तिकभाव का तात्पर्य है कि नियत सम्बंध नहीं, कभी-कभी निमित्त कारण साध्य को सिद्ध करता है; कभी नहीं भी सिद्ध करता। गुरु का उपदेश भव्यजीवों की गुणवृद्धि में निमित्त कारण है। परन्तु कभी-कभी उपदेश के बिना भी पूर्वजन्म के सत्संस्कारों से, सहजभाव से ही सदनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। प्रायः भव्यात्माओं को गुरु का उपदेश सदनुष्ठान प्रवृत्ति में पुष्टावलंबनरूप होता है, परन्तु कभी-कभी बहुत भवाभिनन्दी 'सुभूम चक्रवर्ती जैसों के प्रति उपदेश सफल नहीं भी होता। जो स्वयंबुद्ध और प्रत्येक बुद्ध महात्मा हैं उनको उपदेश की आवश्यकता नहीं होती और यद्यपि बहुल संसारी भवाभिनन्दी जीवों के लिये उपदेश कोड़कु मूंग और उसरभूमि की भाँति साध्य को सिद्ध करने में असफल होता है, परन्तु इससे उपदेश की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। उपदेश की तो आवश्यकता अनिवार्य है ॥३४६॥

प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।
तदाश्रित्योपदेशोऽपि, ज्ञेयो विद्यादिगोचरः ॥३४७॥

अर्थ : स्वतः आरब्ध अनुष्ठान से उत्तर भव में जो उचितता का लाभ होता है, तदाश्रित विधि निषेधात्मक उपदेश भी सफल समझना चाहिये ॥३४७॥

विवेचन : स्वयं आरम्भ किये हुये अनुष्ठान जैसे कि शास्त्र श्रवण की प्रबल इच्छा, शास्त्रों के सम्यक् बोध से चैत्यवन्दन अर्थात् वीतराग परमात्मा की पूजा, भक्ति, स्तुति, संगीत, नृत्य, वाद्य के साथ करते-करते; गुरुभक्ति, गुरुसेवा, वन्दना, स्तवना आदि अनुष्ठानों को यथाशक्ति, उचित प्रकार से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अनुकूलतानुसार करते हुए; उनके दृढ़ संस्कारों से उत्तरकाल में अर्थात् भावी जन्म में भी जीवात्माएं बिना उपदेश के अपने स्वतःभाव से अनुष्ठानों की श्रेष्ठ-श्रेष्ठतर प्रवृत्ति करता है, तो क्या ऐसे स्वयं प्रेरित अनुष्ठाताओं के लिये उपदेश निरर्थक है ? तो कहते है नहीं, जरा भी व्यर्थ नहीं क्योंकि उपदेश तो सदनुष्ठान की पुष्टि करता है। जैसे विद्याशिक्षक गुरु का उपदेश, करने योग्य को करने के लिये, और त्याग करने योग्य को छोड़ने के लिये, विधि-निषेधक होता है। वैसे ही यहाँ सफल समझना चाहिये। कहा भी है :-

उवदेशो वि हु सफलो, गुणठाणारंभगाण जीवाण ।
परिवडमाणाणतहा, पायं बहु तद्वियाणं वि ॥ उपदेशपद-४९९

महापुरुषों का सदुपदेश भव्यात्माओं को उत्तरोत्तर गुणस्थानक की श्रेणी का आरम्भ करवाता है और उत्तम प्रकार के फल को देने वाला होता है और अन्य दूसरे गुणश्रेणी से गिरे हुओं को भी उपकारक होता है, चारित्र से भ्रष्टात्माओं को भी चारित्र में स्थिर करता है। इसलिये आरम्भ करने योग्य अनुष्ठानों का उपदेश जीवों को जब भी दिया जाय वह योग्य और सफल ही है क्योंकि उससे उनकी पुष्टि होती है ॥३४७॥

प्रकृतेर्वाऽऽनुगुण्येन चित्रः सद्भावसाधनः ।
गम्भीरोक्त्या मितश्चैव, शास्त्राध्ययनपूर्वकः ॥३४८॥

अर्थ : (जीवों की) प्रकृति अनुसार नाना प्रकार का, सद्भावों को पैदा करने वाला, गम्भीरोक्तियुक्त, परिमित और शास्त्रीयपाठों से युक्त उपदेश (महापुरुषों द्वारा दिया जाता है) ॥३४८॥

विवेचन : भव्यात्माओं की जैसी योग्यता होती है; उनकी प्रकृति-स्वभाव को जानकर, ही महापुरुष उन्हें भिन्न-भिन्न कोटि का उपदेश देते हैं, जो उनमें शुद्ध-शुद्धत्तर भावोल्लासों को पैदा करने में पुष्टावलम्बनरूप बनता है । उनकी शैली-उपदेश की पद्धति इतनी गम्भीर, परिमितशब्दों से युक्त और शास्त्रीय उद्धरणों-प्रमाणों से समृद्ध होती है कि जीवात्माओं के अन्तस्तल में जाकर, स्थिर निवास बना लेती है । तात्पर्य यह है कि गीतार्थ-सर्वदर्शी-केवलज्ञानी महापुरुष जीवों की भिन्न-भिन्न प्रकृति को लक्ष्य में रखकर, सद्भावों को पैदा करने वाला, गम्भीरोक्ति से युक्त, थोड़े शब्दों में शास्त्रीय प्रमाणों से समृद्ध उपदेश जीवों को देते हैं, जो जीवों की गुणवृद्धि और भाववृद्धि हेतु-निमित्त कारण बनता है । अतः उपदेश व्यर्थ नहीं, अपितु अनिवार्य है ॥३४८॥

शिरोदकसमो भाव, आत्मन्येव व्यवस्थितः ।
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया, चाभिव्यक्तिस्ततस्ततः ॥३४९॥

अर्थ : शिरोदक की भांति शुद्धभावरूप परिणाम आत्मा को होता ही है, चित्र-नाना उपदेश और कूपखननादि से प्रवृत्ति तो इस (भाव) की अभिव्यक्ति है ॥३४९॥

विवेचन : जैसे कुएं के अन्तस्तल में जल की नीकों-झरणों में जल विद्यमान होता है; खोदने के पहले भी पानी की सत्ता-अस्तित्व होता है परन्तु बाहर दिखाई नहीं देता, खोदने पर पानी व्यक्त-अभिव्यक्त होता है । खोदने की प्रवृत्ति जल को प्रकट करती है अतः जैसे पानी की अभिव्यक्ति में खोदने की प्रवृत्ति हेतु-निमित्त बनती है, वैसे ही भव्यात्माओं के अन्दर शुद्ध भावरूप परिणामधारा विद्यमान होती है; भाव सत्ता में पड़े होते हैं, लेकिन महापुरुषों का नाना प्रकार का उपदेश उनके नाना भावों को अभिव्यक्त करने के लिये निमित्त बनता है, पुष्ठावलंबन बनता है, इसलिये उपदेश सार्थक है ॥३४९॥

सत्क्षयोपशमात् सर्वमनुष्ठानं शुभं मतम् ।
क्षीणसंसारचक्राणां, ग्रन्थिभेदादयं यतः ॥३५०॥

अर्थ : क्योंकि ग्रंथीभेद होने से जिनका संसारचक्र क्षीण हो चुका है ऐसे (सम्यक् दृष्टि) आत्माओं का सर्व अनुष्ठान, विशेष क्षयोपशमभाव प्रकट होने से, शुभ ही माना है ॥३५०॥

विवेचन : संसारचक्र का सानुबंध अर्थात् कारण जिसमें है, ऐसा जो मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माय, लोभ की चौकड़ी तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगंच्छा, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद रूप जो मोहनीय कर्मदल का समूह अनादि काल से प्रवाहरूप से जीव के साथ एकमेक हो गया है, वह मोहरूप मल सद्गुरु के उपदेश से, आत्मवीर्य और शुभ परिणाम की धारा से ग्रंथीभेद से शुद्ध होता है, क्षय होता है, उपशान्त होता है। देवपूजा, गुरुभक्ति, व्रत, पच्चखाण, देशविरति, सर्वविरतिरूप सच्चारित्र तथा तप, जप, ध्यान, समाधि आदि सर्व अनुष्ठान शुभफल के हेतु ही होते हैं। तात्पर्य है कि ऐसे अनुष्ठानों में इस प्रकार की विशिष्टता होती है कि संसार चक्र में भटकाने योग्य ऐसे कर्मदलों का क्षयोपशम होने से और ग्रंथीभेद होने से शुभफल के ही हेतु होते हैं, इससे अन्यथा नहीं होते ॥३५०॥

भाववृद्धिरतोऽवश्यं, सानुबंधं शुभोदयम् ।
गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत्, सुवर्णघटसन्निभम् ॥३५१॥

अर्थ : इससे (क्षयोपशमभाव से) अवश्यमेव शुद्ध भावों में वृद्धि होती है (ऐसे उत्तमभावों से किया गया) शुभानुष्ठान सानुबंध शुभोदय अर्थात् सतत प्रशस्त फल देने वाला होता है, अन्य मतावलम्बी भी इसे स्वर्णघट के समान बताते हैं॥३५१॥

विवेचन : मिथ्यात्वमोहनीयादि कर्मों के क्षयोपशम से भव्यात्माओं के हृदय में उत्तम-शुद्ध भावों की वृद्धि होती है। उत्तमोत्तम भावनाओं से हृदय सभर होता है और ऐसे उत्कृष्ट भावों से किये गये शुभानुष्ठान-परमात्मा की पूजा, चैत्यवन्दन, जिनस्तुति, सामायिक, प्रतिक्रमण, पौषध, साधु के पंचमहाव्रत, श्रावक के अणुव्रत, आठ प्रवचन माता की पालना, गुरु के पास शास्त्र श्रवण आदि जो भी अनुष्ठान श्रद्धा और वीर्योल्लासपूर्वक किये जाते हैं, अवश्य शुभभावों की वृद्धि करने वाले होते हैं। महर्षि पतञ्जलि और कपिल आदि अन्य मतावलम्बी भी इसे सानुबंध शुभोदय अर्थात् जिसकी परम्परा बीच में टूटती नहीं, ऐसे सतत प्रशस्तफल को देने वाला कहते हैं। अर्थात् शुभभावों को जन्म देते हैं इस प्रकार की शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम, शुभ-शुभतर, शुभतम प्रशस्त फलदायी परम्परा चलती रहती है। ऐसे अनुष्ठानों को उन्होंने स्वर्णघट की उपमा दी है जैसे स्वर्ण घट टूटे-फूटे फिर भी स्वर्ण का स्वर्ण ही रहता है। उसकी कीमत में टूटने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे ही शुभभावों से किये गये अनुष्ठान कभी कषायोदय से उपहत हो जाय फिर भी सर्वदा शुभफल को ही देने वाले होते हैं। क्योंकि कहा है :-

दंसणभट्ठो भट्ठो दंसणभट्ठस्स नत्थि निव्वाणं ।
चरणरहिआ सिज्झन्ति, दंसणेण बिना न हि ॥

अर्थात् दर्शन से भ्रष्ट को भ्रष्ट माना है, परन्तु चारित्र से भ्रष्ट को नहीं, क्योंकि चारित्र बिना

भी कोई अपवादिक मुक्ति प्राप्त कर सकता है परन्तु सम्यक्‌दर्शन के बिना चाहे कितना ही तप या क्रिया करे, फिर भी वह संसार में भटकता है। हृदय में भावों की वृद्धि का अर्थ है सम्यक् दर्शन की स्थिरता-जिसका सम्यक्‌दर्शन स्थिर है उसके सभी अनुष्ठान स्वर्णघट जैसे हैं ॥३५१॥

एवं तु वर्त्तमानोऽयं, चारित्री जायते ततः ।
पल्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥३५२॥

अर्थ : इस प्रकार वर्तन करता हुआ यह (भिन्नग्रंथी जीव) ग्रंथीभेद होने के पश्चात् (जब उसके) दो से नव पल्योपम प्रमाण स्थिति वाले कर्म (चारित्रमोहनीयादि) निवृत्त हो जाते हैं (तब वह) चारित्री (देशविरति चारित्री) होता है ॥३५२॥

विवेचन : ग्रंथीभेद होने के पश्चात् क्षयोपशमभाव से शुभ परिणाम की धारा को अनुक्रम से बढ़ाता हुआ और ऐसे शुभपरिणामों से शुभ अनुष्ठानों को करता हुआ, भिन्नग्रंथी जीव जब दो से नव पल्योपम प्रमाण स्थिति वाले चारित्र मोहनीयादि कर्मों को खपा देता है अथवा वे कर्म जब निवृत्त हो जाते हैं तब वह जीव देशविरति चारित्र को प्राप्त करता है।

पल्योपम कर्मों की स्थिति का एक माप है जो समुद्र से छोटा होता है। पृथकत्व का अर्थ है दो से नौ तक। यह जैन पारिभाषिक शब्द है। जैन सिद्धान्तानुसार जब जीव, दो से नव पल्योपम प्रमाण स्थिति वाले कर्मों का नाश करता है, तब उसे पांचवा गुणस्थान कहो या देशविरति चारित्र कहो, प्राप्त होता है। सर्वविरति चारित्र तो संख्यात सागरोपम प्रमाण स्थिति वाले कर्म निवृत होने पर होता है ॥३५२॥

लिङ्गं मार्गानुसार्येष, श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः ।
गुणरागी महासत्त्वः, सच्छक्त्यारम्भसङ्गतः ॥३५३॥

अर्थ : वह (चारित्री-देशविरतिचारित्री) मार्गानुसारी, श्रद्धावान्, गुणवान पुरुषों की प्रज्ञापना में प्रीति रखने वाला, गुणानुरागी, प्रशस्त पुरुषार्थी, शक्ति अनुसार सत्प्रवृत्ति करने वाला होता है। (ये चारित्री के चिह्न हैं, लक्षण हैं) ॥३५३॥

विवेचन : देशविरति चारित्र को धारण करने वाले भव्यात्मा में कौन-कौन से गुण पाये जाते हैं ? देशविरति चारित्री की पहचान क्या है ? तो कहते हैं कि देशविरति चारित्री में सबसे पहले मार्गानुसारी के ३५ गुण जो बताये हैं वे होते हैं; दूसरा वह परम श्रद्धालु होता है, सत्य तत्त्वों में विश्वास रखने वाला होता है; तीसरा-आगम ग्रंथों में महापुरुषों ने, गणधरों ने, तीर्थंकरदेवों ने जो प्ररूपित किया है उस पर प्रीति रखने वाला होता है; चौथा वह हमेशा गुणानुरागी ही होता है। उसे

गुणों के प्रति ही आकर्षण होता है व्यक्ति के प्रति नहीं; पांचवा वह सदा प्रशस्त प्रवृत्ति में ही पुरुषार्थ करता है, अन्य में नहीं और छठा अपनी शक्ति को छिपाये बिना, पूरी शक्ति लगाकर सत्कार्य करने वाला होता है । इस प्रकार देशविरति के ये चिह्न है, ये लक्षण हैं ॥३५३॥

असातोदयशून्योऽन्धः, कान्तारपतितो यथा ।
गर्तादिपरिहारेण, सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥३५४॥

तथाऽयं भवकान्तारे, पापादिपरिहारतः ।
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि, सत्सातोदयसंयुतः ॥३५५॥

अर्थ : अशातावेदनीय कर्म जिसका उदय नहीं हुआ ऐसा अन्ध व्यक्ति भयंकर-गहनवन में पड़ा हुआ भी जैसे गर्तादी-विषममार्ग का त्याग करके, सम्यक् मार्ग की ओर आता है वैसे ही यह (देशविरति चारित्री) संसार अटवी में पापादि प्रवृत्ति का त्याग करके, श्रुतचक्षुहीन होने पर भी सत्-श्रेष्ठ शातावेदनीय कर्मोदय से (योग्यमार्ग-मोक्षानुकूल मार्ग की ओर आता है) ॥३५४-३५५॥

विवेचन : अशातावेदनीयकर्म जिसका उदय नहीं हुआ है अर्थात् निरोगी, शक्तिवान कोई अन्धव्यक्ति दैवयोग से कभी दण्डकारण्य जैसे भयंकर जंगल में आ फँसा हो, तो वह जंगल की विषम उबड़ खाबड़ जमीन, पत्थर के टुकड़े, काँटे, कंकर आदि से अपने आप को यतनापूर्वक बचाकर, धीरे-धीरे उपयोग रखकर, धीरज पूर्वक उस विषम मार्ग को पार करके, अपने इष्ट स्थान पर पहुँच जाता है । भयंकर जंगल को भी अपनी हिम्मत से पार कर लेता है । वैसे ही संसाररूपी जंगल में पड़ा हुआ देशविरति भव्यात्मा, शास्त्रज्ञानरूपी चक्षु न होने पर भी अर्थात् शास्त्र का ज्ञान नहीं होने पर भी, पापादिक अर्थात् पाप का कारण और पाप का फल देने वाली अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करके, पापमय कार्यों को छोड़कर, सद्भावरूप-शातावेदनीय से युक्त होकर, भव अटवी को पार करता है । अर्थात् अन्धव्यक्ति जैसे अशातावेदनीय के उदय से शून्य, निरोगी और शक्तिवान होने के कारण विषममार्ग को यतना पूर्वक पार करके, इष्ट स्थान पर पहुंचता है, वैसे चारित्री भी पापमय प्रवृत्तियों से बचता है । शातावेदनीयरूप शुभ संकल्पों से भावों की वृद्धि करता हुआ विषम संसार को पार करके, इष्ट स्थान स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त करता है । श्रुतचक्षुविहीन उसे इसलिये कहा है कि इस अवस्था में उसे शास्त्र का बोध नहीं होता । यहाँ मार्गानुसारी की प्रवृत्ति बताई है कि वह सत्पथ का ही अनुसरण करता है । पापप्रवृत्ति नहीं करता । इसीका नाम मार्गानुसारित्व है ॥३५४-३५५॥

अनीदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम् ।
ईदृशस्यापि वैकल्यं, विचित्रत्वेन कर्मणाम् ॥३५६॥

अर्थ : जो ऐसा नहीं अर्थात् जिसमें मार्गानुसारित्वादि चिह्न नहीं, उसका चारित्र तो शब्दमात्र है और मार्गानुसारी का (चारित्र भी) कर्मों की विचित्रता से विकल हो सकता है ॥३५६॥

विवेचन : उपर दो श्लोकों में जो मार्गानुसारित्व बताया है, वह चारित्री का विशेष लक्षण है। ग्रंथकार कहते हैं कि अगर यह मार्गानुसारित्व गुण न हो तो चारित्री का चारित्र चाहे देशविरति चारित्र हो या सर्वविरति, वह नाममात्र का है क्योंकि उसमें मार्गानुसारित्व अर्थात् मोक्ष के साथ मिलाप करवाये ऐसा धर्ममार्ग में गमन करने का चिह्न-लक्षण नहीं होता। इसलिये बाहर से देशविरति या साधुवेश भले ही हो, वह व्यवहार से चारित्री कहा जा सकता है परन्तु वस्तुतः भाव चारित्र का वहाँ अभाव होता है। यदि कोई ऐसा कहता है कि अविरत सम्यक्दृष्टि में मार्गानुसारित्व गुण तो होता है परन्तु उनमें चारित्र नहीं होता; ऐसा क्यों ? तो कहते हैं कि सम्यक्दृष्टि आत्मा में मार्गानुसारित्व गुण होने पर भी कभी-कभी कर्मों की विचित्रता से, निकाचित कर्मों के कारण, वैकल्य-चारित्रहीनता आ जाती है। कभी-कभी निकाचित अशुभकर्मों का ऐसा तीव्र उदय होता है कि उससे चारित्र की सहज शक्ति दब जाती है। इसी कारण श्रेणिक राजा, श्रीकृष्ण वासुदेव आदि में सम्यक्दृष्टि, मार्गानुसारित्व गुण होने पर भी वे देशविरति चारित्र या सर्वविरति चारित्र को धारण न कर सके। शास्त्रों में कहा है :-

कम्माइ नूणं, घनचिक्कणाइं, गरुयाइं वज्जसाराइं ।
नाणड्ढंपि पुरिसं, पहाओ उप्पहं नेन्ति ॥

मार्गानुसारी के जैसा क्षायिक, क्षयोपशम, उपशम भाव का सम्यक्त्व होने पर भी भूल से घातीकर्म की अत्यन्त चिकनाहट होने से, अत्यन्त वज्र जैसे कठोर कर्मदलों की बहुलता से, सूत्र और अर्थ के सम्यक् ज्ञाता-परम पुरुषार्थी प्रभावक महापुरुष भी चारित्र से गिर जाते हैं; पतित हो जाते हैं; आगे नहीं बढ़ सकते; चारित्र रहित उन्मार्गगामी हो जाते है। इसमें मात्र मोहनीय कर्म की विचित्रता ही एकमात्र हेतु है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी उपरोक्त गुण होने पर भी कभी-कभी बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी, ज्ञानी भी कर्मों के गाढ़ बंध न के सामने असफल हो जाते हैं। कर्म, जीत जाते है और ज्ञानी-योगी-मुनि हार जाते हैं। कर्म प्रबल हो जाते हैं ॥३५६॥

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥३५७॥

अर्थ : महात्माओं ने देशादिभेद से इसे (चारित्र को) नाना प्रकार का बताया है, और चारित्र सिद्ध होने पर पूर्वोक्त अध्यात्मादि योग प्रवृत्त होता है ॥३५७॥

विवेचन : जिनेश्वर भगवन्तों ने और गणधरादि महात्माओं ने देशविरति, सर्वविरति आदि भेद से चारित्र को नाना प्रकार का बताया है। देश(अंश) से पाप से बचना देशविरति चारित्र है

और सर्वरूप से पाप से बचना सर्वविरति चारित्र है। सम्यक् दृष्टि श्रावक के १२ व्रतों को ग्रहण करना देशविरति चारित्र है। इसमें पांच महाव्रतों का देश से, अर्थात् अमुक मर्यादा में पालन होता है और दिशा परिमाण, भोगोपभोग परिमाण, अनर्थदण्डत्याग, सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथि संविभाग का समावेश होता है। संपूर्णरूप से पंचमहाव्रतों को ग्रहण करना, रात्रिभोजन का सर्वथा त्याग करना आदि सर्वविरति चारित्र है। जब यह चारित्र जीवन में सध जाता है तब पूर्व में जो योग की प्रक्रिया बताई है उसके अनुसार अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षयरूप उसकी प्रवृत्ति होती है ॥३५७॥

औचित्याद् वृतयुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥३५८॥

अर्थ : औचित्य से व्रत का आचरण करना, जिनवचनानुसार तत्त्वचिन्तन करना, मैत्र्यादिभावना के सार को अच्छी तरह से समझना, अध्यात्मवेत्ता इसको अध्यात्म कहते हैं ॥३५८॥

विवेचन : औचित्य-उचित प्रवृत्ति के अनुसार सारासार को जानकर, विवेकपूर्वक श्रावक-श्राविका के अणुव्रत और साधु-साध्वी के महाव्रतों को सम्यक् प्रकार से पालना; जीव-अजीव, पाप-पुण्य आदि तत्त्वों का, जिनेश्वर परमात्मा द्वारा प्रणीत सप्तनय, सप्तभंगी, चार या छः निक्षेप और दो प्रमाणों से चिन्तन करना, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना के सारतत्त्व को अच्छी तरह से समझकर, मैत्रीभावना से सर्वजीवों का हितचिन्तन करना; प्रमोद भावना से गुणीजनों की प्रगति देखकर उनकी अनुमोदना करना, स्तुति करना; करुणाभावना से दुःखीजीवों को देखकर, उनके दुःखों को दूर करने के लिये सक्रिय कदम उठाना; मध्यस्थभावना से धर्म से हीन अधर्मी, क्रूरों के प्रति भी समभाव रखना, उनके प्रति वैरभाव या वैमनस्य न रखना; इस प्रकार इन भावनाओं के सार का जीवनसात् करने को महापुरुषों ने अध्यात्म योग कहा है ॥३५८॥

तात्पर्य यह है कि विवेकपूर्वक सत्पथ का अनुसरण करना, वीतराग-वचनानुसार संसार में जो जीव, अजीव, पाप, पुण्य तत्त्व हैं उनका चिन्तन करना, मैत्र्यादि को जीवन में स्थान देना अध्यात्मयोग कहा जाता है ॥३५८॥

अतः पापक्षयः सत्त्वं, शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥३५९॥

अर्थ : इस (अध्यात्म) से पाप का क्षय, तेज ओजस् की वृद्धि, चित्त की समाधि, शाश्वत ज्ञान तथा अनुभव सिद्ध अमृत की प्राप्ति होती है ॥३५९॥

विवेचन : अध्यात्म योग के अभ्यास से कर्मों की सर्वदुष्ट प्रकृतियों का नाश होता है।

अनादिकाल से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि कर्म प्रकृतियों ने आत्मा की शक्ति को दबाकर रखा है, इसीलिये इसे पापमय कहा है । इसका नाश भी अध्यात्मयोग से होता है । अन्तरायकर्म के उदय से आत्मा की जो वीर्यशक्ति निस्तेज हो कर पड़ी थी वह भी इस योग से प्रकट होती है, इसलिये इस योग से आत्मसत्त्व-आत्मा का पराक्रम विकसित होता है । शील - पवित्र आचार-विचारों के सेवन से, चित्त में अनुपम समाधि-शान्ति का अनुभव होता है, अर्थात् अध्यात्मयोगी को मन, वचन, काया की स्थिरता होने से आर्त या रौद्र ध्यान से दुष्ट संकल्प-विकल्प का अभाव होता है। मन के संकल्प विकल्प शान्त होकर एकाग्रता आती है । शाश्वत ज्ञान - जो ज्ञान कभी नष्ट नहीं होता ऐसे केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है, तथा इसी अध्यात्म से अनुभव सिद्ध अमरत्व-मोक्ष की प्राप्ति होती है । इसी जीवन में वह देहातीत अवस्था मोक्ष का अनुभव करता है, क्योंकि दारुण दुःख देने वाले राग द्वेषादि कर्म उसके नष्ट हो जाते हैं । दुःख का बीज ही नष्ट हो जाता है, इसलिये परमशान्ति का अनुभव होता है ॥३५९॥

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः, प्रत्यहं वृद्धिसङ्गतः ।
मनः समाधिसंयुक्तः पौनः पुन्येन भावना ॥३६०॥

अर्थ : मन की समाधि से संयुक्त, नित्यवृद्धि पाने वाला अध्यात्मयोग का प्रतिदिन (पुनः पुनः) बार-बार जो अभ्यास (रटन) है वह भावना-योग है ॥३६०॥

विवेचन : अध्यात्म योग के, केवल पुनः-पुनः अभ्यास को ही भावनायोग नहीं कहा, लेकिन कहा है कि वह अभ्यास वृद्धि संगत और मन की समाधि से संयुक्त हो । अर्थात् अभ्यास में अरुचि, खेद, प्रमाद (आलस्य) आदि दोष न आने पावे; उस अभ्यास से निरन्तर भावों में वृद्धि होनी चाहिये; सतत प्रगतिशील अभ्यास हो और मन को उस अभ्यास से समाधि-परमशान्ति का अनुभव होना चाहिये, तभी वह अभ्यास भावना योग कहा जा सकता है अन्यथा नहीं ॥३६०॥

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।
तथा सुचित्तवृद्धिश्च, भावनायाः फलं मतम् ॥३६१॥

अर्थ : भावना का फल यह है कि इससे अशुभाभ्यास से निवृत्ति, शुभाभ्यास की अनुकूलता तथा सुचित्तवृद्धि-शुभोत्कर्षरूप भावना की वृद्धि होती है ॥३६१॥

विवेचन : अध्यात्मभावना का बार-बार पुनरावर्तन करने से जो काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेषादि अशुभ प्रवृत्ति का अनादि काल से अभ्यास था, उसकी निवृत्ति अर्थात् नाश हो जाता है । अनादिकाल से जीव, काम अर्थात् इन्द्रियों के २३ विषयों में भोग की इच्छा से आसक्त रहकर, नाना प्रकार की पापमय प्रवृत्ति करता है । क्रोध से अपने विरोधी के नाश की भावना रखता

है। मान से, मैं सब से महान् हूँ, इस प्रकार का झूठा अभिमान करके, कर्मबंध न करता है। माया से दूसरों को ठगने के लिये अपने आपको जैसा है, उसके विपरीत दिखाता है। इस प्रकार राग, द्वेष, विषय-कषायों की अशुभ प्रवृत्ति करने का उसे जो अभ्यास हो गया है, इस भावना के सतत पुनरावर्तन से अशुभ अभ्यास की निवृत्ति हो जाती है, उनका अभ्यास छूट जाता है। और शुभाभ्यास की अनुकूलता अर्थात् सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अभ्यास के अनुकूल चित्त की प्रवृत्ति होती है और उससे शुद्ध चित्त की वृद्धि होती है। यानि कषाय का अभाव, सन्तोष, सत्य, पवित्रता, मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ आदि भावनाओं से चित्त में शुद्ध भावों की वृद्धि होती है। और वह उत्कृष्ट भावना मोहनीय कर्म के बल का नाश करती है और धर्म ध्यान में हेतु-समवाय कारण होती है। भावना का यह फल है। संक्षेप में भावना से अशुभ की निवृत्ति, शुभ की प्रवृत्ति और चित्त की शुद्धि होती हैं ॥३६१॥

शुभैकालम्बनं चित्तं, ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।
स्थिरप्रदीपसदृशं, सूक्ष्मयोगसमन्वितम् ॥३६२॥

अर्थ : शुभैकालम्बन चित्त को मनीषी ध्यान कहते हैं। वह सूक्ष्म उपयोग से युक्त और स्थिर दीपक जैसा होता है ॥३६२॥

विवेचन : मनीषियों ने उत्तम भावना से युक्त, केवल शुभ-शुद्ध वीतराग परमात्मा को ही हृदयकमल में प्रतिबिम्बित करके, (राग द्वेषात्मक अध्यवसायों को छोड़कर, चंचलता को त्याग कर) स्थिर दीपक की धारा की भांति मन को स्थिर करना, एकाग्र करना और आत्मा के स्वरूप का अत्यन्त सूक्ष्म उपयोग रखना, उसे ध्यान कहा है।

अर्थात् शुभैकालम्बनचित्त, मात्र शुभ आलम्बन ही सहारा है जिसका ऐसा जो चित्त अर्थात एक ही शुभ वस्तु पर चित्तवृत्ति की जो स्थिरता है उसे मनीषियों ने ध्यान कहा है। उसे निर्वात-स्थिर दीपक की उपमा दी है। उसमें आत्मा का सूक्ष्म उपयोग रहता है ॥३८२॥

वशिता चैव सर्वत्र, भावस्तैमित्यमेव च ।
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥३६३॥

अर्थ : ध्यान को जानने वालों ने सर्वत्र वशिता, मन की स्थिरता और संसार व्यवच्छेद को ध्यान का फल कहा है ॥३६३॥

विवेचन : ध्यान से दूसरों को जीतने की और आत्मवशिता-इन्द्रियों को जीतने की शक्ति प्राप्त होती है। ध्यान के बल से प्रकट हुई शक्ति से जो कार्य जब करने की इच्छा हो तब वह कार्य प्रकटरूप से सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार सर्वकार्य उसके आधीन रहते हैं। ध्यानयोगी

को स्वयंभूरमणसमुद्र जैसी स्थिरता इसी ध्यान से प्राप्त होती है, इसीलिये शत्रु, मित्र, भक्त, विरोधी, संसार के सभी प्राणीयों के प्रति तुल्य मैत्रीभाव पैदा होता है। मन की चंचलता का सर्वथा नाश हो जाने से और मन, वचन, काया के योगों का संवर होने पर, संसार का जो अनादिकालीन अनुबंध - भव पम्परा है उसका व्यवच्छेद हो जाता है, अर्थात् संसार के बंध नों से मुक्त हो जाता है। क्योंकि वह संवर द्वारा नये कर्मों के बंध को रोक लेता है और पूर्वसञ्चित कर्मों को ध्यानाग्नि से जला देता है। जैसे उदीयमान सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ध्यान से आत्मा का मिथ्यात्वरूपी अज्ञान अन्धकार नष्ट हो जाता है। योगियों ने ध्यान योग का यह महान फल बताया है ॥३६३॥

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।
संज्ञानात् तद्व्युदासेन, समता समतोच्यते ॥३६४॥

अर्थ : अविद्या से कल्पित इष्टानिष्ट वस्तुओं (इष्टानिष्टत्वरूप कल्पनाओं को) सम्यक् ज्ञान के बल से दूर करने से जो समभाव पैदा होता है उसे समता कहते हैं ॥३६४॥

विवेचन : मिथ्यात्व मोहनीय, जिसे अद्वैतवादी अविद्या कहते हैं, उस अविद्या के कारण ही जीव को संसार के पदार्थों का यथार्थ बोध नहीं हो पाता और उसके विविध पदार्थों में इष्ट और अनिष्टत्व की कल्पना करके दु:खी होता है। जीव अज्ञानता के कारण ही मित्र को शत्रु और शत्रु को मित्र मानता है। आत्मा को असत् और शरीर को सत् समझता है और शरीर, इन्द्रिय, मन और उसके भोग्यपदार्थ पदार्थों को इष्ट मानकर, उसमें राग करता है, और उन कल्पित सुखों को प्राप्त करने के लिये छल, प्रपंच, झूठ, चोरी, व्यभिचार, हिंसा आदि विविध भयंकर पापकर्मों को बांधता है। 'यह' वस्तु इष्ट-प्रिय है और 'यह' वस्तु अनिष्ट-अप्रिय है, इस प्रकार की कल्पना अज्ञानजनित है, क्योंकि संसार में कोई वस्तु भी वस्तुत: इष्ट या अनिष्ट नहीं होती। जो वस्तु पहले इष्ट-प्रिय लगती थी, वह कुछ समय पश्चात् अनिष्ट हो जाती है और जो अनिष्ट-अप्रिय लगती है वह भी समय आने पर इष्ट-प्रिय हो जाती है। निश्चयनय की दृष्टि से जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थों में, न कोई मेरा मित्र है, न कोई शत्रु है, इस प्रकार की समझ-विवेक आने पर जब सभी इष्ट-अनिष्ट पदार्थों में इष्टत्व और अनिष्टत्व भाव निकल जाता है, और आत्मा सभी इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं में रागद्वेष रहित होकर, समभाव पूर्ण स्थिति में आ जाता है, उस मन की समतोलस्थिति को समता कहा है। इष्ट वस्तुओं में राग और अनिष्ट वस्तुओं में द्वेष, द्वन्द्व का, क्लेश का और दु:ख का कारण है, इसीलिये उसे छोड़कर, जो सर्वत्र समभाव में रमण करता है, वह समता योग को प्राप्त करता है और परमशान्ति और मोक्ष सुख को उपलब्ध होता है ॥३६४॥

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव, सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।
अपेक्षातन्तुविच्छेद:, फलमस्या: प्रचक्षते ॥३६५॥

अर्थ : ऋद्धि के प्रति अप्रवृत्ति, सूक्ष्मकर्मों का क्षय और अपेक्षातन्तु के विच्छेद को इसका (समता का) फल कहा है ॥३६५॥

विवेचन : समतायोग में रमण करने वाले योगी ऋद्धि-सिद्धियों के पीछे नहीं भागते। चारित्रबल से प्राप्त विविध आमर्षऔषधि आदि लब्धियों और सिद्धियों का उपयोग अपने यशोवाद के लिये; जीवन चलाने के लिये; अपने आप को लोकपूज्य बनाने के लिये; लोक में अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिये नहीं करते, क्योंकि ऐसा करने से वे चारित्र के लिये घातक सिद्ध होती है। इसलिये इन लब्धिओं को, श्रीसंघ के आवश्यक कार्य की अपेक्षा बिना, शुद्ध चारित्रधारी साधक उपयोग नहीं करता। वह तो हमेशा अपनी आत्म समाधि में ही लीन रहता है। समता योगी, समता योग से धर्म और शुक्ल ध्यान द्वारा, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यातचारित्र आदि को आवरण करने वाले कर्मों के सूक्ष्म दलों को भी नष्ट करता है। समतायोग से योगी अपेक्षातन्तु जो कर्म बंध न का मुख्य हेतु है उसका भी विच्छेद-नाश करता है। अपेक्षाएं ही मनुष्य को रागद्वेष की ओर ले जाने वाली है। वह तन्तु मनुष्य के दुःखों का मूल कारण है, समताभाव में जब जीव आ जाता है तब वह तन्तु भी नष्ट हो जाता है। इस प्रकार महापुरुषों ने समता का यह फल बताया है ॥३६५॥

अन्यसंयोगवृत्तीनां, यो निरोधस्तथा तथा ।
अपुनर्भावरूपेण, स तु तत्संक्षयो मतः ॥३६६॥

अर्थ : अन्य संयोग (मन-इन्द्रिय-कर्मपुद्गल आदि) से होने वाली वृत्तियों का (अयोगिक केवली काल में), अपुनर्भावरूप से जिसका नाश होने पर पुनरुत्पत्ति नहीं होती, ऐसा मूल से जो क्षय है, वह वृत्ति संक्षय है ॥३६६॥

विवेचन : ग्रंथकर्ता ने इस तत्त्व को अन्तिम बताया है। क्योंकि यह स्थिति आत्मा की पूर्णता की है। आत्मा का सहज स्वभाव निस्तरंग स्वयंभू रमण समुद्र जैसा गम्भीर होता है। परन्तु अनादि काल से अन्यसंयोग-मन-शरीर-कर्मवर्गणादि के कारण आत्मा के अन्दर नाना प्रकार की राग-द्वेष की संकल्प विकल्पात्मक वृत्तियों का जन्म होता है। ऐसी वृत्तियों का अपुनर्भावरूप से, अर्थात् जिसका नाश होने पर पुनः उसकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसे मूल से नाश केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जब अयोगिकेवली की स्थिति प्राप्त होती है, तब होता है। इस प्रकार उन सर्व वृत्तियों का सर्वथा क्षय हो जाने को वृत्तिसंक्षय कहते हैं। वृत्तियों को समुद्र में तरंगों की उपमा दी है। आत्मा के अन्दर वृत्तियों का जन्म अन्यसंयोग निमितिक है। उन वृत्तियों का नाश ज्ञान, ध्यान, संयम, तप, जप, संवर द्वारा कम करते-करते अन्त में अयोगिकेवली के समय संपूर्ण क्षय हो जाता है। आनन्दघनजी ने भी पद्मप्रभु के स्तवन में सुन्दर कहा है :-

कनकोपलवत् पयडी पुरुष तणी रे जोडी अनादि स्वभाव ।
अन्य संयोगे जिहाँ लगे आत्मा रे संसारी कहेवाय ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने वृत्तिसंक्षय की स्थिति का सुन्दर वर्णन 'अपूर्व अवसर' में किया है।

मन वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छुटे जिहाँ सकल पुद्‌गल सम्बंध जो ;
एवुं अयोगि गुणस्थानक त्यां वर्ततुं,
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो । अपूर्व अवसर

यह मनुष्य की अन्तिम पराकाष्ठा है, पूर्णस्थिति है, इस स्थिति में आत्मा पूर्ण शक्ति का अनुभव करता है ॥३६६॥

अतोऽपि केवलज्ञानं, शैलेशीसम्परिग्रहः ।
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा, सदानन्दविधायिनी ॥३६७॥

अर्थ : इससे (वृत्ति संक्षय से) केवलज्ञान, शैलेशीकरणपद प्राप्ति और सदानन्ददायिनी अनाबाधित मोक्षप्राप्ति होती हैं ॥३६७॥

विवेचन : सर्वमनोवृत्तियों का मूल से क्षय होने पर घाती कर्मों का क्षय होता है, और उसके परिणाम स्वरूप सर्व द्रव्य, गुण, पर्याय को प्रत्यक्ष करने वाला, सर्वदा संपूर्ण उपयोगवाला केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त होता है। केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् संपूर्ण आयुष्यकाल पर्यन्त विचरण कर, जगत के जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देकर; अघाती कर्मों का क्षय करते हुये शेष कर्मों को विनष्ट करने के लिये केवली समुद्घात करते हैं। और अन्त में शैलेशीपद-मेरूपर्वत जैसी अडोल अकम्पस्थिति को प्राप्त करता है और शैलेशीकरण के पश्चात् शरीर, मन, वचन के सर्वव्यापार से रहित होकर, निराबाध जिसमें कोई भी बाधा रुकावट न डाल सके ऐसे सदा अनन्त व अखण्ड आनन्द को देने वाले शाश्वत सुख के धामरूप मोक्षसुख को प्राप्त करता है। कणाद महर्षि ने मोक्ष को सुख-दुःख का अभावरूप माना है और वैशेषिकों ने 'सुख दुःख व्यवच्छेदरूपा मुक्तिः' माना है। दुःख का व्यवच्छेद तो इष्ट है परन्तु सुख का अभाव किसी को भी इष्ट नहीं। अगर मोक्ष में सुख नहीं तो आत्मा का मोक्ष के लिये सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय। एक कवि ने कहा है "अगर मोक्ष में सुख नहीं तो वृन्दावन में सियार बनना अच्छा है"। अनाबाध में दुःख का अभाव तो आ जाता है परन्तु सदानन्द नहीं आता इसलिये उन लोगों के मन्तव्यों का निषेध करने के लिये तीर्थंकरादि महापुरुषों ने मोक्ष के लिये अनाबाधता और सदानन्दविधायिनी, इन दो विशेषणों को रखा है।

शैलेशीकरण को टीकाकार ने दो प्रकार से घटित किया है। 'शीलं-सर्वसंवररूपं तस्येशोऽधिपतिः इति शैलेशः तस्य इयं अवस्था इति शैलेशी तस्याः संपरिग्रह-स्वीकार इति ।'

सर्वसंवर निरोध रूप अवस्था का स्वीकार तथा दूसरा शैल पर्वत उसका ईश शैलेश-मेरूपर्वत, उसके जैसी अडोल अकम्प स्थिति अवस्था शैलेशी । मेरूपर्वत जैसी अडोल स्थिति को शैलेशी कहते हैं ॥३६७॥

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा ।
तस्येदानीं यथायोगं, योजनाऽत्राभिधीयते ॥३६८॥

अर्थ : पूर्व में तात्त्विक और अतात्त्विक रूप जो योग कहा है अब यहाँ उसकी (योग की) यथायोग्य योजना (यथार्थ स्वरूप) कही जाती है ॥३६८॥

विवेचन : ग्रंथ के आरम्भ में तात्त्विकयोग और अतात्त्विकयोग, जो दो प्रकार का बताया है, अब कौन सा योग किस व्यक्ति को सम्भव है, कौन सा योग तात्त्विक है, कौन सा अतात्त्विक है, इसको (योजना विभाग) यथायोग्य प्रकार से कहते है ॥३६८॥

अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥३६९॥

अर्थ : यह अध्यात्मभावनारूपी योग अपुनर्बन्धक को व्यवहार नय से तात्त्विक है । परन्तु चारित्री (भाव चारित्री) को तो निश्चयनय से तात्त्विक है ॥३६९॥

विवेचन : पुनः-पुनः संसार भ्रमण करना पड़े, ऐसा उग्रकर्मों का बंध न बान्धने वाले को अपुनर्बन्धक कहते हैं । उसको और सम्यक्‌दृष्टि को अध्यात्मादि योग व्यवहारनय की अपेक्षा से तात्त्विक-(सच्चा-अकृत्रिम) कहा है, क्योंकि दोनों ही इच्छायोग के अधिकारी है । जीवन में अध्यात्म भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षयरूप योग कब आये ? ऐसे अपूर्व अवसर की प्रतीक्षा में वे सदा रहते हैं, इसलिये सम्यक्‌दर्शन उनमें अवश्य होता है । सम्यक्‌दर्शन अध्यात्मादि योग का उपादान कारण है क्योंकि वह अध्यात्मादि वृत्ति संयमरूप कार्य में हेतु बनता है । इस प्रकार (सम्यक्‌दर्शनरूप) कारण में अध्यात्मादि योग रूप कार्य का उपचार करने से अपुनर्बन्धक और सम्यक्‌दृष्टि के योग को व्यवहारनय से तात्त्विक (सच्चा) कहा है; निश्चयनय की दृष्टि से नहीं । अपुनर्बन्धक और सम्यक्‌दृष्टि में शम, संवेग, निर्वेद, आस्तिक्य तथा अनुकम्पा गुण होते हैं । परन्तु अपुनर्बन्धक और सम्यक्‌दृष्टि की अपेक्षा भावचारित्री का जो अध्यात्मादि योग है वह निश्चयनय से भी तात्त्विक (सच्चा अकृत्रिम) कहा है - वास्तविक मोक्ष में ले जाने वाला है, क्योंकि भावचारित्री में मात्र एक मोक्ष की ही तीव्र अभिलाषा होती है, इसलिये उसमें दोनों दृष्टि से योग तात्त्विक होता है ॥३६९॥

सकृदावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः ।
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥३७०॥

अर्थ : सकृदावर्तन करने वालों का योग अतात्त्विक कहा है (क्योंकि) वैसे वेशादिमात्र से प्राय: अनर्थफल ही होता है ॥३७०॥

विवेचन : ग्रंथकर्ता का सकृत और आदि शब्द से द्वि-त्रि आर्वतन ग्रहण करने का तात्पर्य यह मालुम होता है कि जीव उपशम श्रेणी से विकास करता हुआ गुणस्थान पर्यन्त पहुंचता है। परन्तु उसके विषय और कषाय मूल से नष्ट नहीं होते, जल में कचरे की भांति केवल उपशान्त हो जाते हैं। इसीलिये ऐसा व्यक्ति उपशम श्रेणी से ग्यारहवें गुणस्थान जैसी शुभ उच्चस्थिति में पहुंचने पर भी नीचे गिरता है, पतित होता है। कोई एक बार गिरता है, कोई दो बार, कोई तीन बार गिरता है। ग्रंथकर्ता इन व्यक्तियों को ही लक्ष्य में लेकर कहते हैं कि इन जीवों का योग अतात्त्विक होता है। क्योंकि वे पुण्य से प्राप्त होने वाले बाह्य भौतिक भोगों के सुखों की लालसा से, देखा-देखी, श्रद्धा बिना ही तप, जप, त्याग, पूजा, दान, संयम आदि करते हैं, यहाँ तक कि साधुवेश भी धारण कर लेते हैं और पुण्य करणी करके देवत्व, राज्यत्व पाता है, परन्तु संसार का अन्त नहीं ला सकते। इसलिये इन व्यक्तियों का यम, नियमादि योग, सच्ची पारमार्थिकता से रहित होने के कारण, अतात्त्विक कहा है। व्यवहार से चाहे उसे योग कहें परन्तु निश्चयनय से तो वह अतात्त्विक है। हालांकि वह भी अध्यात्म-आत्मा में चैतन्यगुण आदि है, इस प्रकार की बातें करता है। वैराग्य की विचारणा होती है। संसार की आधि, व्याधि, उपाधियों से थक जाता है, परन्तु आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप न जानने के कारण, अज्ञान, मिथ्यात्व, कषाय और विषयों की लालसा अन्दर से नष्ट नहीं होती। इसलिये उसका अध्यात्मादि योग-अशुद्ध अध्यवसायों वाला होने से उत्तम मोक्ष फल को नहीं देता। परन्तु प्राय: संसार में नये-नये जन्म-मरणरूप अपाय-दु:ख को देने वाला ही होता है, क्योंकि मात्र बाह्यवेश से अध्यात्म की सिद्धि नहीं होती, इसलिये इनकी अयोग्यता कही गई है।

टीकाकार ने इन की अयोग्यता का बड़े सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है:-

"नेपथ्यचेष्टाभाषादिलक्षणं श्रद्धाशून्यवस्तु"

अर्थात् जिसके अन्दर श्रद्धा नहीं (ज्ञान नहीं) केवल भौतिकसुखों की लालसा अथवा अपनी मान प्रतिष्ठा के लिये ही जो तप, जप, ध्यान, संयम आदि करता है, वह नाट्यशाला के नट से अधिक नही है। नट भगवान का स्वांग कर सकता है उनके जैसी चेष्टा कर सकता है और भाषा भी वैसी बोल सकता है, लोगों को रिझा भी सकता है, लेकिन भगवान नहीं बन सकता। वैसें ही भोगों का लालची संयम और अध्यात्म का स्वांग रच सकता है, साधु वेशादि मात्र से श्रद्धा पैदा कर सकता है, परन्तु इससे वह अपने लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये ऐसे श्रद्धाविहीन व्यक्तियों का योग अतात्त्विक कहा है, वह उत्तमफल नहीं ला सकता। प्राय: वह जन्ममरण के दु:खरूपी फलों को ही लाता है।

बाह्य परिवर्तन के साथ जब तक हृदय का, स्वभाव का, मन का परिवर्तन नहीं, तब तक साधुवेश भी कुछ नहीं कर सकता ॥३७०॥

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः, शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् ।
ध्यानादिरूपो नियमात्, तथा तात्त्विक एव तु ॥३७१॥

अर्थ : भावचारित्री का ध्यानादिरूप योग उत्तरोत्तर शुद्धि की अपेक्षा वाला होता है, इसलिये उसे निश्चयनय से तात्त्विक ही जानें ॥३७१॥

विवेचन : भावचारित्र को धारण करने वाले साधुपुरुषों का ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षयरूप योग निःसन्देह तात्त्विक ही होता है क्योंकि उनका योग उत्तरोत्तर शुद्धि पर ही आधारित है, टिका हुआ है । शुद्ध उपयोगी महात्माओं को अध्यात्म और भावना में, जितने प्रमाण में शुद्धि और सिद्धि प्राप्त होती है, उसके अनुसार ही श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम शुद्धि - धर्मध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय में होती है । अर्थात् अध्यात्म और भावना की शुद्धि से धर्मध्यान में वृद्धि होती है, और धर्मध्यान में शुद्धि और वृद्धि होने पर समता में वृद्धि होती है, और समता बढ़ने से वृत्ति संक्षय की शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार एक योग की शुद्धि और वृद्धि पर दूसरा, दूसरे पर तीसरा, तीसरे पर चौथा और चौथे पर पांचवा शुद्धि और वृद्धि पाता है । भाव चारित्री को यह योग निश्चित ही होते हैं । इसलिये इनके योग को तात्त्विक - पारमार्थिक कहा है ॥३७१॥

अस्यैव त्वनपायस्य, सानुबन्ध स्तथा स्मृतः ।
यथोदितक्रमेणैव, सापायस्य तथाऽपरः ॥३७२॥

अर्थ : अनपाय (योगबाधक क्लिष्ट कर्मों से रहित) योगाधिकारी का योग पूर्वोक्तक्रम से सानुबंध (विघ्न रहित) कहा है और सापाय (अनपाय से विपरीत) का अननुबंध योग (विघ्न सहित) कहा है ॥३७२॥

विवेचन : पूर्वोक्त अध्यात्म और भावनायोग जिसमें होता है ऐसे अपुनर्बन्धक योगी को योग प्रवृत्ति में बाधा डालने वाले निकाचित क्लिष्ट मिथ्यात्व, अज्ञान, कषाय, अविरतिरूप बाधक कर्मों का सर्वथा अभाव होता है । इसलिये पूर्वोक्त अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और फिर वृत्ति संक्षयरूप योग का जो क्रम बताया है, उस क्रम से इसका योग सानुबंध होता है, अर्थात् मोक्षप्राप्ति पर्यन्त निरन्तर चालु रहता है । अनुबंध का अर्थ है निरन्तरधारा-जिसकी अविच्छिन्नधारा निरन्तर आगे-आगे बढ़ती है । अपूर्वकरण से अनिवृत्तिकरण, फिर सूक्ष्मसम्पराय फिर यथाख्यात् आदि चारित्र की गुणश्रेणी में बढ़ते- बढ़ते अनुक्रम से अध्यात्मादि योग प्राप्त करके, मोक्ष प्राप्त करता है । और सापाय- जो दोष से युक्त है उसका योग अशुद्ध है, उसका योगाचरण मिथ्यात्व आदि भावों से युक्त होने

के कारण संसार वृद्धि का ही कारण बनता है इसलिये बीच में ही टूट जाता है। जीव को मोक्ष पर्यन्त ले जाने में असमर्थ होता है। इसलिये महापुरुषों ने इसे अनुबंध रहित कहा है और उस व्यक्ति को सापाय कहा है।

संक्षेप में अनपाय क्लिष्ट कर्म-रहित जीव का योग सानुबंध और क्लिष्ट कर्मसहित सापाय का योग अनुबंध रहित कहा है ॥३७२॥

अपायमाहुः कर्मैव, निरपायाः पुरातनम् ।
पापाशयकरं चित्रं, निरूपक्रमसंज्ञकम् ॥३७३॥

अर्थ : अपायरहित (सर्व कर्मों से मुक्त-केवलज्ञानी, तीर्थंकरादि) पुरुषों ने पुरातन (पूर्वकालोपार्जित) विचित्र कर्म को ही अपाय कहा है, जो पापवृत्ति का हेतु है और जिसका नाम निरूपक्रम है।

अथवा

अपायरहित (सर्वकर्मों से मुक्त) पुरुषों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के, पूर्वोपार्जित, पापप्रवृत्ति करवाने वाले निरूपक्रम संज्ञा वाले कर्म को ही अपाय कहा है ॥३७३॥

विवेचन : यहाँ अपाय को कर्म कहा है, वास्तव में अपाय का अर्थ विघ्न होता है। हमारे इच्छित सुखों में विघ्न डालने वाले कर्म ही होते हैं, इसलिये यहाँ अपाय से कर्म के सिवाय और कुछ नहीं समझना। वह कर्म चित्र प्रकार का है-नाना प्रकार की प्रकृतियों वाला है, उसके मुख्य आठ भेद और अंसख्याता उनकी प्रकृतियां है। वह कर्म विचित्र प्रकार के अध्यवसायों से भिन्न-भिन्न प्रकार से बांधा जाता है। कर्म ग्रथों में इसकी विचित्रता स्पष्ट है। पुरातन-अनादिकाल से कर्म बंध ते रहते हैं और छूटते रहते हैं इस प्रकार की परम्परा का कर्मचक्र चलता ही रहता है। वह कर्म पापाशयकर, मोक्षपथ के प्रतिकूल चित्तवृत्तियों को बढ़ाने वाला है अर्थात् दुष्ट अध्यवसायों को बढ़ाने वाला है- जो संसार के चौरासी के चक्कर में भटकाने, फंसाने में मुख्य हेतु है। निरूपक्रम संज्ञा से तात्पर्य निकाचित नामक कर्म से है। कर्म दो प्रकार के कहे हैं — सोपक्रम और निरूपक्रम। सोपक्रम, उपक्रम लगने से अर्थात् संक्रमकादि करण के योग से कर्म की स्थिति, प्रकृति और रस आदि में परिवर्तन हो जाता है, जैसा बांधा जाता है वैसा भोगा नहीं जाता, अर्थात् जो शुभ अथवा अशुभ कर्म किसी शुभ या अशुभ अध्यवाय या अनुष्टान द्वारा नष्ट हो जाता है वह कर्म सोपक्रम कर्म है। और जो कर्म अत्यन्त चिकने अध्यवसायों द्वारा गाढ़ रस पूर्वक बांधा गया हो; वह निकाचित कर्म ही निरूपक्रम है। जिसमें किसी भी उपक्रम का कोई असर नहीं पड़ता। भोगने के अलावा छूटता ही नहीं- नष्ट नहीं होता, वह निरूपक्रम कर्म है।

घाती-अघाती कर्मरूप अपाय को नाश करने वाले तीर्थंकरादि महापुरुषों ने कर्मों की ऐसी व्याख्या की है ॥३७३॥

कण्टकज्वरमोहैस्तु, समो विघ्नः प्रकीर्तितः ।
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥३७४॥

अर्थ : इसीलिये (निरनुबंध योग के कारण ही) अन्य योगियों ने भी योगमार्ग के पथिकों के लिये (इसे) कंटक, ज्वर और मोह जैसा विघ्न बताया है ॥३७४॥

विवेचन : न केवल हमारे महापुरुषों ने निरनुबंध योग की ऐसी स्थिति बताई है । अन्य योगियों ने भी कहा है कि जैसे किसी ग्राम में पहुंचने के लिये, निकले हुये मुसाफिरों को मार्ग में कांटे, ज्वर, दिग्भ्रम आदि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट विघ्न बाधक बनते हैं; कोई दिग्भ्रम होने से भटक जाता है; कोई कण्टकाकीर्ण मार्ग होने से विलम्ब से पहुंचता है और किसी को ज्वर अथवा शारीरिक व्याधि उत्पन्न होने से वापिस भी आ जाना पड़ता है, वैसे ही मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त हुये योगियों को भी गाढ़ मिथ्यात्वरूप उत्कृष्ट मिथ्यात्वमोहनीय, मध्यम प्रकार का मिश्रमोहनीय और जघन्य प्रकार का सम्यक् मोहनीय रूप कर्म का उदय, जो तीन प्रकार का है वह अन्तराय करने वाला होता है। इन्हीं कर्मों के कारण कोई योगी लक्ष्यस्थान मोक्ष में विलम्ब से पहुंचता है, कुछ इस मार्ग से वापिस ही आ जाते हैं अर्थात् पतित हो जाते हैं और कुछ भटक भी जाते हैं । विघ्नानुसार उनकी गति होती है ॥३७४॥

अस्यैव सास्त्रवः प्रोक्तो, बहुजन्मान्तरावहः ।
पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्त्रवः ॥३७५॥

अर्थ : पूर्वोक्तानुसार इसी को (सापाय योगी के योग को ही) अनेक जन्मान्तरों को वहन करने वाला, सास्त्रवयोग कहते हैं, अनास्त्रवयोग तो एकजन्मा है ॥३७५॥

विवेचन : जिन योगियों को सापाय - विघ्नकारक मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय आदि घातीकर्मों की सत्ता और उदय लम्बे कालपर्यन्त, मोक्ष में विघ्नरूप होकर, उदय में आते हैं, वे योगी सापाय योगी कहे जाते हैं। ऐसे योगियों का योग आस्त्रव सहित होने से सास्त्रवयोग कहा जाता है । वह सास्त्रवयोग देव, मनुष्य, तिर्यञ्च, नरकादि चार गति, चौरासी के चक्कर में घूमाने वाला है । अनेक जन्म, जन्मान्तरों को देने वाला है, और वह भवभ्रमण करवाता है । यह बात पूर्व में निरूपक्रम कर्म, जो भोगे सिवाय छुटता नहीं, ऐसे (निकाचित कर्म को) कर्मरूप पाप के आस्त्रवों से युक्त होता है इसलिये सास्त्रव कहा जाता है । ऐसी आत्माओं का संसार दीर्घ होता है। परन्तु जिन योगियों को इस भव के सिवाय दूसरा कोई भव करने का नहीं होता; पूर्वोपार्जित शुभ

या अशुभ कर्म केवल भोगते हैं; नये कर्म का बंध जो जन्म का हेतु है, नहीं बांधते तथा सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्र का उपयोग तीव्र होता है। ऐसे अध्यात्म योगियों को अनास्रव योग होता है। वे इसी भव में शुद्ध क्षायिकभाव से, सर्वकर्मों को क्षय कर, सिद्धि पद को प्राप्त करते हैं ॥३७५॥

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवेह यन्मतः ।
स साम्परायिको मुख्यस्तदेषोऽर्थोऽस्य सङ्गतः ॥३७६॥

अर्थ : आस्रव ही बंध का हेतु है और बंध से ही जन्म है इसलिये सास्रवयोग साम्परायिक (काषायिक) है और इसका यही मुख्यार्थ यथार्थ है ॥३७६॥

विवेचन : टीकाकार ने टीका में बताया है 'आस्रवति-आपतति कर्म यस्मिन् स आस्रवः शुद्धोऽशुद्धश्च योगभूत आस्रवः' जिस मार्ग से शुभ या अशुभ कर्म आते हैं वह आस्रव है; वही (आस्रव) बंध का हेतु है। व्यवहारनय से कारण में कार्य का उपचार किया है वह उचित ही है। यह बात हमारे गीतार्थ पुरुषों को भी मान्य है, क्योंकि संसार का हेतु, ऐसा साम्परायिक रूप जो कषाय है वह बंध का हेतु होने से, उसे सास्रव योग कहते हैं, वह अर्थ उपयुक्त है ॥३७६॥

एवं चरमदेहस्य सम्परायवियोगतः ।
इत्वरास्रवभावेऽपि, स तथाऽनास्रवो मतः ॥३७७॥

अर्थ : इस प्रकार सम्परायकर्म के वियोग से, सूक्ष्म आस्रवभाव होने पर भी चरमशरीरी का योग अनास्रव माना है ॥३७७॥

विवेचन : जैसे सापाय-सकषाययोगी को सास्रवयोग कहा है वैसे ही चरमशरीरी-इसी भव में मोक्षगामी जीव के सम्पराय-कषायकर्म सब नष्ट हो जाते हैं। केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जब तक देह रहती है, तब तक शारीरिक और वाचिक ऐसे हलके लघु आस्रवकर्म होते हैं, परन्तु वे कर्म बंध न का कारण नहीं होते, उनकी तुरन्त निर्जरा होती रहती है। इसलिय उन चरमशरीरी महापुरुषों का योग अनास्रवयोग कहा गया है। संसार में जिसके पास अल्पवस्त्र हो उसे नग्न ही कहा जाता है। वैसे ही यहाँ अल्प आस्रव कर्म होने पर भी व्यवहारनय की अपेक्षा से उसे अनास्रव योग कहा है ॥३७७॥

निश्चयेनात्र शब्दार्थः, सर्वत्र व्यवहारतः ।
निश्चय-व्यवहारौ च, द्वावप्यभिमतार्थदौ ॥३७८॥

अर्थ : यहाँ (अनास्रव) शब्द का अर्थ निश्चय ही व्यवहारनय से किया है। सर्वत्र निश्चय और व्यवहारनय के अनुसार ही अर्थ इष्ट होता है ॥३७८॥

विवेचन : यहाँ अल्प आस्रव वाले सयोगी केवली के योग को जो 'अनास्रवयोग' कहा है, वह निश्चयनय की दृष्टि से नहीं कहा है, व्यवहारनय की दृष्टि से कहा है क्योंकि यहाँ पर व्यवहारनय से ही अर्थ अभीष्ट है। वैसे सर्वत्र निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों से अर्थ निश्चय किया जाता है। निश्चयनय की अपेक्षा से तो अयोगीकेवली का योग ही अनास्रव है। परन्तु यहाँ सयोगी केवली के आस्रव अल्प होने से व्यवहारनय की अपेक्षा से अनाश्रवयोग कहा है ॥३७८॥

संक्षेपात् सफलो योग, इति सन्दर्शितो ह्ययम् ।
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं, ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः ॥३७९॥

अर्थ : (इस प्रकार) संक्षेप से फल सहित योग (अध्यात्मादियोग) बताया है। इसके आदि-अन्तिम (अध्यात्म और वृत्तिसंक्षय) भेद को पुनः विशेष स्पष्ट करते हैं ॥३७९॥

विवेचन : अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप योग को श्लोक ३५१ से ३६१ तक फल सहित बता चुके हैं। अध्यात्म क्या है ? और उसका फल क्या हैं ? भावना किसे कहते हैं और उससे क्या-क्या लाभ होता है? ध्यान क्या है और उसका परिणाम क्या है ? समता क्या वस्तु है और उसका जीवन पर क्या प्रभाव है, इस प्रकार संक्षेप में फल सहित योग बताया है। अतः पुनः इन पाँचों भेदों में से आदि-अध्यात्म को और अन्तिम वृत्तिसंक्षय रूप योग को विशेष प्रकार से विस्तारपूर्वक बताते हैं ॥३७९॥

तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु ।
उक्तं विचित्रमेतच्च, तथावस्थादिभेदतः ॥३८०॥

अर्थ : उचितता पूर्वक तत्त्वस्वरूप का चिन्तन करना अध्यात्म योग है तथा इसे अवस्थादिभेद से अनेक प्रकार का कहा है ॥३८०॥

विवेचन : औचित्यगुण से युक्त और आदि शब्द से मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावना पूर्वक तत्त्व चिन्तन (तत्त्वस्वरूप का विचार करना) अर्थात् पारमार्थिक भावना को ही अध्यात्म कहा है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रूप अवस्थाभेद से वह अनेक प्रकार है ॥३८०॥

आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते ।
देवतानुग्रहाङ्गत्वादतोऽयमभिधीयते ॥३८१॥

अर्थ : (योगमार्ग में) प्रथम क्रिया का आधार जप है इस अपेक्षा से (जप को) अध्यात्म कहा है, यह देवता के अनुग्रह का अंग (कारण) है, इसलिये यह (प्रथम - अध्यात्म योग) कहा जाता है।

अथवा

प्राथमिकता की अपेक्षा से जप को अध्यात्मयोग कहा है क्योंकि वह देवता के अनुग्रह का अंग (कारण) है । इसलिये यह प्रथम अंग कहा जाता है ॥३८१॥

विवेचन : योगमार्ग में प्रवेश पाने के लिये 'इष्टदेव के स्मरणरूप' 'जाप' मंगलाचरणरूप है । वह (योग का प्रथम अंगरूप) जाप हाथ के पर्वों पर अथवा नवकारवाली (माला) द्वारा भी किया जाता है । उससे धीरे-धीरे मन की एकाग्रता बढ़ती है और मानसिक स्थिरता बढ़ने से उस जाप के अधिष्ठायक देव की साधक पर अनुग्रह-कृपा होती है, अत: जाप योग में प्रवेश करने का मंगलद्वार है और इसीलिये योगियों ने उसे अध्यात्मयोग में स्थान दिया है ।

ग्रंथकर्ता का आशय है जाप से मानसिक स्थिरता बढ़ती है जो योग के लिये सर्वप्रथम अनिवार्य वस्तु है इसीलिये जाप को योग का प्रथम अंग माना है ॥३८१॥

जप: सन्मन्त्रविषय: स चोक्तो देवतास्तव: ।
दृष्ट: पापापहारोऽस्माद्, विषापहरणं यथा ॥३८२॥

अर्थ : (योगियों ने) देवता के स्तवन को जप कहा है, वही मंत्र का सच्चा विषय है । इससे (जाप से) पापनष्ट होते हैं जैसे कि विषापहारी मंत्रों से विष नष्ट हो जाता है ॥३८२॥

विवेचन : एक ही मंत्र को बार-बार परावर्तन करना, पुन:-पुन: गिनना 'जाप' होता हैं। वह इष्टदेव की स्तुतिरूप होता है, यही उसका सच्चा विषय है । मंत्रजाप से मंत्र का अधिष्ठाता देव प्रकट होता है, प्रसन्न होता है । क्योंकि मंत्र सच्चे शक्तिशाली देव विशेष से अधिष्ठित होता है इसलिये ऋषभदेव, शांतिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीरस्वामी आदि किसी भी तीर्थंकर के नाम के साथ ॐ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ आदि प्रणव आदि बीज मन्त्रों के साथ, नम: से स्वाहा पर्यन्त गिनना अर्थात् "ॐ ह्रीँ श्रीँ क्लीँ ऋषभनाथाय नम: स्वाहा", इसी प्रकार अन्य चौबीस तीर्थंकर अथवा किसी भी इष्ट देव का जाप सच्चा मंत्ररूप होता है। उसकी नवकारवाली गिनना, अंगुली के पर्वों पर खुला जाप करना भी अध्यात्मयोग का प्रथम अंग है-भेद है । उसका फल यह है कि मंत्र जाप से मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद आदि महापाप नष्ट हो जाते हैं । जैसे किंपाक, अफीम, कटुतुम्बड़ी आदि का स्थावर विष और सर्प, बिच्छु आदि का जंगम विष, विविध विष विषापहारी मंत्रों के जाप से नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही परमात्मा के जाप से जन्म, जरा, मृत्यु रूप भवभ्रमण के, हेतुरूप मिथ्यात्वादि नष्ट हो जाते हैं ॥३८३॥

देवतापुरतो वाऽपि, जले वाऽकलुषात्मनि ।
विशिष्टद्रुमकुञ्जे वा, कर्तव्योऽयं सतां मत: ॥३८३॥

अर्थ : सत्पुरुषों का मानना है कि जाप देवता के आगे, जल के पास अकलुषितमन से, उत्तम प्रकार के वृक्ष, पेड़, कुंजों आदि में करना चाहिये ॥३८३॥

विवेचन : महापुरुषों ने जाप के लिये कितने सुन्दर स्थलों का निर्देश किया है, क्योंकि व्यक्ति की मानसिक स्थिरता के लिये स्थल और वातावरण महत्त्वपूर्ण योगदान करते हैं । उन्होंने कहा है कि जिसकी मूर्ति सात्त्विक, सौम्य, आल्हादक हो तथा प्रेम और शान्ति प्रदान करे; न कि भय पैदा करें ऐसे सात्विकगुण वाले वीतरागदेव के मन्दिर में, उनकी प्रशान्तमुद्रा के सम्मुख बैठकर, जप करना चाहिये अथवा निर्मल नदी या सरोवर के किनारे बैठकर करना चाहिये । (दूसरा स्थान नदी का निर्मल तट बताया है) । श्री वाचक यशोविजयजी ने सरस्वती का एक करोड़ जाप गंगा किनारे बैठकर किया था और देवता को प्रसन्न किया था । अकलुषित मन से सभी प्रकार के विषय कषायों को दूर करके, शुद्ध मन से जाप करना चाहिये और फिर उपवन, उद्यान, बगीचे जहाँ प्रचुरमात्रा में वृक्ष, पेड़ और लताकुञ्ज हो वही बैठकर, जाप करना चाहिये । ग्रंथकर्ता ने साथ में अकलुषित आत्मा शब्द इसलिये दिया है कि जितना महत्त्व बाह्य शुद्ध वातावरण का है उससे भी अधिक आत्मा की उज्जवलता का है, दोनों परस्पर उपकारक हैं ॥३८३॥

पर्वोपलक्षितो यद् वा, पुत्रंजीवकमालया ।
नासाग्रस्थितया दृष्ट्या, प्रशान्तेनान्तरात्मना ॥३८४॥

अर्थ : अंगुलियों के पर्वों से अथवा रुद्राक्षमाला से नासाग्र दृष्टि स्थिर करके, प्रशान्त चित्त से (जाप करना चाहिये) ॥३८४॥

विवेचन : पर्वोपलक्षित जाप–अंगुलियों के पर्वों का प्रदक्षिणा पूर्वक नों बार जाप करने से १०८ जाप होता है । तात्पर्य यह है कि चाहे अंगुलियों के पर्वों से या रुद्राक्षमाला से, नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करके, प्रसन्न और प्रशमभाव से पूर्ण प्रशान्त चित्त से जाप करना चाहिये ।

रुद्राक्षमाला को पुत्रंजीवक नाम से सम्बोधित किया है । रुद्राक्ष नामक वनस्पति के फल की माला को रुद्राक्षमाला कहते हैं । वैष्णवों में इसका अधिक प्रचलन है । शायद श्रीहरिभद्रसूरिजी को अपना पारम्परिक नाम याद रहा होगा । रुद्राक्षमाला शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रोगों को दूर करने की शक्ति रखती है अतः इसका बहुत बडा महत्त्व है ॥३८४॥

विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु तथेष्यते ।
अर्थे चालम्बने चैव, त्यागश्चोपप्लवे सति ॥३८५॥

अर्थ : जप करते समय मंत्र के वर्णों पर, अर्थ पर और आलम्बन पर (प्रतिमादि पर) मन की वृत्ति को स्थिर करना चाहिये, चित्त चंचल होने पर उसका त्याग करना चाहिये ॥३८५॥

विवेचन : जप करते समय मन्त्र के अक्षरों पर और अर्थ पर, मन की वृत्ति ऐसी स्थिर

होनी चाहिये जैसे हम किसी वीतराग की प्रतिमा के सामने बैठे हैं। मंत्र के वाच्यार्थ के अनुसार अधिष्ठायक देव का नाम स्मरण, आदर और बहुमान पूर्वक उनके गुणों में मन की वृत्तियों को लगा देने से चित्त स्थिर हो जाता है। एकाग्रता में वृद्धि होती है; मन के परिणाम शुद्ध होते हैं और इस प्रकार योग की शुद्धि होती है; ऐसा प्रयत्न करने पर भी यदि मन की वृत्तियां चंचल हो जाय; मन स्थिर न रहे तो थोड़ी देर के लिये जाप को छोड़ दे।

कहने का तात्पर्य यह है कि मंत्र का जाप करते समय मन को मंत्र के अक्षरों पर और अर्थ पर, प्रतिमा पर केन्द्रित करें और उस मंत्र के वाच्य अर्थ के अनुसार मंत्राधिष्ठातादेव के गुणों में, उनके विशिष्ट जीवन में, मन को इस प्रकार लगा दे कि चित्त अन्यत्र कहीं भी न जा सके। लेकिन ऐसा करने पर भी मन स्थिर न रहे तो उसके साथ जबरदस्ती न करें। थोड़ी देर के लिये जाप छोड़ दें। क्योंकि जबरदस्ती से मन शान्त होने के बजाय और अधिक उच्छृंखल हो उठता है ॥३८५॥

मिथ्याचारपरित्याग आश्वासात् तत्र वर्तनम् ।
तच्छुद्धिकामना चेति, त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः ॥३८६॥

अर्थ : ऐसा यह (मन की क्षुब्ध उपप्लवस्थिति में जप का त्याग) त्याग, त्याग नहीं होता क्योंकि उसमें (मंत्रजाप में) मिथ्याचार का त्याग, उसके परित्राण की (जपरक्षा की) प्रवृत्ति और शुद्धि की कामना रही हुई हैं ॥३८६॥

विवेचन : जब मन की स्थिति क्षुब्ध हो उठे - चंचल हो जाय तब मंत्रजाप का त्याग करना ही उचित हैं, क्योंकि अव्यवस्थित चित्त से किया मंत्रजाप इष्टफल को नहीं दे सकता। इसलिये इस अवस्था में जाप का त्याग करने से मिथ्याचार-मिथ्या आचार, बाहर का दिखावा, छल, कपट, दम्भ का त्याग होता है, क्योंकि अन्दर तो कोलाहल है और बाहर योगी दिखता है। अन्दर कुछ है; बाहर कुछ और है तो यह दम्भ और मिथ्याचार ही हुआ, और ऐसी स्थिति में जाप का त्याग करने से मिथ्या आचार का त्याग हुआ। जबरदस्ती जाप करने से दुष्ट इन्द्रिय विकारों का निरोध होने के बजाय उन्माद हो जाता है और महामिथ्यात्व का उदय हो जाता है तथा आत्मा योगमार्ग से भ्रष्ट हो जाती है। इसलिये चंचल अवस्था में जप, ध्यान, समाधि नहीं की जाती। मंत्रजाप श्वासोश्वास में व्याप्त होना चाहिये। अर्थात् दूध में जल की भांति जब श्वासोश्वास मंत्रमय, एकरूप, एक रस हो जाता है तभी वह इष्ट फल सिद्धि में हेतु बनता है। जिस आत्मा की चित्तवृत्ति शुद्ध नहीं, उसे योगमंत्र के जाप का अधिकार नहीं, क्योंकि जाप में मन, वचन और काया की शुद्धि अनिवार्य है। इसलिये कहा है कि जब मन की शुद्धि न हो तब जाप का त्याग करना चाहिये। ऐसी स्थिति में जाप के त्याग से जाप का अनादर नहीं; अपितु सच्चे अर्थ में तो आदर ही होता है। आशय यह है कि मन की उपप्लव क्षुब्ध स्थिति को शुद्ध करने की कामना, मिथ्याचार के

त्याग करने की भावना, श्वासोश्वास में मंत्र को आत्मसात् करने की भावना से छोड़ा गया जाप, छोड़ा गया नहीं कहा जाता, अपितु स्थिति को सुधारने में उपयोगी सिद्ध होता है, इसलिये ऐसा त्याग वास्तव में त्याग नहीं ॥३८६॥

यथाप्रतिज्ञमस्येह, कालमानं प्रकीर्तितम् ।
अतो ह्यकरणेऽप्यत्र, भाववृत्तिं विदुर्बुधाः ॥३८७॥

अर्थ : इसका (जाप का) कालमान यहाँ प्रतिज्ञानुसार कहा है; प्रतिज्ञा से उपशान्त काल में, जप न चलता हो; तब भी भावनारूपी वृत्ति को यहाँ बुद्धिमानों ने (जपतुल्य) माना है ॥३८७॥

विवेचन : जप का समय अपनी धारणानुसार निश्चित किया जाता है । कब-कितना समय मुझे जाप करना है व्यक्ति मन में जैसा धारण कर ले; प्रतिज्ञा कर ले; अभिग्रह धारण कर ले, तब तक वह कर सकता है । जैसे सामायिक का कालमान दो घड़ी की प्रतिज्ञारूप है वैसे ही ध्यानकर्ता या जापकर्ता अपनी प्रतिज्ञानुसार जाप का कालमान निश्चित करता है । उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो चुकी हो; तदुपरान्त भी उसकी मनोवृत्ति शुद्ध और पवित्र हो, तब भले ही जाप न भी चलता हो, फिर भी बुद्धिमानों ने उसे जपतुल्य ही माना हैं, क्योंकि चित्तशुद्धि जप की आधारशिला है ॥३८७॥

मुनीन्द्रैः शस्यते तेन, यत्नतोऽभिग्रहः शुभः ।
सदाऽतो भावतो धर्मः, क्रियाकाले क्रियोद्भवः ॥३८८॥

अर्थ : (जप के अन्य समय में) यत्नपूर्वक शुभ अभिग्रह धारण करने को मुनीश्वरों ने प्रशस्त माना है, क्योंकि सदा भाव से ही धर्म का लाभ होता है । क्रिया के समय क्रियोद्भव धर्म होता है ॥३८८॥

विवेचन : जाप के सिवाय अन्यत्र काल में भी साधक को शुभ-अभिग्रहों को धारण करना मुनियों ने प्रशस्त बताया है । जाप संपूर्ण हो चुका हो, बाद में भी मन को प्रयत्नपूर्वक शुभ अभिग्रहों संकल्पों में लगाना चाहिये । जैसे मन का निग्रह करने के लिये अशुभ व्यापारों को छोड़ने का दृढ़ संकल्प पूर्ण निश्चय करना, मन को शुभ में लगाने के लिये जिनपूजा, गुरु-भक्ति, गुण, स्तुति, विनय, वैयावृत्य, तप, उपवास आदि करने का सकंल्प, शुभ मैत्री, प्रमोद, कारुण्य आदि चारों भावनाओं को धारण करने का (अभिग्रह-दृढ़ निश्चय करना), परिषह और उपसर्ग आने पर भी धर्म मार्ग पर अड़िग रहने का जो शुभ संकल्प है उसे मुनियों ने प्रशस्त बताया है । क्योंकि भावशुद्धि योग के लिये अनिवार्य है । वह तो योग की नींव है । उसी से हमेशा धर्म का, पुण्य का लाभ होता है और भावयुक्त क्रिया ही इष्टफल को देती है।

संक्षेप में मुनियों ने भावधर्म को प्रधान बताया है क्योंकि परिणामशुद्धि ही योग की आधार शिला है । शुभ और सत्संकल्प प्रशंसनीय है, क्योंकि वहीं साधक को उपर उठाता है ॥३८८॥

स्वौचित्यालोचनं सम्यक्, ततो धर्मप्रवर्तनम् ।
आत्मसंप्रेक्षणं चैव, तदेतदपरे जगुः ॥३८९॥

अर्थ : निज योग्यता का सम्यक् प्रकार से पर्यालोचन करना, तत्पश्चात् धर्म में प्रवृत्ति करना और आत्म संप्रेक्षण (इन तीनों) को अन्य शास्त्रकारों ने अध्यात्म कहा है ॥३८९॥

विवेचन : अन्य शास्त्रकारों ने भी बताया है कि सर्वप्रथम साधक को अपनी शक्ति, सामर्थ्य और योग्यता का अच्छी तरह से परीक्षण कर लेना चाहिये कि मेरी शक्ति कितनी हैं ? योग्यता कितनी हैं ? अपनी शक्ति और योग्यता की मर्यादा को बराबर लक्ष्य-ध्यान में लेकर ही धर्म विषयक तप, जप, भावपूजा, द्रव्यपूजा, गुरुभक्ति, जिनपूजा, भावना, कायोत्सर्ग, ध्यान, समाधि आदि जो-जो धर्मानुष्ठान करने योग्य हो उसमें यथाशक्ति प्रवृत्ति करनी चाहिये । ऐसा करने से जरूर आत्मशुद्धि होती है । मोहनीय कर्म के आवरण पतले पड़ते हैं और आत्मगुणों का विकास होता है । आत्मबोध होता है। अतः आत्मा की योग्यता की विचारणा, धर्मक्रिया में भावसहित प्रवृत्ति और उससे होने वाले आत्मबोध (इन तीनों को) अध्यात्म कहा है ॥३८९॥

योगेभ्यो जनवादाच्च, लिङ्गेभ्योऽथ यथागमम् ।
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमाः ॥३९०॥

अर्थ : योगमार्ग में किया है श्रम जिन्होंने, ऐसे योगियों ने बताया है कि योगों से (मन, वचन, काया के योग से), लोक प्रवाह से तथा निमित्तों से आगम के अनुसार (जो भी धर्मप्रवृत्ति करे) अपनी शक्ति की मर्यादा का पर्यालोचन करके करे ॥३९०॥

विवेचन : योगाभ्यासियों ने कहा है कि मन, वचन और काया के योग से जो उचित प्रवृत्ति हो सकती है; लोकव्यवहार के अविरुद्ध वह प्रवृत्ति हो सकती है और पशु, पक्षी आदि के मुख से सहसा निकले शब्दों से, शकुन निमित्तों से जो उचित प्रवृत्ति हो सकती है वह आगमशास्त्रानुसार होनी चाहिये और अपनी शक्ति की मर्यादा को ध्यान में रखकर होनी चाहिये । यही प्रथम अध्यात्मयोग का प्रथम अंगरूप स्वौचित्यालोचन है ॥३९०॥

योगाः कायादिकर्माणि, जनवादस्तु तत्कथा ।
शकुनादीनि लिङ्गानि, स्वौचित्यालोचनास्पदम् ॥३९१॥

अर्थ : कायादि की प्रवृत्ति योग है, लोक सम्बंधी कथा जनवाद है और शकुनादि लिंग है (ये) स्वौचित्यालोचन के स्थान हैं ॥३९१॥

विवेचन : मन, वचन और काया की व्यापार प्रवृत्ति को योग कहते हैं । लोक कथा- जो आत्मा को उपयोगी हो, और धर्मानुसार कही जाती हो, जो पापाचरण में हेतु न बनती हो ऐसी लोककथा के सम्बंध में और लिंग-पशु, पक्षी या मनुष्य के मुख से सहसा निकले हुये वचन जिसे

उपश्रुति कहते हैं, उनके निमित्तों का विचार करके, भावी शुभाशुभ का निश्चय करना। इस प्रकार योग, जनवाद और लिंग ये तीनों चीजें विचारणीय हैं। इन तीनों की उचित प्रवृत्ति अपनी योग्यता का विचार करके, विवेकपूर्वक करनी चाहिये, तभी योग्य लाभ हो सकता है ॥३९१॥

एकान्तफलदं ज्ञेयमतो धर्मप्रवर्तनम् ।
अत्यन्तं भावसारत्वात् तत्रैवप्रतिबन्धतः ॥३९२॥

अर्थ : इससे (स्वौचित्यालोचन के पश्चात्) निश्चय ही धर्म की प्रवृत्ति अत्यन्त भाव प्रधान होने से फलदायक सिद्ध होती है, क्योंकि वहाँ प्रतिबंध का अभाव है ॥३९२॥

विवेचन : अपनी शक्ति को माप लेने के पश्चात् उचितप्रवृत्ति पूर्वक जो धर्मानुष्ठान आदि किये जाते हैं, वे हृदय की उच्च भावना से युक्त होते हैं। भावपूर्ण हृदय से की गई धर्मप्रवृत्ति अवश्यमेव इष्टफल को देती है, क्योंकि जहाँ भाव की प्रधानता है वहाँ कोई भी अन्तराय-प्रतिबंध टिक नहीं सकता। भावना का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसके बिना किया जाने वाला अनुष्ठान, नमक रहित भोजन जैसा हो जाता हैं ॥३९२॥

तद्भङ्गादिभयोपेतस्तत्सिद्धौ चोत्सुको दृढम् ।
यो धीमानिति सन्न्यायात्, स यदौचित्यमीक्षते ॥३९३॥

अर्थ : उस (धर्म प्रवृति) का भंग न हो जाय, ऐसे भय से युक्त और उस (धर्म प्रवृति) की सिद्धि के लिये अत्यन्त उत्सुक, जो बुद्धिमान साधक, न्याययुक्त सन्न्याय से (धर्मप्रवृत्ति) करता है, वह औचित्य को देखता है ॥३९३॥

विवेचन : योग साधक सतत सावधान रहता है कि कहीं योग सम्बन्धी जो धर्म प्रवृत्ति चलती है, सम्यक्दर्शन, ज्ञान और चारित्रमय यम, नियम, तप, जप, ध्यानादि उसमें जरा भी, कभी कोई नियम टूट न जाय; वीर्याचार का भी कोई अतिचार दोष न लग जाये। इस प्रकार पापभीरु साधक सतत अप्रमत्त रहकर, उपयोग पूर्वक सभी धर्म प्रवृत्ति करता है और उसकी सिद्धि के लिये सदा उत्सुक रहता है, कि कब योगमार्ग में मैं पूर्ण बनूंगा ? कब मुझे सिद्धि पूर्णता प्राप्त होगी ? इस प्रकार की सतत आतुरता-उत्सुकता जिसके हृदय में है ऐसा श्रीमान-बुद्धिमान ही वस्तुतः न्याय से योगधर्म का अधिकारी जानना चाहिये। क्योंकि बुद्धिमान ही उचितप्रवृत्तिरूप अपने कर्तव्य को समझ सकता है। पापभीरु और सिद्धि उत्सुक योगी ही औचित्य की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है ॥३९३॥

आत्मसंप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि ।
पापकर्मोदयादत्र, भयं तदुपशान्तये ॥३९४॥

अर्थ : प्रारम्भ की गई धर्म प्रवृत्ति में पापकर्म के उदय से, उसमें (भंगादि की) जो भीति है, उसे शान्त करने के लिये आत्मसंप्रेक्षण, आत्मनिरीक्षण करना चाहिये ॥३९४॥

विवेचन : स्वौचित्यालोचन के पश्चात् साधक जब धर्म में प्रवृत्ति करता है, तो उसे डर रहता है कि कहीं पूर्वकृत पापकर्म के उदय से, शुरु किये हुये मेरे धर्मकार्यों में किसी प्रकार का विघ्न न आ जाये, क्योंकि विघ्न आने से भंगादि और अतिचार आदि दोष मुझे लगेंगे । इस प्रकार उसकी आत्मा पाप से डरती है। उन विघ्नों की शान्ति के लिये साधक को आत्म स्वरूप का निरीक्षण करना-मुझे क्या करना चाहिये ? कैसे करना चाहिये ? क्या त्यागना और क्या ग्रहण करना चाहिये ? आदि में आत्मा की शक्ति-वीर्य का विचार करना, विघ्नशान्ति का लक्ष्य रखना भी अध्यात्म-योग कहा जाता है । क्योंकि वह प्राप्त हुये धर्म की रक्षा की प्रवृत्ति करवाता है ॥३९४॥

विस्त्रोतोगमने न्याय्यं, भयादौ शरणादिवत् ।
गुर्वाद्याश्रयणं सम्यक्, ततः स्याद् दुरितक्षयः ॥३९५॥

अर्थ : उन्मार्ग गमन का भय उपस्थित होने पर, न्याययुक्त यही है कि (वह) शरणादि की भांति गुरु आदि का आश्रय सम्यक् प्रकार से ग्रहण करे उससे दुरित-पाप (दुर्गति) का क्षय होता है ॥३९५॥

विवेचन : साधक की चित्तवृत्ति यदि उन्मार्गगामी हो जाय और आत्मपतन का भय उपस्थित हो जाय, तब कहते हैं कि न्याययुक्त यही है कि वह गीतार्थ गुरु की शरण में आ जाय। जैसे पर-राज्य का भय उपस्थित होने पर कोट, किला, दुर्ग उसकी रक्षा के लिये होता है । रोग के लिये चिकित्सा, भूतग्रहपीड़ा आदि के लिये मंत्र का शरण, योग्य और आवश्यक है। इसी प्रकार आत्मपतन का प्रसंग उपस्थित होने पर महागीतार्थ गुरुओं की - धार्मिक पुरुषों की शरण ग्रहण करना चाहिये । क्योंकि उनके बताये मार्ग पर चलने से महान् लाभ प्राप्त होता है; पापसमूह सब नष्ट हो जाते है । उन्मार्ग प्रवृत्ति जिस पाप कर्मोदय से हुई हो वह भी नष्ट हो जाती है, समाप्त हो जाती है। देवगुरु और धर्म की अचिन्त्यशक्ति है ऐसी दृढ़ श्रद्धायुक्त भावना और प्रवृत्ति को भी अध्यात्मयोग कहते हैं ॥३९५॥

सर्वमेवेदमध्यात्मं, कुशलाशयभावतः ।
औचित्याद् यत्र नियमाल्लक्षणं यत् पुरोदितम् ॥३९६॥

अर्थ : औचित्यालोचनादि का जो निश्चित स्वरूप पूर्व में बता चुके हैं, कुशल-प्रशस्त आशय होने से वे सब अध्यात्मयोग है ॥३९६॥

विवेचन : प्रशस्तचित्त और प्रशस्त भावना से किये गये सभी अनुष्ठान, अध्यात्मयोग में समा जाते हैं पूर्व में हमने जो औचित्यालोचन, धर्म प्रवृत्ति आदि का निश्चित स्वरूप बताया है उसमें भी प्रशस्तभावना की प्रधानता है, भाव प्रधान होने से ये भी सभी अध्यात्म में ही समाविष्ट हो जाते हैं ॥३९६॥

देवादिवन्दनं सम्यक्, प्रतिक्रमणमेव च ।
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत्, सत्त्वादिष्वपरे विदुः ॥३९७॥

अर्थ : अन्य आचार्य सम्यक् प्रकार से किये गये देव-गुरु वन्दन को, प्रतिक्रमण को और सभी प्राणियों में मैत्र्यादिभाव के चिन्तन को अध्यात्म कहते हैं ॥३९७॥

विवेचन : सर्व रागद्वेषादि दोषों से रहित, ऐसे सुदेव - वीतराग परमात्मा को और साधु के २७ और आचार्य के ३६ गुणों से युक्त सुगुरु को प्रशस्त भाव से वन्दन-नमस्कार करना, सेवाभक्ति करना, उनकी आज्ञा में रहना, उनकी हर प्रकार से सम्हाल-सुरक्षा का उत्तमभाव मन में रखना तथा सम्यक् प्रतिक्रमण; जिसके लक्षण निम्न है :-

स्वस्थानाद् यत्पर स्थानं प्रमादस्य वशात् गतः ।
भूयोऽपि-आगमनं तत्र, प्रतिक्रमणमुच्यते ॥

अर्थ : स्वदशा से प्रमाद, कषाय, मिथ्यात्व के कारण परदशा में चले जाना और सम्यक्ज्ञान से अपनी स्वदशा में व्रत-पच्चखाण आदि में आत्मा को पुनः ले आना प्रतिक्रमण है। Return to home जो मनोवृत्तियां बाहर भटकने के लिये चली गई है, उन्हें पुनः आत्मघर में वापिस लाना। ऐसा वास्तविक प्रतिक्रमण करना, पुनः आत्मा को परदशा में जाने न देना और स्वदशा में स्थिर करना तथा सभी प्राणियों पर मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना रखना, ये सब अध्यात्म है, ऐसा अन्य आचार्य भी कहते हैं ॥३९७॥

स्थानकालक्रमोपेतं, शब्दार्थानुगतं तथा ।
अन्यासंमोहजनकं, श्रद्धासंवेगसूचकम् ॥३९८॥

प्रोल्लसद्भावरोमाञ्चं, वर्धमानशुभाशयम् ।
अवनामादिसंशुद्धमिष्टं देवादिवन्दनम् ॥३९९॥

अर्थ : स्थान, काल और क्रमसहित, शब्दार्थसहित, अन्य को भ्रांति न पैदा करने वाला, श्रद्धा और वैराग्य को अभिव्यक्त करने वाला, भावों को उल्लसित करके, रोमाञ्च पैदा करने वाला, शुभपरिणामों को बढ़ाने वाला, अवनामन यथाजात आदि क्रियाविशेषों से संशुद्ध ऐसा देवादि वन्दन इष्ट है ॥३९८-३९९॥

विवेचन : कैसा देवादिवन्दन अध्यात्मकोटि में आता है ? उसे किस प्रकार करना चाहिये ? बताते हैं कि वह देवादिवन्दन स्थान, काल और क्रम सहित होना चाहिये अर्थात् शरीर संस्थान को शास्त्रविहित विधि से यथायोग्य रखकर यानी शास्त्र में चैत्यवन्दन की विधि-किस आसन और किस मुद्रा में बैठकर, चैत्यवन्दनादि करना लिखा है, उसके अनुसार बैठ कर और शास्त्रविहित काल के

अनुसार प्रातः, दोपहर और सायं तीनों संध्याओं के समय तीन बार, बराबर काल का समुचित ध्यान रखकर, क्रम सहित प्रणिपात पंचांग खमासमण और दण्डकादि से युक्त देववन्दन होने चाहिए। देववन्दन में जो सूत्र बोले जाते है; उनके शब्दों का उच्चारण बिल्कुल शुद्ध और स्पष्ट होना चाहिये ताकि अर्थ अनुगत हो सके-स्पष्ट हो सके। वह अन्य को उपसंमोहजनक होनी चाहिये। प्रभु की स्तुति, स्तवनादि इतनी शान्ति से और युक्त स्वर - मध्यमस्वर से एवं मधुरता से गाया जाना चाहिये कि पास में बैठे साधकों को किसी प्रकार से बाधक न बने। वे श्रद्धा और वैराग्य गर्भित हो। देवादिवन्दन करते-करते भक्तिरस इतना उल्लसित हो उठे कि शरीर के रोम-रोम खड़े हो जायें। भावविभोर कर देने वाला, (सतत शुभभावों में वृद्धि करने वाला) प्रतिक्षण शुभाशय को बढ़ाने वाला, परमात्मा के प्रति खूब आदर बहुमान सहित अवनाम-यथाजातादि मुद्रा से संशुद्ध देवादिवन्दन यहाँ पर इष्ट है।

जिस देवादिवन्दन में भावों का उद्रेक, क्रिया की शुद्धि, उच्चारण की स्पष्टता और हृदय की पवित्रतादि उपर्युक्त तत्त्व विद्यमान हैं, ऐसा उपरोक्त देवादिवन्दन अध्यात्मकोटि में आता है, अन्य नहीं ॥३९८-३९९॥

प्रतिक्रमणमप्येवं, सति दोषे प्रमादतः।
तृतीयौषधकल्पत्वाद्, द्विसन्ध्यमथवाऽसति ॥४००॥

अर्थ : इस प्रकार प्रमादवश दोष होने पर प्रतिक्रमण भी दोनों काल करना चाहिये। दोष न होने पर भी (करना) वह तृतीय औषधि के समान (कल्याणकारी) है ॥४००॥

विवेचन : इसी प्रकार - देवादिवन्दन न्याय के अनुसार प्रमादवश पांच समिति, तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता में और गुरु के विनय आदि भंग का दोष लग जाने पर छः आवश्यकरूप प्रतिक्रमण भी दोनों काल, प्रातः और सायं को करना चाहिये। इससे सभी दोष दूर हो जाते हैं और कभी दोष या प्रमाद न हुआ हो तो भी तीसरी औषधि के समान लाभदायी ही होता है। औषधियाँ तीन तरह की मानी जाती है — (१) एक औषधि वह होती है जो रोग हो, तो उसका नाश करती है परन्तु रोग न हो तो रोग पैदा करती है। (२) दूसरी औषधि वह होती है जो रोग हो, तो मिटा देती है, परन्तु रोग न हो तो लाभ हानि कुछ नहीं करती और (३) तीसरी औषधि वह होती है जो रोग हो तो मिटा देती हैं, परन्तु रोग न हो, तो नुकसान तो नहीं करती, अपितु तुष्टि, पुष्टि, बल, शक्ति और तेज बढ़ाती है। ग्रंथकार ने प्रतिक्रमण को तीसरी औषधि की उपमा देकर बताया है कि दोनों समय प्रतिक्रमण करना चाहिये। प्रतिक्रमण भी पूर्वोक्त देवादिवंदन की विधि बताई है, वैसे पवित्र भावों से करना चाहिये। इस तरह करने से दोष नाश होंगे अगर दोष न हुये तो गुणों की वृद्धि होगी और कल्याणकारी होगा।

संक्षेप में प्रतिक्रमण – षट्आवश्यकरूप कर्तव्य है और समिति-गुप्ति-गुरुविनयादि भंगरूप जो दोष हैं, वे दोनों काल प्रतिक्रमण करने से दूर होते हैं और दोष न होने पर भी करना, तृतीय औषधि के समान कल्याणकारी है ॥४००॥

निषिद्धासेवनादि यत्, विषयोऽस्य प्रकीर्तितः ।
तदेतद् भावसंशुद्धेः, कारणं परमं मतम् ॥४०१॥

अर्थ : निषिद्ध का सेवन करने से जो अतिचार लगते हैं उसकी शुद्धि के लिये ही प्रतिक्रमण किया जाता है, क्योंकि प्रतिक्रमण भावशुद्धि-अन्तःकरण की शुद्धि का परम साधन माना है ॥४०१॥

विवेचन : कहा भी है :-

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे य पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परुवणाए अ ॥ वंदितु सुत्र गाथा ४८

तीर्थंकर वीतराग परमात्मा अथवा गीतार्थ महापुरुषों द्वारा प्रतिनिषीद्ध आचार-विचारों को करना और शास्त्रविहित आचार-विचारों को नहीं करना, वीतरागदेवों के प्रति अश्रद्धा रखना और उनकी आज्ञा से विपरीत प्ररूपणा करना, अतिचाररूप है-दोषरूप है। दिनभर में लगे उन अतिचारों को शुद्ध करने के लिये ही प्रतिक्रमण किया जाता है, उनकी शुद्धि करना ही प्रतिक्रमण का विषय है। अर्थात् प्रतिक्रमण का यही काम है कि वह लगे दोषों को मूल से नष्ट कर देता है, क्योंकि वह (प्रतिक्रमण) हृदयशुद्धि का मुख्य साधन है। प्रतिक्रमण करने से दोष क्षय होते हैं और सम्यक्दर्शन शुद्ध होता है। वीतराग देव के प्रति आदर, बहुमान और श्रद्धा पैदा होती है। उनकी सेवा पूजा करने में मन संलग्न होता है। चित्त के दोष मिट जाने से हृदय शुद्ध हो जाता है। अध्यवसाय निर्मल हो जाते हैं। इसलिये प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि का परम हेतु कहा गया है।

रात्रि में लगे अतिचारों को शुद्ध करने के लिये, प्रातः उठते ही प्रतिक्रमण किया जाता है और दिन में लगे अतिचारों की शुद्धि के लिये, सायं को प्रतिक्रमण किया जाता है। इस प्रकार प्रातः काल और सायं दोनों काल प्रतिक्रमण करके, साधक पाप के भार से मुक्त हो जाता है। इसलिये इसे हृदयशुद्धि का परम साधन कहा है ॥४०१॥

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम् ।
सत्त्व-गुणाधिक-क्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥४०२॥

अर्थ : प्राणियों में (मैत्री), गुणाधिकों में (प्रमोद), क्लिष्टों के प्रति (करुणा), अप्राज्ञों-मूर्खों के प्रति (मध्यस्थ भावना); क्रमशः मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ भावना का चिन्तन करना भी अध्यात्म है ॥४०२॥

विवेचन : सभी प्राणियों के प्रति हृदय में मैत्री और बंधुत्व की भावना रखना । अपने से गुणों में जो अधिक हैं ऐसे गुणीजनों के प्रति, मन में प्रमोद भावना रखना, अर्थात् दूसरे के गुणों को देखकर, खुश होना और गुणों की अनुमोदना करना । दीन-दुःखी, ग्लान, व्याधिग्रस्त अनेक प्रकार के दुःखों से पीड़ितों के प्रति दिल में करुणा, भाव-दया, अनुकम्पा सहानुभूति रखना और उनके दुःखों को दूर करने की भावना रखना । समझाने पर भी जो समझते नहीं और अपनी दुष्टता को छोड़ते नहीं, ऐसे मूढ और धूर्त प्राणियों के प्रति तटस्थभाव रखना भी अध्यात्मयोग है । ऐसा महापुरुषों का मानना है । क्योंकि "तुलसी इस संसार में भांत भांत के लोग" उन विविध प्राणियों के प्रति चार भावना का चिन्तन करने से आत्मा कर्म बंधन से बच जाती है । कर्म से लिप्त न होकर, निर्मल रहती है इसलिये चिन्तन-अध्यात्मयोग का सहायक होने से इन्हें भी उसी का अंग माना है ॥४०२॥

विवेकिनो विशेषेण, भवत्येतद् यथागमम् ।
तथा गम्भीरचित्तस्य, सम्यग्मार्गानुसारिणः ॥४०३॥

अर्थ : विशेषतः आगमानुसार यह (मैत्र्यादिभावनाओं का चिन्तन) विवेकी, गम्भीरचित्त और शुद्धनिवृत्ति पथ के पथिक को होता है ॥४०३॥

विवेचन : आगमों में मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ - इन चार भावनाओं का चिन्तन रूप जो अध्यात्मयोग बताया है, ऐसा अध्यात्म योग विशेषतः उसी साधक को उपलब्ध होता है जो विवेकवान होता है । ऐसा विवेकी साधक पेय-अपेय, भक्ष्य-अभक्ष्य, कृत्य-अकृत्य, हेय-उपादेय, जड़-चेतन का विवेक जिसमें जागृत हो और जिसका चित्त गम्भीर हो, जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों का असर जिनके मुख पर दिखाई नहीं देता और सभी द्वन्द्वों को जो समभाव पूर्वक सहन करता है । जिसे उत्तराध्ययन में गाया है :-

लाभालाभे सुहे दुःखे; जीविये मरणे तहा ।
समो निन्दा पसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥

गीता में भी कहा है :-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः, स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ अध्याय २, श्लोक ५६

ऐसे स्थित-प्रज्ञ गभीर चेता साधक को, और जो मोक्षमार्ग का सम्यक् प्रकार से अनुसरण करने वाला है, ऐसे मोक्षपथ के पथिक साधक को, ही इस अध्यात्मयोग की प्राप्ति हो सकती है। विवेकी, गम्भीर, मुमुक्षु व्यक्ति ही ऐसे योग को उपलब्ध कर सकता है ॥४०३॥

एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वर्थयोगतः ।
आत्मन्यधीति संवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥४०४॥

अर्थ : अध्यात्म चिन्तकों ने इस प्रकार अन्वर्थ योग से, आत्मा में अध्यात्मवृत्ति पैदा करने वाले अध्यात्म योग को अनेक प्रकार का बताया है ॥४०४॥

विवेचन : अध्यात्म शब्द का विग्रह करने से – सन्धि तोड़ने से उनके अन्दर रहे हुये अर्थ का विचार करने से अनेक अर्थों का अनुभव होता है जैसे "आत्मनि जीवे, अधि इति आधारभूते" अर्थात् आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, उपयोग और तप आदि गुणधर्म रहे हुये हैं; वह आत्मा अधिष्ठान करने वाला होने से, गुणों का आधार हुआ, इसलिये उन गुणों का विचार करना 'अध्यात्म' हुआ । इसी प्रकार "संवृत्तेः सांगत्येन वर्तनात्" अर्थात् आत्मा के साथ रहने वाले, आत्मा के साथ अभिन्नभाव से रहने वाले, आत्मा के साथ यावत् भावी रहने वाले, गुण-धर्मों और स्वभावों की मीमांसा करना, विचारणा करना भी अध्यात्म ही हुआ । इस प्रकार इस अध्यात्म शब्द का अन्वय अर्थ करने से आत्मा में अध्यात्मभाव को पैदा करने वाले उस अध्यात्मयोग को भाव योगियों ने अनेक प्रकार का बताया है ॥४०४॥

भावनादित्रयाभ्यासाद्, वर्णितो वृत्तिसंक्षयः ।
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥४०५॥

अर्थ : भावनादि तीनों के अभ्यास से, आत्मा और कर्म के संयोग सम्बंध की योग्यता का नाश होना ही वस्तुतः वृत्तिसंक्षय है ॥४०५॥

विवेचन : उपर ग्रंथकार ने अध्यात्म और वृत्तिसंक्षय - योग के इन दो भेदों को विशेष विस्तार से बताने को कहा था । अध्यात्मयोग को विस्तृत बताकर, अब योग के पांचवें भेद वृत्तिसंक्षय को बता रहे हैं कि भावना, ध्यान और समता का अभ्यास जब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब मन की संपूर्ण चंचल वृत्तियों का नाश हो जाता है । यानि आत्मा का कर्मों के साथ जो अनादि कालीन संयोग सम्बंध था, उसकी योग्यता का सर्वथा नाश हो जाता है । वृत्तिसंक्षय का अर्थ ही यही है कि मन की सर्व वृत्तियों का सम्यक्‌य होना । वृत्तिसंक्षय होने के पश्चात् आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त होकर, सिद्ध बुद्ध हो जाती है ॥४०५॥

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः ।
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु ॥४०६॥

अर्थ : आत्मा की स्थूल और सूक्ष्म चेष्टाओं को वृत्तियाँ कहते हैं । वे चेष्टारूप (वृत्तियाँ) अन्य कर्मों के संयोग से पैदा होती हैं और इसका (कर्मसंयोग का) मुख्य हेतु योग्यता है ॥४०६॥

विवेचन : स्थूल - जो दूसरे को दिखाई दे सके और सूक्ष्म - जो दूसरे को दिखाई न दे सके । ऐसी आत्मा की अनेक प्रकार की जो चेष्टाएँ है, उन्हें आत्मा की वृत्तियाँ कहते हैं । वे चेष्टा रूप वृत्तियाँ कर्म से पैदा होती हैं और कर्म की उत्पत्ति का मूल कारण आत्मा में रही हुई तथाप्रकार की योग्यता हैं, इसलिये योग्यता को कर्म का बीज बताया है ॥४०६॥

तदभावेऽपि तद्भावो, युक्तो नातिप्रसङ्गत: ।
मुख्यैषा भवमातेति, तदस्या अयमुत्तम: ॥४०७॥

अर्थ : उसके (योग्यता के) अभाव में भी उसका होना (कर्म संयोग) माने तो अतिव्याप्तिदोष होने के कारण उचित नहीं है, अत: मुख्य रूप से यही (योग्यता ही) भव-संसार की जननी है और यही न्याय उत्तम है ॥४०७॥

विवेचन : आत्मा में कर्म ग्रहण करने की और छोड़ने की योग्यता को यदि स्वीकार न करे, अर्थात् इस योग्यता के अभाव में भी कर्म का होना माने, तो अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। सिद्धों में - मुक्त जीवों में योग्यता का अभाव होता है, इस लक्षण के अनुसार उनको भी पुन: संसार में आना पड़ेगा और उन्हें भी कर्म बंधन लागू होगा जो उचित नहीं है । इसलिये वह योग्यता ही संसार की जननी है संसार का मुख्य हेतु है, यही न्याय उत्तम है, अन्य नहीं ॥४०७॥

पल्लवाद्यपुनर्भावो, न स्कन्धापगमे तरो: ।
स्यान्मूलापगमे यद्वत्, तद्वद् भवतरोरपि ॥४०८॥

अर्थ : वृक्ष के स्कन्ध का उच्छेद करने पर पत्र, पुष्प, फल आदि का नाश नहीं होता; मूल नाश होने पर होता है, ऐसे ही संसार रूपी वृक्ष का है ॥४०८॥

विवेचन : जैसे वृक्ष का तना काटने पर पुन: कुछ समय के पश्चात् उस पर शाखा, प्रशाखा, पत्र, फूल और फल लगते हैं, उसका नाश नहीं होता, क्योंकि उस वृक्ष का मूल विद्यमान है । यदि मूल ही काट दिया जाय या जला दिया जाय, तो पुन: उस वृक्ष की उत्पत्ति की सम्भावना समाप्त हो जाती है । जब 'मूल नास्ति कुत शाखा:' जब मूल ही नष्ट हो गया तो शाखा, प्रशाखा, फल-फूल कहाँ से संभव है ? इसी प्रकार संसार रूपी वृक्ष का मूल - राग, द्वेष और मोह है उसका मूल से उच्छेद करने पर ही चार गतिरूपी शाखा, चौरासी लाख योनि रूपी प्रशाखा, भवपरम्परा रूपी पत्र, कर्मबंधन रूपी फूल, आधि, व्याधि, उपाधि, रोग, शोक, भय, पराधीनता, जन्म मरण रूपी फलों का नाश होता है। जब तक योग्यता रूपी मूलबीज का सर्वथा नाश नहीं होता भवपरम्परा का नाश नहीं हो सकता । राग-द्वेष, मोह आदि को नष्ट किये बिना, धार्मिक शुभानुष्ठानों से जो संसार का नाश चाहता है, वह वृक्ष का केवल तना काट कर, उसमें पत्र, पुष्प, फलों का अभाव चाहता हैं। यह अभिलाषा व्यर्थ है ॥४०८॥

मूलं च योग्यता ह्यस्य, विज्ञेयोदितलक्षणा ।
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा, हन्त तत्त्वमिदं परम् ॥४०९॥

अर्थ : इसका (भववृक्ष का) मूल पूर्वोक्त योग्यता है और अनेकविध वृत्तियाँ पत्ते हैं । यही परम तत्त्व है ॥४०९॥

विवेचन : जैसे वृक्ष का मूल वृक्ष की वृद्धि का हेतु है, वैसे ही कर्मबंधन की आत्मा की जो योग्यता है वह राग-द्वेष, मोह की ग्रंथी ही संसाररूपी वृक्ष का मूल है, और उसकी वृद्धि का कारण है । आत्मा की अनेक प्रकार की चेष्टारूप वृत्तियाँ इसके पत्ते हैं । पूर्व श्लोकों में भी इस योग्यता के सम्बंध में विस्तृत विवेचन किया गया है । इसलिये मन स्थिर करके, इसी सिद्धान्त को श्रेष्ठ समझें, यही उत्तम सिद्धान्त है ।

जैसे वृक्ष की जीवन निर्वाहिका नाड़ी उसके मूल में रहती है वही वृक्ष को जीवन देती है उसी प्रकार नारक, निर्यञ्च, देव, मनुष्यरूप भवपरम्परा रूपी संसारवृक्ष को जीवन देने वाली उसकी जड़, आत्मा में रहने वाली भववृद्धि की योग्यता ही है । योग्यता अर्थात् राग-द्वेष, मोह की भयंकर गांठ ही संसारवृक्ष का मूल है । वृक्ष जैसे पत्तों का समूह रूप होता है वैसे ही संसार वृक्ष को संजीवन रखने वाली जीवादि की मन-वचन-काया द्वारा की जाने वाली क्रिया-व्यापार रूप विचित्र-विविध प्रकार की चेष्टारूप वृत्तियाँ हैं । यही संसाररूपी वृक्ष को अनन्त काल तक जीवन देती हैं और वही फल-फूल, उनके स्वादरूपी रस देने वाले, उदय में आने वाले कर्म विपाक है। यह तथ्य पूर्व में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है, अतः संसार का मूल कारण योग्यता को मानना ही यथार्थ है, यही उत्तम न्याय है ॥४०९॥

उपायोपगमे चास्या, एतदाक्षिप्त एव हि ।
तत्त्वतोऽधिकृतो योग उत्साहादिस्तथाऽस्य तु ॥४१०॥

अर्थ : इस (योग्यता के) नाश का उपाय भी साथ में ही कह दिया है कि तात्त्विक (अध्यात्मादि) योगाभ्यास आरम्भ करना; यह (अभ्यास) उत्साहादि से पुष्ट मन की स्थिति से होता है ॥४१०॥

विवेचन : अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि तात्त्विक योगाभ्यास का जो विस्तृत विवेचन किया है, उससे जीव की कर्म जन्य योग्यता का सर्वथा नाश हो जाता है और वह योग उत्साह, निश्चय आदि नीचे बताये जाने वाले गुणों से विशेष पुष्टावलम्बन रूप बनता हैं ॥४१०॥

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात्, संतोषात् तत्त्वदर्शनात् ।
मुनेर्जनपदत्यागात्, षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥४११॥

अर्थ : उत्साह, निश्चय, धीरज, सन्तोष, तत्त्वदर्शन और जनपदत्याग इन छः (गुणों) से मुनि का योग सिद्ध होता है ॥४११॥

विवेचन : योगमार्ग में प्रवेश पाने के लिये साधक में सर्वप्रथम उत्साह, उमंग, आत्मवीर्य को विकसित करने की आवश्यता होती है। कायर, सुखशील, आलसी, प्रमादी व्यक्ति योगाभ्यास नहीं कर सकता। कहा भी हैं :- "प्रभुनुं मार्ग छे शूरानो, कायरनुं नहि काम रे" उपनिषदों में भी स्पष्ट लिखा है "नायं आत्मा बलहीनेन लभ्यः"।

योगी में दूसरा गुण निश्चय बल चाहिये। "कार्यं साधयामि वा देहं पातयामि" ऐसा दृढ़ संकल्पी साधक ही अपने लक्ष्य में सफल हो सकता है। जो अपने लक्ष्य के लिये दृढ़ नहीं वह त्रिशंकु की भांति 'इतो भ्रष्टस्ततोभ्रष्टः' होकर असफल हो जाता है। तीसरा गुण धीरज बताया हैं, क्योंकि इस मार्ग में सैकड़ों विघ्न आते हैं; अनेक प्रलोभन भी आते हैं; अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग भी आते हैं। देव, दानव, गंधर्व आदि की तरफ से ललचाने वाले अनेक प्रसंग उपस्थित होते है; जिसमें साधक का मन चंचल हो उठता है; सुख में और दुःख में, अनुकूलता और प्रतिकूलता में, हानि और लाभ में भी चित्त को स्थिर रखने के लिये धीरज गुण की परम आवश्यकता है। क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे अतिदुष्कर कषायों को मूल से नष्ट करने के लिये अगर कोई उपाय है तो वह धीरज ही है। धीर पुरुष ही योग में उपस्थित सभी उपप्लवों को तैर सकता है और सफल हो सकता है। चौथा गुण सन्तोष बताया है, आहार, वस्त्रपात्र आदि जीवनोपयोगी वस्तुओं की अनुकूलता कम हो; तब भी उसी में परम सन्तोष मानना और अपनी आत्मा में ही रमण करना; बाहर की अनुकूलता और प्रतिकूलता पर हर्ष, शोक न करके, आत्मनिष्ठ रहना; इस प्रकार सन्तोषी व्यक्ति ही योगी बनने के योग्य हो सकता है। पांचवा गुण तत्त्वदर्शन बताया है- जगत के जीव-अजीव, पाप-पुण्य, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष को जानना; चिन्तन मनन करना कि आत्मा क्या है? जगत क्या हैं ? मैं कौन हूं ? कहाँ से आया हूं ? किस सम्बंध से सांसारिक प्रपंचों में पड़ा हूं ? क्या सत्य है ? क्या असत्य हैं? इस प्रकार अभ्यासपूर्वक तत्त्व-जो सार पदार्थ है उसका दर्शन करने वाला अर्थात् तत्त्व-संसार में मोक्ष की प्राप्ति ही है, उसी को जीवन का सारभूत समझकर, उसमें प्रयत्न करने वाला ही योगमार्ग को पा सकता है। छठा गुण बताया है जनपद का त्याग, भवानुगतिक लोक व्यवहार भी साधना में बाधाकर है, कर्म बंधन का कारण है। कहा भी है जितना व्यवहार उतना संसार, जिसको अध्यात्म की साधना करनी है उसे लोक में होने वाली देशकथा, भक्तकथा, राजकथा और स्त्रीकथा से दूर रहना चाहिये, उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। अथवा जनपद-देश का त्याग भी योग्य है, कारण कि स्वदेश में सगे-सम्बंधी, पुत्र, स्त्री आदि को देखने से रागादि की प्रवृत्ति होती है, जो इस मार्ग में विघ्नकारक है। इस प्रकार योग सिद्धि के लिये इन छः गुणों की परम आवश्यकता है। इन छः से ही योगसिद्धि होती है ॥४११॥

आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते योगमुत्तमम् ॥४१२॥

अर्थ : आगम से, अनुमान से और ध्यानाभ्यास में रुचि होने से, इन तीनों उपायों से बुद्धि को प्रयुक्त करने वाला, उत्तम योग को उपलब्ध होता है ॥४१२॥

विवेचन : अगोचर-जो इन्द्रिय से न जान सके, ऐसी आत्मा, कर्म, परलोक आदि अतीन्द्रिय विषयों के सम्बंध में जब तक पूरी जानकारी न हो, उसके अस्तित्व पर दृढ़ विश्वास न हो, तब तक आत्मस्वरूप का बोधरूप उत्तमयोग उसे प्राप्त नहीं हो सकता। साधारण मनुष्य की बुद्धि सीमित है, ज्ञान अल्प है, इसलिये इन पदार्थों का निश्चय करने के लिये ग्रंथकर्ता ने आर्ष पुरुषों द्वारा रचित आगमों की सहायता लेने की सलाह दी है। क्योंकि दिव्यदृष्टि योगियों के वचन ही योगमार्ग के पथिक के लिये प्रकाशस्तम्भ है। इसलिये ऐसे विषयों में आगम प्रमाण, प्रमाणभूत है। इसी प्रकार अनुमान प्रमाण से भी कुछ अंश तक उसका बोध हो सकता है। जैसे 'जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा है'। चैतन्य याने सुख-दुःख का ज्ञान जिसमें हो, वह आत्मा-जीव कहा जाता है। ऐसा ज्ञान पर्वत, घर, दुकान, घट, पट आदि जड़ पदार्थों में नहीं होता, इसलिये वहाँ चैतन्य का अभाव है। जीवात्मा में सुख- दुःख का ज्ञान करवाने वाला चैतन्य होने से वह चैतन्य को धारण करने वाला चेतन है। चैतन्य सर्वदा नित्य है इसलिये बचपन की स्मृति वृद्धत्व में आती है, पूर्वजन्म की स्मृति इस जन्म में भी आती है, उसमें कारण कर्म का तथाप्रकार का क्षयोपशमभाव है। अतः वह इसका उपादान कारण हुआ इस प्रकार आत्मा अनेक जन्म और मरण करने वाली है - यह सिद्ध हुआ। इस भव में संस्कार न देने पर भी कई आत्माओं में वैसा संस्कार देखने में आता है, तो वह सब पूर्वजन्म के संस्कार के कारण ही होता है। इस प्रकार अर्थापत्ति प्रमाण से आत्मा अनेकजन्म को धारण करने वाला सिद्ध होता है। कहा भी है :-

यः कर्ता कर्मभेदानां भोक्ता कर्मफलस्य च ।
संसर्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा न हि अन्यलक्षणम् ॥

जो आत्मा शुभाशुभ करने वाली है, वही उसकी भोक्ता है तथा संसार में भ्रमण करने वाली भी वही है और संसार का क्षय करके, मोक्षसुख का अनुभव करने वाली भी वही है। ऐसे लक्षण वाली आत्मा है, इसके सिवाय आत्मा का दूसरा कोई लक्षण नहीं। तीसरा उपाय-ध्यान के अभ्यास में रस होना बताया है यह अन्तिम उपाय है। आगम प्रमाण से, अनुमान प्रमाण से, अर्थापत्ति आदि प्रमाणों से आत्मादि सिद्ध होने पर भी योगी जब ध्यान का अभ्यास करता है और उसमें उसको जब रस पैदा हो जाता है, रुचि पैदा हो जाती है तो ध्यान द्वारा जो एकाग्रता प्राप्त होती है उससे, उसे आत्मा में योग अनुभूत होता है। ध्यान वस्तु ऐसी है कि साधक को योगमार्ग का प्रत्यक्ष अनुभव

होता है। इस प्रकार की अनुभूतियों के पश्चात् जब आत्मा योग में दृढ़ हो जाती है, उसे 'उत्तमयोग-अध्यात्मादि वास्तविक योग-जो मोक्ष की ओर ले जाने वाला हो' उसकी प्राप्ति होती है ॥४१२॥

आत्मा कर्माणि तद्योगः, सहेतुरखिलस्तथा ।
फलं द्विधा वियोगश्च, सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥४१३॥

अर्थ : आत्मा और कर्म का परस्पर संयोग अनादि सहेतुक है। उसका दो प्रकार का फल, शुभाशुभ और वियोग सब उसकी स्वभाव की योग्यता से होता है ॥४१३॥

विवेचन : चैतन्य स्वरूप आत्मा और आत्मा से पर, अन्यपुद्गल स्वरूप कर्म का परस्पर संयोग, लोहाग्निवत सहेतुक बताया है। जैसे तप्त लोहे में अग्नि और लोहे को भिन्न-भिन्न नहीं देख सकते उसी प्रकार कर्मों से लिप्त आत्मा को अलग-अलग नहीं देख सकते। वह हेतु है मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि। अनादि काल से जीव राग-द्वेषमोहात्मक कर्मबंधन की बीजभूत योग्यता से तथाप्रकार के शुभाशुभ अध्वसायों से, दो प्रकार के शुभ और अशुभ कर्मों को बांधता है। और उन शुभाशुभ कर्मों के विपाक स्वरूप चार गति और चौरासी के चक्कर में दुःखी होकर, भ्रमण करता है परन्तु जब वह उन कारणों-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय आदि का सर्वथा नाश कर देता है, तो उस कर्मबंधन की योग्यता का सर्वथा वियोग हो जाता है। वह मोक्ष का अधिकारी बनता है। इस प्रकार परस्पर कर्मों का संयोग-सम्बंध, उससे शुभाशुभ कर्मों का बंधन और कर्मों का सर्वथा वियोग, जीव अपनी स्वभाव की योग्यता से ही करता है। कर्मों का संयोग और वियोग सब आत्मा के स्वभाव की योग्यता पर ही निर्भर है।

अर्थात् हमेशा आत्मा और कर्म का परस्पर संयोग सहेतुक-सकारण है। उसके कारण मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि से राग-द्वेष रूप कर्म-बंधन की जो बीजभूत योग्यता है उससे आत्मा तथाप्रकार के अध्यवसायों द्वारा कर्म बंधन करता है। वह कर्म बंधन अनादि काल से बांधता आया है और उन कर्मों के फल स्वरूप शुभाशुभ विपाकों को भोगता है और चार गति और चौरासी के चक्कर में भटकता है। जब वही आत्मा राग-द्वेष रूप कर्मबंधन की बीजभूत योग्यता का नाश करती है, तब वही मोक्ष का अधिकारी होता है। अतः आत्मा के साथ कर्मों का संयोग और वियोग स्वभाव की योग्यता से ही होता है ॥४१३॥

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि, सत्येव सफलो भवेत् ।
अन्यथा न्यायवैगुण्याद्, भवन्नपि न शस्यते ॥४१४॥

अर्थ : स्वभाव की योग्यता विद्यमान होने पर ही पुरुषार्थ सफल होता है नहीं तो, पुरुषार्थ होने पर भी व्यर्थ है क्योंकि वह न्याय विरुद्ध है ॥४१४॥

विवेचन : मूंग में पकने के स्वभाव की योग्यता विद्यमान होने पर ही पाचक-रसोइये का पुरुषार्थ-पकाना सफल हो सकता है। अगर स्वभाव की योग्यता को न स्वीकारें तो योग्यताविहीन कोड़कु मूंग भी पकने चाहिये। पाचक-कोड़कू मूंग को पकाने का पूरा पुरुषार्थ करता है परन्तु फिर भी वह पकता नहीं। उसका पुरुषार्थ व्यर्थ जाता है क्योंकि स्वभाव की योग्यता को न मानना न्याय विरुद्ध - युक्ति विरुद्ध है। इसलिये स्वभाव की योग्यता को स्वीकार करना ही चाहिये ॥४१४॥

ग्रंथकार यहाँ यह बताना चाहते हैं कि पांच समवाय कारण को छोड़कर केवल एकान्त पुरुषार्थ से ही कार्य सिद्धि नहीं हो सकती।

अतोऽकरणनियमात्, तत्तद्वस्तुगतात् तथा।
वृत्तयोऽस्मिन्निरुध्यन्ते, तास्तास्तद्बीजसम्भवा: ॥४१५॥

अर्थ : इस कारण से स्वभाव आदि के निश्चय करण के तौर पर नहीं माने और पुरुषकार को ही अकेला कारण माने तो आत्मारूप वस्तु में रही हुई जो वृत्तियाँ है, उन-उन कर्मों के बीज से जो कार्य संभव है, उनका निरोध कर अकेले पुरुषकार से उनका होना मानना पड़ेगा ॥४१५॥

विवेचन : अगर पुरुषार्थ को ही कार्यसिद्धि में एकान्त कारण माने और नियति, स्वभाव, काल, पूर्वकृत कर्म जो निश्चय करण रूप हैं-उसे कार्य में अकारण-अहेतुक माने तो जीवात्माओं ने पूर्वकाल में यहाँ आरंभ, समारंभ, जीववध, असत्य, चौरी, मैथुन, परिग्रह आदि जो निकाचित कर्मबंध किया हुआ है वह नरक और तिर्यंचगति का हेतुभूत है अत: जीवात्मा को वस्तुस्वरूप से उदय में आये हुये उन-उन पाप कर्मों को भोगने के लिये वैसी—वैसी गतियों में उत्पन्न होना पड़ता है। सर्वज्ञ जिनेश्वर परमात्मा द्वारा उपदिष्ट प्रकरणों-आगमों के अनुसार जो कहा गया है वैसी नरक गमनयोग्य वृत्तियाँ रूप प्रवृत्ति, जो विचित्र स्वभाव वाली है, वह अवश्य पुरुषार्थ-पुरुष प्रयत्न से रुकनी चाहिये, लेकिन रुकती नहीं। क्योंकि वैसा कर्मरूप लक्षण जिसमें बीजभूत रहा हुआ है वैसी वृत्तियाँभाव की परिणतियां नरक गमन में हेतुभूत है। उस वृत्ति के स्वभाव से वैसी नरकगति का संभव जीवात्मा के असत् विपरीत-उल्टे मिथ्या पुरुषार्थ से पांचों कारणों के योग से उत्पन्न हुआ हुआ है, वह कैसे नष्ट हो सकता है? नहीं हो सकता, निकाचित व्यर्थ भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार स्वरूपप्राप्ति की योग्यता से, सत्पुरुषार्थ के योग से, नये कर्मबंध के हेतुओं के त्याग से और अशुभकर्मबंध को तप, जप, ध्यान, व्रत, पच्चखाण, सद्गुरु के योग से, कर्म निर्जरा करते हुये तथाप्रकार की योग्यता आदि कारणों के सहयोग से योग्य पुरुषार्थ करते हुये इष्ट साध्य को सिद्ध करता है ॥४१५॥

ग्रंथकर्ता दृष्टान्त देकर समर्थन करते हुये बताते हैं :-

ग्रन्थिभेदे यथैवायं, बंधहेतुं परं प्रति ।
नरकादिगतिष्वेवं, ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥४१६॥

अर्थ : जैसे ग्रंथीभेद होने पर, बंध-कर्मदल की उत्कृष्ट स्थिति के बंध में किसी भी कारण को निश्चय से कारणता नहीं है । नरक आदि गति विषय में भी उस हेतु में अकारणता रही हुई है ॥४१६॥

विवेचन : जैसे ग्रंथि का भेद होने पर बंध-कर्मदल की उत्कृष्ट स्थिति का बंध करने में कारणभूत मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप हेतुओं के लिये कारण का अभाव है । इसलिये मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति (सत्तर कोटा-कोटी सागरोपम) तथा अन्य कर्म के दलों की स्थिति में मिथ्यात्वादिक की अवश्यहेतुता है, ऐसा हम कहते हैं, पर आप परवादी तो अकेले पुरुषार्थ को ही कारण मानते हैं । आपसे यह कहना है कि जिस प्रकार ग्रंथि भेद करने में वैसे कारणों का अवश्य ही निश्चयतापूर्वक अभाव है, वैसा आपका कहना है, उसी प्रकार नरक, तिर्यंच आदि भव की गति के उत्कृष्ट बंध में मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग की अवश्य कारणता हमारे अनुसार है ।

आपका तो एक पुरुषकार के अतिरिक्त अन्य कारण मानता नहीं है, उसी न्याय व उक्ति से नरक आदि भवों की गति में आपको पुरुष प्रयत्न ही (पुरुषकार ही) अकेला कारण मानना पड़ेगा और अन्य योग्यता आदि को कारण नहीं मान सकते । वैसे ही जिसे आवश्यक हेतुता हो उन कारणों को कर्मदलों को तोड़ने में मिथ्यात्व आदि के नाश के कारणरूप ग्रंथिभेद में वैसे करणों-कारणों में शुद्धोपयोग युक्त वीर्य सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चारित्र के सहकार योग से जागता है । इस कारण से जैसा आप कहते है कि ग्रंथि भेद में एक आत्मवीर्यरूप पुरुषार्थ को ही कारणता है, उसी प्रकार नरक आदि के हेतुभूत आठो कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति आदि के बंध में अकेले पुरुषार्थ को ही आपको कारणभूत मानना चाहिये । विपरित गमन के साथ मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग की अवश्य हेतुता रही हुई है यह आप नहीं मान सकते, क्योंकि आपके मत में पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य कारणों को स्वीकार करने का निषेध है ॥४१६॥

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्राऽगतिस्तथा ।
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम् ॥४१७॥

अर्थ : इस प्रकार अन्य कारणों को यदि निश्चय से अकारण मानते हैं, तो अत्यन्त अभावरूप मृत्यु - पुनः-पुनः उस गति में याने संसार में जन्म मरण घटित नहीं हो सकता अतः सत्य न्याययुक्त आगम में प्ररूपित तत्त्वों को मानना चाहिये ॥४१७॥

विवेचन : कर्मबंध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और अशुभयोग की योग्यतारूप

कारणता होने पर ही आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनि में जन्म मरण करते है और जहाँ अशुभक्रिया-मिथ्यात्वादि में कर्म, नियति, योग्यता तथा स्वभाव को अकारणता - योग्यता का अभाव हो जाय तो नरक, तिर्यंच, नर, देव आदि के जन्म-मरण का भी अवश्य अभाव हो जाता है, याने आत्यंतिक मृत्यु रूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। परन्तु यदि अकारण याने जहाँ मिथ्यात्वादिक की अकरणता और कारणता योग्यता आदि है, उसका नियम-निश्चयभाव न माने तो अकरणयोग से जैसे आत्यन्तिक मृत्यु-मोक्ष प्राप्त होता है और मुक्तात्मा को पुनः नरक, तिर्यंच, नर, देवगति में जन्म मरण पुनः-पुनः जो होगा वह अकारण योग में तथाप्रकार की योग्यता के अभाव में जन्म-मरण का भी अभाव होता है। और जहाँ मिथ्यात्वादिक की कारणता (करणपना) विद्यमान होता है, वहाँ बार-बार जन्म, मरण, जरा, आधि, व्याधि, उपाधि भी निश्चित होती है, उसका भी अगर अनियतभाव माने अर्थात् तथाप्रकार की योग्यता को स्तर न माने, तो मुक्ति भी असंभव हो जाती है। और बार-बार चौरासी लाख योनि में भ्रमण का भी प्रसंग उपस्थित होता है। इसलिये पुरुषार्थ के साथ अन्य योग्यता आदि कारणों को भी अवश्य मानना चाहिये। वही सत्य न्याय है। योग्यता की अनियतता से संसार भ्रमण का भी अभाव हो जाता है, इसलिये हे वादिओं ! आत्मा को संसार भ्रमण में तथा मोक्ष में तथाप्रकार की योग्यता आदि को सत्यन्याय युक्ति से विचारे तो करण तथा अकरण की योग्यता के विषय में वीतराग परमात्मा प्रणीत आगमशास्त्रों में देखना चाहिये, ताकि सत्य, न्याय युक्ति से अनुमान, अर्थापत्ति, उपमान आदि प्रमाणों से संसार में रहने की प्रवृत्ति सहेतुक-सकारण है और उस हेतुरूप करण का जब अभाव अकरणभाव होता है वहाँ आत्यन्तिक अन्तिम मृत्यु याने पुनः जन्म मरण का अभाव एवं परम अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है ॥४१७॥

हेतुमस्य परं भावं, सत्त्वाद्यागोनिवर्तनम् ।
प्रधानकरुणारूपं, ब्रुयते सूक्ष्मदर्शिनः ॥४१८॥

अर्थ : शत्रु तथा मित्र आदि प्राणियों के पापमय विचारों का नाश हो जाय, ऐसी परम उत्कृष्ट श्रेष्ठ करुणा ही इस करणयोग के परमभाव रूप करुणा का हेतु होता है, ऐसा सूक्ष्मदर्शी महापुरुषों ने कहा है ॥४१८॥

विवेचन : सर्व सत्त्व-प्राणी मिथ्यात्व आदि कारणों से आठों कर्मबंधों से चारो तरफ से घिरे हुये हैं। पापकर्म हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, व्यभिचार, परिग्रह आदि में फंसे हुये संसार चक्र में भटक रहे हैं। उसमें कुछ प्राणी शत्रुभाव को धारण किये हुये हैं, कुछ मित्रभाव को भी धारण किये हुये हैं। कुछ लोग उपदेशों के प्रति उपाधि पैदा करने वाले भी होते हैं, और कुछ उदासीन भाव को धारण करने वाले भी होते हैं। ऐसे सभी प्राणियों के अशुभपरिणति से बंधे हुये समस्त अपराध एवं पापमय विचारों का नाश हो जाय, ऐसी परम उत्कृष्ट श्रेष्ठ करुणा इस करणयोग के

परमभाव रूप करुणा का हेतु होती है। अर्थात् यह परम करुणा यथावस्थित वस्तु के बोध से पैदा होती है। जगत में चेतन और अचेतन पदार्थों के गुण, पर्याय, स्वभाव की जो परिणतियां उसमें विद्यमान हैं, उनके संपूर्ण ज्ञाता बनने में विशेष प्रकार का जो क्षयोपशमभावमय सम्यक् ज्ञान है उसमें हेतुता रही हुई है, ऐसे ज्ञान के कारण ही करुणा उत्पन्न होती है। ऐसी उत्तम भाव प्रधान करुणा तीर्थंकर, गणधर तथा अप्रमादभाव से पालने वाले चारित्रनिष्ठ योगियों में सदा रहती है। ऐसी भावकरुणा अनेक पामर जीवों के अनन्त महापापों का नाश करने में कारणभूत होती है। करुणा का ऐसा सुन्दर स्वभाव है। इस करुणारूप भावदया से पाप के हेतुभूत जो मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग आदि जिस परिणाम से पैदा होते हैं, उस परिणाम की तीर्थंकर, गणधर, आदि महामुनियों में अभावरूप अकरणता रहती है, उस अकरणता का यह श्रेष्ठ करुणारूप, भावदया में अवश्य हेतु रहा हुआ है। ऐसा वीतराग परमात्मा-सर्वज्ञ-केवली, जो सूक्ष्मदर्शी कहलाते हैं उन्होंने कहा है। भगवान महावीर स्वामी की जो करुणादृष्टि है वह अनेक हिंसादि से पापकर्म में रत बने हुये, अत्यन्त क्रोध से अभिभूत, चंडकौशिक नामक दृष्टिविष महासर्प के उपर पड़ने से वह कितना शान्त, सौम्य, निष्पाप बन गया था। उसके समस्त क्लिष्ट कर्म नष्ट हो गये। ऐसी परम-श्रेष्ठ करुणा सर्वपाप की अकरण (भाव का अकारण) कही जाती है। वह निश्चित ही पापकर्म नष्ट करने में निमित्त बनती हैं ॥४१८॥

समाधिरेष एवान्यैः, संप्रज्ञातोऽभिधीयते ।
सम्यक् प्रकर्षरूपेण, वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥४१९॥

अर्थ : इस समाधि योग को अन्य दर्शनकार संप्रज्ञातयोग कहते हैं, कारण कि जिसमें यथार्थ उत्कृष्ट रूप से युक्त पर्याय विद्यमान है ऐसे ज्ञानयुक्त यह समाधि है ॥४१९॥

विवेचन : उपर्युक्त जो अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप योग के पांच भेद कहे हैं, इसमें चौथे समता-योग को महर्षि पतञ्जलि आदि अन्य मतार्थी योगियों ने संप्रज्ञात समाधि योग कहा है, क्योंकि इस समतायोग में वस्तु स्वरूप का यथार्थज्ञान स्पष्टतः विद्यमान है। उसके योग से सवितर्क अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में गुण एवं पर्याय की विद्यमानता है। उसी के भेद-प्रभेद की सविकल्प विचारणारूप, शुक्ल ध्यान के प्रथम चरण की प्रवृत्ति चलती है। उसके द्वारा नर, नारक, तिर्यंच, देव आदि आत्माओं का तथा द्वीप, समुद्र इत्यादि की हानि-वृद्धि रूप ज्ञान के विकल्प उत्कृष्टभाव से विद्यमान है। ऐसी अत्यन्त सूक्ष्म भावना-विचारों की वृत्ति, पूर्ण तत्त्वज्ञान के योग से ही होती है। आत्म स्वरूप और परमात्म स्वरूप के अभेदरूप ज्ञान, गुण, पर्याय की एकत्व भावरूप अवितर्क समाधिरूप शुक्लध्यान का दूसरा भेद ध्यान करते हैं, इसलिये यह समाधि राग-द्वेष का क्षयरूप समतामय होने से संप्रज्ञात समाधि योग कहा जाता है ॥४१९॥

**एवमासाद्य चरमं, जन्माऽजन्मत्वकारणम् ।
श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं, केवलं लभते क्रमात् ॥४२०॥**

अर्थ : इस प्रकार क्रमशः अन्तिम जन्म को पाकर, जिसमें नये जन्म का कारण नष्ट हो गया है, ऐसी क्षपकश्रेणी को प्राप्त करके अनुक्रम से जीव केवलज्ञान को प्राप्त करता है ॥४२०॥

विवेचन : इस प्रकार अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग और समतायोग के सतत् अभ्यास से पूर्व सञ्चित सर्व कर्मों को क्षय करके, अन्तिम इस जन्म में, अजन्मत्व के कारणभूत क्षपकश्रेणी को प्राप्त करके, आत्मस्वरूप का घात करने वाले सर्वघाती कर्मों का समूल नाश करके, जीव क्रमशः केवलज्ञान और केवलदर्शन को शीघ्र ही प्राप्त करता है । इस शक्ति को अन्य दर्शनकार संप्रज्ञात समाधि कहते हैं, इसी को हम समतायोग कहते हैं । इस संप्रज्ञात समाधि का फल केवलज्ञान और केवलदर्शन है ।

आत्मविकास की चौदह सीढ़ियों को जैन लोग चौदह गुणस्थान नाम से मानते हैं । उसमें दो प्रकार की मान्यता है । एक मान्यता यह है कि आठवे, नौवें, दसवें गुणस्थान को पार करके फिर वह ग्यारहवें गुणस्थान में आता है। दूसरी मान्यता यह है कि आठवें, नौंवे और दसवें गुणस्थान से सीधे १२वें गुणस्थान में आ जाता है। उनका मानना है कि जो साधक क्रमशः ग्यारहवें गुणस्थान में आता है, वह जरुर एकबार पतित होता है, नीचे गिरता है । लेकिन जो दसवें से सीधा १२वें गुणस्थान में आ जाता है वह मोक्ष को प्राप्त करता है। एक उपशम श्रेणी होती है और एक क्षपकश्रेणी होती है। उपशमश्रेणी वाला पतित हो जाता है लेकिन क्षपकश्रेणी वाला शीघ्र ही मोक्ष का अधिकारी बनता है । ग्रंथकर्ता ने इसीलिये कहा है कि क्षपकश्रेणी को प्राप्त करके केवलज्ञान प्राप्त करता है।

श्रीमद् राजचन्द्र जी ने इस अवस्था को **अपूर्व अवसर** इस प्रकार में कहा हैं :-

**"एम पराजय करीने चारित्रमोहनो,
आवुं त्यां ज्यां करण अपूर्व भाव जो;
श्रेणी क्षपक तणी करीने आरुढ़ता,
अनन्य चिंतन अतिशय शुद्ध स्वभाव जो ॥१३॥**

**मोह स्वयंभूरमण समुद्रतरी, करी,
स्थिति त्यां ज्यां क्षीणमोहगुण स्थान जो;
अंत समय त्यां पूर्ण स्वरूप वीतराग थई,
प्रकटावुं निज केवलज्ञान निधान जो ॥१४॥**

**चार कर्म घनघाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;**

सर्व भाव ज्ञाता-द्दष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ॥१५॥

इस प्रकार चारित्र मोहनीय को पराजित करके, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म संपराय यथाख्यात् चारित्र रूप क्षीण मोह स्थान से, क्षपक श्रेणी पर आरुढ़ होकर, मोह रूपी स्वयंभूरमण समुद्र को पार करके, जीव वीतराग होकर, केवली अवस्था को प्राप्त करता है, जो अनंत प्रकाश रूप है ॥४२०॥

असंप्रज्ञात एषोऽपि, समाधिर्गीयते परैः ।
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुवेधतः ॥४२१॥

अर्थ : अन्यमत वाले असंप्रज्ञात समाधि के नाम से जिसे गाते है, स्वरूप के अनुभव से सिद्ध होने वाला, समस्त वृत्तियों के निरोधरूप यह वृत्तिसंक्षय ही (तो) है ॥४२१॥

विवेचन : संप्रज्ञात समाधि के पश्चात् अर्थात् केवलीत्व अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् योगी लोग असंप्रज्ञात समाधि में जाते हैं, अर्थात् मन, वचन और काया के समस्त व्यापारों का निरोध करते हैं । समस्त पुद्गल सम्बंध इस अवस्था में छूट जाते हैं और आत्मस्वरूप का बोध-भान हो जाने से वे आत्मा में ही रमण करते हैं । जिसे हम वृत्तिसंक्षय योग कहते हैं उसे पतञ्जलि आदि अन्य महर्षि उसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं । **अपूर्व अवसर** में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने सुन्दर बताया है ।

मन वचन काया ने कर्मनी वर्गणा,
छूटे जिहाँ सकल पुद्गल संबंध जो;
एवुं अयोगि गुणस्थानक तिहां वर्ततु;
महाभाग्य सुखदायक पूर्ण अबंध जो ॥१७॥ अपूर्व अवसर

संप्रज्ञात समाधि की स्थिति सयोगी केवली की स्थिति है और असंप्रज्ञात समाधि की स्थिति अयोगिकेवली की स्थिति हैं । सयोगी केवली की स्थिति को संप्रज्ञात समाधि कहते हैं और अयोगी केवली की स्थिति को असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं । केवल शब्दों में अन्तर है अवस्था में अन्तर नहीं ॥४२१॥

धर्ममेघोऽमृतात्मा च, भवशत्रुः शिवोदयः ।
सत्त्वानन्दः परश्चेति, योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥४२२॥

अर्थ : धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशत्रु, शिवोदय, सत्त्वानन्द और परसमाधि इत्यादि की योजना यहाँ अर्थानुसार कर लेनी चाहिये ॥४२२॥

विवेचन : योगी को योग की अनेक विचित्र अवस्थाओं का अनुभव होता है,इसलिये सभी योगियों ने अपनी-अपनी अनुभूति के आधार पर फल स्वरूप उन-उन अवस्थाओं को सूचित करने वाले भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं। महर्षि पतञ्जलि ने अपने पातञ्जलदर्शन में असंप्रज्ञात समाधि को "धर्ममेघ" नाम दिया है। सांख्यदर्शनकार कपिलमुनि ने इसे "सत्त्वानन्द" कहा है। वेदान्त दर्शन में इसे "परमानन्द" कहते हैं और जैन इसे "शिवोदय" कहते हैं। कोई इसे "भवशक्र" कहते है तो कोई इसे "परसमाधि" के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि ये नाम भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं परन्तु उसका वक्तव्यार्थ भिन्न नहीं है क्योंकि योग की शक्ति अति विचित्र है। अत: उसके फल स्वरूप ये नाम भिन्न-भिन्न हैं। "धर्म मेघ" — मेघ जैसे सृष्टि को शीतलता प्रदान करता है वैसे ही इस अवस्था में योगी के सभी त्रिविध - ताप और तृष्णा दूर हो जाती है और चित्त में परमशान्ति की धारा प्रवाहित होती है। "अमृतात्मा" — जिस अवस्था को पाकर आत्मा अमर हो जाती है। "भवशक्र" — जैसे शक्र ने अपने वज्र के द्वारा दैत्यों के स्थान-पर्वतों का नाश करके, दैत्यों को नष्ट किया, वैसे ही जिस योगी ने संसार के बीजभूत कर्मदलों का नाश ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी वज्र से किया उस कर्मरहित स्थिति का उपभोक्ता "भवशक्र" है। जब आत्मा शुद्ध-बुद्ध होता है तब ध्यान, ध्येय और ध्याता एक हो जाता है, इसलिये यहाँ ध्येता का नाम "भवशक्र" दिया है। "सत्त्वानन्द" — प्राणों को आनन्द देने वाली स्थिति। "शिवोदय" — शिव-कल्याण और उसका उदय "शिवोदय", "परसमाधि" अन्तिम स्थिति। इस प्रकार यहाँ अध्यात्मयोग में अर्थ के अनुसार सभी का समावेश हो जाता है। शब्द से भिन्न होने पर भी सभी एक ही अर्थ के सूचक हैं। जैसे एक ही जल को वारि, पय, अम्ब, पानी आदि नामों से बोला जाता है, उसी प्रकार योगियों ने उसी वस्तु को भिन्न-भिन्न नाम दिये हैं ॥४२२॥

मण्डूकभस्मन्यायेन, वृत्तिबीजं महामुनिः ।
योग्यतापगमाद् दग्ध्वा, ततः कल्याणमश्नुते ॥४२३॥

अर्थ : महामुनि मंडूकभस्म न्याय से सर्ववृत्तिरूप बीज को जलाकर, योग्यतानाश के पश्चात् कल्याणपद (मोक्ष) को प्राप्त करते हैं ॥४२३॥

विवेचन : जिस प्रकार मेंढक के चूर्ण की भस्म करने के पश्चात् पानी का संयोग होने पर भी उसमें से मेंढक की उत्पति संभव नहीं, उसी प्रकार उच्च गुणस्थान पर स्थित योगी जब अपनी सर्ववृत्तियों-मन, वचन और काया के व्यापारों को निरुद्ध करता है, तब कर्मों का बीज नष्ट हो जाता है। आत्मा और कर्म के संयोग की जो योग्यता है, उसका नाश हो जाता है। फिर योगी पुनर्जन्म के चक्र में कभी नहीं आता। वह परम कल्याणपद मोक्ष को प्राप्त करता है।

मंडूकभस्म न्याय - मेंढक के शरीर को चूर्ण में जब नये पानी का संयोग-सम्बंध होता

है, तो उसके चूर्ण में बीजत्व विद्यमान होने से अनेक मेंढकों की उत्पत्ति होती है। परन्तु अगर चूर्ण को जलाकर अगर उसकी भस्म बना दी जाय; तो फिर उसमें पानी का संयोग होने पर भी, मेंढक की उत्पत्ति नहीं हो सकती-इसे मण्डूकभस्मन्याय कहते हैं। इसी प्रकार जप, तप, ध्यान तथा अकामनिर्जरा से आत्मा कर्मों का नाश तो करती है, परन्तु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, राग-द्वेष मोहनीय कर्म की बीजभूत योग्यता विद्यमान होने से, कषायरूप पानी मिलते ही अथवा विषयभोगरूप लालच पाते ही, साधक यथाप्रवृत्ति से पतित होकर पुनः संसारवृद्धि का कारण बनता है। परन्तु अविरति बादर, सूक्ष्मसंपराय, क्षीणमोह गुणस्थान में स्थिर महामुनि ध्यानाग्नि-शुक्लध्यानरूपी अग्नि से सर्ववृत्ति रूप कर्मों को जलाकर, कर्मबीजभूत योग्यता को नष्ट करके, परम कल्याण का भागी बनता है-मोक्षपदभोक्ता बनता है ॥४२३॥

यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभाव्यनियोगतः ।
योग्यतापगमोऽप्येवं, सम्यक्ज्ञेयो महात्मभिः ॥४२४॥

अर्थ : इस प्रकार यथोक्त (अध्यात्मादि) सामग्री की प्राप्ति और उक्त योग्यता की निवृत्ति भी भव्यत्व योग्यतारूप स्वभाव के योग से ही होती है - ऐसा महापुरुषों ने जाना है ॥४२४॥

विवेचन : शास्त्रोक्त अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय रूप योग सामग्री की उपलब्धि और उससे कर्मबीजरूप योग्यता का नाश, जीव की तथाप्रकार की भवितव्यता के योग से प्राप्त होती है। अध्यात्मादि योग की सहायता से तथाभव्यत्व स्वभाव से कर्म-योग्यता का नाश होता है ऐसा महापुरुषों ने अपने ज्ञान में देखा है ॥४२४॥

साक्षादतीन्द्रियानर्थान्, दृष्ट्वा केवलचक्षुषा ।
अधिकारवशात् कश्चिद्, देशनायां प्रवर्तते ॥४२५॥

अर्थ : केवलज्ञान रूपी चक्षु से अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात देखकर, कोई (तीर्थंकरपद योग्य जीव) योग्यता विशेष से देशना-धर्मोपदेश देने में प्रवृत्त होता है ॥४२५॥

विवेचन : छद्मस्थ आत्मा पांच इन्द्रिय और मन द्वारा जिन पदार्थों को जान नहीं सकता; देख नहीं सकता; इन्द्रियों से परे ऐसे अतीन्द्रिय आत्मा, कर्म, परलोक आदि पदार्थों को, केवली भगवान अपने केवलज्ञान रूपी दिव्यचक्षु से हस्तामलकवत-साक्षात देखते हैं और भूत, भावी, वर्तमानकाल के सभी गुण-पर्यायों को प्रत्यक्ष जानते हैं (और कोई तीर्थंकर पद योग्य जीवात्मायें एवं गणधर आदि) और अपनी योग्यता विशेष से-अधिकार विशेष से, भव्यात्माओं को संसार में डूबता देखकर, उन पर करुणा लाकर, उनको प्रतिबोध देने के लिये समवसरण में धर्म का उपदेश देते हैं ॥४२५॥

प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात्, प्रातिहार्यसमन्वितः ।
अवन्ध्यदेशनः श्रीमान्, यथाभव्यं नियोगतः ॥४२६॥

अर्थ : उत्कृष्ट पुण्य के सामर्थ्य से, प्रातिहार्य से युक्त, सफल देशना वाले, श्रीमान -केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी से युक्त परमात्मा भवितव्यता के योग से (देशना में प्रवृत्त होते हैं) ॥४२६॥

विवेचन : पूर्व जन्म में तीर्थंकर, गणधर आदि पूज्य पुरुषों की, शुद्धभाव से सेवाभक्ति करने से, उत्तरोत्तर पुण्य सामर्थ्य के बढ़ने से जिसने तीर्थंकर नाम कर्म को निकाचितरूप से बांध लिया है और उस उत्कृष्ट पुण्य कर्म के प्रकृष्ट उदय से तथा तीर्थंकरपद के योग्य आठ प्रातिहार्यों से युक्त तीर्थंकर केवली देशना देते है । जैसा कहा है :-

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरभासनञ्च ।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि-जिनेश्वराणाम् ॥

अशोक वृक्ष, देव कृत पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, सिंहासन, चामर, भामण्डल, देव-दुंदुभि और छत्र ये आठ प्रतिहार्य देवताओं द्वारा भक्तिपूर्वक किये जाते हैं ।

उपरोक्त आठ प्रातिहार्यों से युक्त, अवन्ध्य देशनाले – जिसकी देशना कभी भी निष्फल नहीं जाती वैसे तीर्थंकर देशना देते है । जब भी वे समवसरण में धर्मोपदेश देते हैं । किसी को सर्व विरति, किसी को देश विरति प्रकट होती है । और किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है; सभी पर उपदेश का असर होता है । केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त-वह केवलज्ञानी, भवितव्यता के योग से देशना में प्रवृत्त होता है ॥४२६॥

केचित् तु योगिनोऽप्येतदित्थं नेच्छन्ति केवलम् ।
अन्ये तु मुक्त्यवस्थायां, सहकारिनियोगतः ॥४२७॥

अर्थ : कितने ही योगी तो इस केवलज्ञान को ऐसा (अतीन्द्रिय विषयक) नहीं मानते और दूसरे मुक्तावस्था में सहकारी-कारण (इन्द्रियमन) के वियोग से नहीं मानते ॥४२७॥

विवेचन : कितने ही जैमिनीय, मीमांसक आदि पण्डित जो वेदवचन को ही प्रमाण मानते हैं, अध्यात्मादि योग द्वारा शुद्ध स्वरूप को पाने पर भी, पूर्वोक्त अतीन्द्रिय ज्ञान वाले केवलज्ञान को स्वीकार नहीं करते । वे कहते हैं – ज्ञान का कारण पांच इन्द्रिय और मन है और वही जगत के पदार्थों का ज्ञान करवाने में समवायी कारण हैं । इन्द्रियों के सहकार के बिना जीवात्मा किसी भी वस्तु को जान अथवा देख नहीं सकता । इसलिये अतीन्द्रियज्ञान जैसी कोई वस्तु नहीं हैं। मीमांसको ने कहा भी है :-

अतीन्द्रियाणामर्थानां, साक्षात् द्रष्टा न विद्यते ।
वचनेन हि नित्येन, यः पश्यति स पश्यति ॥

जो अतीन्द्रिय पदार्थ है उसे प्रत्यक्षभाव से जानने वाला अथवा देखने वाला कोई आत्मा जगत में नहीं है और होने वाला भी नही है, परन्तु वेदवचनों को नित्य शाश्वत् मानकर, उन वचनानुसार जो पदार्थों को जानता और देखता है, वह सब को जानता और देखता है, याने वेद का ज्ञाता ही सर्वज्ञ है अन्य नहीं।

अन्य सांख्यवादी और नैयायिक, मुक्तावस्था में अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञानरूप केवलज्ञान का अभाव मानते हैं। वे मानते हैं कि मुक्तावस्था में ज्ञान में सहायक होने वाले इन्द्रिय और मन का आत्मा से वियोग हो जाता है इसलिये उसमें ज्ञान का अभाव होता है ॥४२७॥

चैतन्यमात्मनो रूपं, न च तज्ज्ञानतः पृथक् ।
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु, ततः केवलमाश्रिताः ॥४२८॥

अर्थ : चैतन्य आत्मा का स्वरूप है और वह (चैतन्य) ज्ञान से भिन्न नहीं, इसलिये जैनों का केवलज्ञान युक्ति से युक्त है ॥४२८॥

विवेचन : हे सांख्यवादियों और मीमांसकों ! विचार तो करो कि चैतन्य जो है, वही आत्मा अथवा पुरुष का स्वरूप है। इसलिये आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है। "**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**" यह वचन भी प्रमाण है। चैतन्य और आत्मा गुण और गुणी है इसलिये अभेद ही है। वह चैतन्य आत्मा से अलग हो ऐसी कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है। अपितु अनुमान प्रमाण से विचारें तो चैतन्य ही ज्ञान और ज्ञान ही चैतन्य, ऐसा अभेद होने से जब घाती कर्मों का संपूर्ण क्षय हो जाता है तब तुरन्त सभी अतीन्द्रिय पदार्थों को और सभी द्रव्यों के भूत, भावी, वर्तमान गुण पर्यायों को साक्षात देखने वाला केवलज्ञान प्रकट होता है। उस आत्मा को केवल अघातीकर्मों का संग है इसलिये ऐसा ज्ञान संसार की अवस्था-सदेह होने पर भी होता है और मुक्तावस्था में भी होता है। इसलिये दोनों का परस्पर गुण और गुणी, आश्रय और आश्रयी का सम्बंध है ॥४२८॥

अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः ।
नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम् ॥४२९॥

अर्थ : इससे (केवलज्ञान से) अतीन्द्रियज्ञान होता है, फिर सद्देशनारूपी आगम का आविर्भाव होता है, अन्यथा तो मूल बिना यह (आगम) नहीं हो सकता। यह बात अन्यत्र दिखाई है ॥४२९॥

विवेचन : इस प्रकार अध्यात्मादि योग के सतत् अभ्यास से आत्मस्वरूप को शुद्ध करते हुये जब जीव सर्वघाती कर्मों का सर्वथा क्षय करता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है और अतीन्द्रिय पदार्थों के सर्व गुण-पर्यायों को केवली भगवान अपने ज्ञान से प्रत्यक्ष देखते हैं। फिर सत्यदर्शन होने के पश्चात् वे केवली भगवान देशना-धर्मोपदेश देते हैं और आगमों की रचना होती है। अगर

ऐसा न माने तो "मूलं नास्ति कुतः शाखा", जब केवलज्ञान को ही स्वीकार नहीं करे तो केवलीभाषित उपदेश और उनके उपदेशरूप आगम, अंग, प्रत्यंग, उपांगों की रचना कैसी ? याने असंभव है, जो कि उचित नहीं है। इस तथ्य का विस्तृत विवेचन '**शास्त्रवार्तासमुच्चय**' आदि ग्रंथों में किया है ॥४२९॥

तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे, संविदस्योपपद्यते ।
एषां चानुभवात् सिद्धा, प्रतिप्राण्येव देहिनाम् ॥४३०॥

अर्थ : इस प्रकार लोक में आत्मा के चिद्रूप सिद्ध होने पर इसके (आत्मा के) संविद्-ज्ञान की सिद्धि हो जाती है और यह (वस्तु) देहधारी प्राणीमात्र को अनुभव सिद्ध है ॥४३०॥

विवेचन : नाणं च दंसणं चेव, चरितं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो अ, एअं जीवस्स लक्खणम् ॥

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग रूप गुण स्वभावों से युक्त आत्मा है, आत्मा का यह लक्षण पूर्व में बता चुके है। इसी बात को स्पष्ट करते हुये बताते हैं कि चेतन और जड़ सर्व पदार्थों से व्यापक इस लोक में सर्व जीवात्माएं ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान को अन्यमतवाले चिद् कहते हैं। आत्मा चिद् स्वरूप होने से ही चेतन कहा जाता है। अतः आत्मा का चैतन्य स्वरूप ज्ञान से भिन्न नहीं, अपितु ज्ञानस्वरूप ही है। क्योंकि जहाँ-जहाँ चैतन्य है वहाँ-वहाँ ज्ञान है। चैतन्य के बिना ज्ञान असंभव है और ज्ञान भी चैतन्य के सिवाय कहीं नहीं रहता। उस चिद्ज्ञान द्वारा क्षयोपशमभाव से, जितने अंश में आत्मा के आवरण दूर होते हैं, उतने अंश तक आत्मा को स्व और पर वस्तु का संविद्-ज्ञान होता है। जीवात्मा के ज्ञानगुण पर सर्वथा आवरण कभी नहीं आता। आत्मा के ज्ञानगुण का अनन्तवां भाग तो हमेशा खुला ही रहता है। इसीलिये सुख-दुःख का बोध व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप से आत्मा को अवश्य होता है। कहा भी है :-

अक्षरस्याऽनंतभागो, नित्योद्घाटित एव हि ।
निगोदीनामपि भवेदित्येतत्परिणामिकः ॥

अक्षर- कभी भी नाश न होने वाला, सदा - शाश्वत रहने वाला ज्ञान, जीवात्मा में सत्ता रूप से तो संपूर्ण विद्यमान होता है परन्तु आवरणों में दबा रहने से अनुभव में नहीं आता। निगोद जैसे प्राणियों में भी अक्षर का अनन्तवें भाग जितना ज्ञान तो नित्य खुला ही रहता है। जैसे-जैसे मन, वचन और काया की शक्तियाँ विकसित होती है वैसे-वैसे ज्ञानावरणीय कर्मों के क्षयोपशम से आत्मा का ज्ञानगुण अनुक्रम से बढ़ता रहता है। वह ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं, क्योंकि कोई भी द्रव्य अपने गुण और पर्यायों से अलग नहीं होता। अगर ज्ञान गुण को आत्मा से भिन्न माने तो अन्धे के हाथ में दीपक होने पर भी, जैसे वह पास में रही वस्तु को नहीं देख सकता, वैसे ही

आत्मा भी किसी भी वस्तु को जान नहीं सके। इसलिये कहा है : **"न च वक्तव्यं संविद् वास्य न भविष्यति"** आत्मा को ज्ञान नहीं होता, ऐसा नहीं बोलना चाहिये । क्योंकि इस संविद् ज्ञान से बाह्य-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श शब्द आदि और आभ्यन्तर-सुख दु:ख आदि जिन-जिन विषयों का संयोग-सम्बंध होता है उसे आत्मा जानता है । मैं सुखी या दु:खी हूं, यह हरा, यह पीला, यह लाल, यह कड़वा और यह तीक्ष्ण है आदि इस प्रकार का बाह्य और अभ्यन्तर विषयों का अनुभव सर्व जीवात्मओं को अवश्य होता है । इसलिये आत्मा से संविद्-ज्ञान भिन्न नहीं, अभिन्न ही है॥४३०॥

अग्नेरुष्णत्वकल्पं तज्ज्ञानमस्य व्यवस्थितम् ।
प्रतिबन्धकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥४३१॥

अर्थ : इस (आत्मा) का वह ज्ञान अग्नि में उष्णत्व के समान रहा हुआ है । प्रतिबंधक के सामर्थ्य से वह (ज्ञान) अपने कार्य में प्रवृत्त नहीं होता ॥४३१॥

विवेचन : जैसे उष्ण्त्व गुण, अग्नि का स्वाभाविक गुण है, उसे अग्नि से अलग नहीं किया जा सकता । उसी प्रकार आत्मा में चैतन्य याने ज्ञान-केवलज्ञान, केवलदर्शन सत्ता से संपूर्ण विद्यमान है और आत्मा से उसे अलग नहीं किया जा सकता । परन्तु प्रश्न उठता है कि अगर आत्मा में केवलज्ञान और केवलदर्शन अभिभाव से रहे हुये हैं, तो आत्मा सदा सभी पदार्थों का ज्ञाता, सभी भावों को जानने और देखने वाला होना चाहिये ? हमें इसका अनुभव क्यों नहीं होता ? हम इन्द्रियों से अगोचर पदार्थों को जानते नहीं, देखते नहीं । इसका समाधान करते हैं कि प्रतिबंधक के सामर्थ्य से अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और वीर्यान्तराय आदि कर्मों के गाढ़ आवरण-पर्दे आत्मा की ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप सहजशक्ति को आच्छादित करके- रखे हुये हैं; उसके ज्ञानादि गुणों के उपर कर्मों के मजबूत पर्दे पड़े हैं, इसलिये आत्मा की जो ज्ञानरूपशक्ति है वह अपना कार्य- सभी वस्तुओं को जानना और देखना रूप कार्य को करने में असमर्थ होती है । आत्मा के ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूप गुण अपना कार्य नहीं कर सकते । परन्तु जब प्रतिबंधक सामग्रीरूप आवरण समूलत: नष्ट हो जाते हैं, तब आत्मा की जो सहजशक्ति केवलज्ञान और दर्शन, प्रकट होते हैं और उससे वह सर्व अतीन्द्रिय पदार्थों को भी हस्तामलकवत् साक्षात देखता है ॥४३१॥

इसी बात की पुष्टि के लिये वे अगले श्लोक में व्यतिरेक शैली से समझाते हैं :

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञ: स्यादसति प्रतिबन्धके ।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात्, कथमप्रतिबंधक: ॥४३२॥

अर्थ : प्रतिबंधक न हो तो ज्ञाता ज्ञेय के विषय में अज्ञात क्यों-कैसे रहे ? अप्रतिबंधक अग्नि बाह्यपदार्थों को जलाये बिना कैसे रहे ! ॥४३२॥

विवेचन : जलाकर भस्म कर देने की जो अग्नि की सहजशक्ति है उसको रोकने वाले मंत्र, तंत्र, जलकान्त या चन्द्रकान्तमणि आदि प्रतिबंध कारण अगर बीच में नहीं हो, वैसी अग्नि अपना सहज कार्य-जलाने का कार्य किये बिना कैसे रह सकती है ? अर्थात् वह जरुर अपना कार्य - जलाने का कार्य करेगी ही । उसी प्रकार आत्मा की सहज ज्ञानशक्ति को ढ़क देने वाले कर्मों के आवरणरूप प्रतिबंधक कारण जब नहीं होते, तब वह आत्मा अपनी सहज ज्ञानशक्ति रूप कार्य को किये बिना कैसे रह सकती है ? अर्थात् जब सभी आवरणों का नाश हो जाता है, तब स्वपरप्रकाशक आत्मा ज्ञेयपदार्थों से अज्ञात कैसे रह सकती है ? अर्थात् नहीं रह सकती । जैसे बिना प्रतिबंध के अग्नि प्रकाशमान होती है वैसे ही प्रतिबंध के बिना आत्मा भी सर्व पदार्थों को — उनके गुणपर्यायों को भूत-भावी-वर्तमान काल में साक्षात देखता हैं ॥४३२॥

**न देशविप्रकर्षोऽस्य, युज्यते प्रतिबन्धकः ।
तथानुभवसिद्धत्वादग्नेरिव सुनीतितः ॥४३३॥**

अर्थ : अग्नि की भांति देश और काल की दूरी इसकी (केवलज्ञान की) प्रतिबंधक नहीं हो सकती, यह अनुभव सिद्ध न्याय है ॥४३३॥

विवेचन : यह केवलज्ञान सर्वघातीकर्म रूप प्रतिबंधक कारणों के नाश होने से प्रकट होता है । उसमें क्षेत्र, काल, भाव और द्रव्य की दूरी प्रतिबंधक - रुकावट डालने वाली नहीं हो सकती। स्वर्ग, पाताल, द्वीप, समुद्र आदि पदार्थों को जानने के लिये किसी भी प्रकार का प्रतिबंध-अन्तराय, रुकावट नहीं आती । क्योंकि केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर सर्व आवरणों का सर्वथा नाश हो चुका है । इसलिये सूक्ष्म से सूक्ष्म अणु से लेकर महान् से महान् सभी पदार्थों के भूत, भावी, वर्तमान कालीन द्रव्यों के गुण-पर्यायों को वह जानता है, देखता है । ऐसी ज्ञान की शक्ति है । बाह्य आभ्यन्तरिक कोई प्रतिबंध भी बीच में नहीं आता । ऐसा स्व अनुभव अथवा स्व-संवेदनरूप ज्ञान से सिद्ध है। जैसे अग्नि के प्रतिबंधक कारणों के हटा देने पर अग्नि जलाती ही है, यह सुन्याय है । अग्नि में तो देशकाल आदि की दूरी भी प्रतिबंधक है परन्तु केवलज्ञान में तो कोई भी आवरण देश का, काल का, द्रव्य का प्रतिबंधक नहीं हो सकता ॥४३३॥

अगर ऐसा है तो अग्नि का दृष्टान्त केवलज्ञान के साथ कैसे घट सकता है? उसी का समाधान करते हैं कि -

**अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो, धर्ममात्रत्वदर्शकः ।
अदाह्यादहनाद्येवमत एव न बाधकम् ॥४३४॥**

अर्थ : यह दृष्टान्त तो धर्ममात्र को अंश से दिखाने वाला है । इसलिये अदाह्य पदार्थों को न जलाने से यह (दृष्टान्त) बाधक नहीं है ॥४३४॥

विवेचन : दृष्टान्त प्राय: एकदेशीय होते हैं। किसी एक धर्मविशेष को बताने के लिये दिये जाते हैं। यह दृष्टान्त भी एकदेशीय है और अग्नि के उष्णत्व धर्म विशेष को लेकर दिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे अग्नि में उष्णत्व धर्म रहता है और वह अग्नि अपने उष्णत्वधर्म को छोड़ नहीं सकती। उसी प्रकार आत्मा का धर्म स्वभाव ज्ञान है, वह अपने बोधत्व रूप ज्ञानधर्म को छोड़ नहीं सकती, ऐसा आंशिक साधर्म्य बताने के लिये ही यह दृष्टान्त दिया है। कोई भी दृष्टान्त सर्वदेशीय नहीं होता; सर्व अंशों से साधर्म्य सभी द्रव्यों में संभव नहीं है। कभी बांस के मूल आदि को अथवा दूरी के कारण किसी पदार्थ को अग्नि न जला सके तो इससे अग्नि का जो दाहक स्वभाव है, वह मिट जायेगा ? उसका वह स्वभाव कभी नहीं मिट सकता। इसी प्रकार आत्मा में ज्ञातृत्वशक्ति है, परन्तु जब तक कर्मों के आवरण दूर नहीं होते, तब तक वस्तु स्वरूप का बोध नहीं होता। परन्तु इससे ऐसा नहीं कह सकते कि आत्मा में बोधत्वशक्ति ही नहीं है। जैसे आवरण बिना अग्नि जलाती है वैसे ही आवरण बिना आत्मा सभी पदार्थों को देखता और जानता है। इस प्रकार अग्नि में दाहकत्व और आत्मा में ज्ञातृत्वरूप साधर्म्य को बताने के लिये ही यह दृष्टान्त दिया है, वह इसका बाधक नहीं हो सकता। केवलज्ञान सर्वपदार्थों के सर्व पर्यायों को ज्ञात करने वाला है, उसमे कोई भी आवरण, देश का या काल का, बाधक नहीं बन सकता ॥४३४॥

सर्वत्र सर्वसामान्यज्ञानाज्ज्ञेयत्वसिद्धितः ।
तस्याखिलविशेषेषु, तदेतन्न्यायसङ्गतम् ॥४३५॥

अर्थ : सर्वसामान्य ज्ञान से ज्ञेय सिद्धि होती है, तो सभी विशेषों में उसका (केवली का) वह (केवलज्ञान) न्याययुक्त है ॥४३५॥

विवेचन : दूर या समीप अथवा भूत, भविष्य, वर्तमानकाल सम्बंधी सभी पदार्थों का सामान्यज्ञान, सामान्य ज्ञाता को उसकी शक्ति और योग्यतानुसार होता है। जैसे धुयें के अनुमान से अग्नि का ज्ञान होता है। कहा भी है :- "यो य: सामान्य ज्ञान विषयोऽर्थ: स स कस्यचित् प्रत्यक्षो भवति यथा धूमाद अनुमीयमानोग्नि: । सामान्य ज्ञानविषयाश्च सर्वे भावा: । तस्मात्ते कस्यचित्प्रत्यक्षा अपि-स्युरिति"। वैसे ही जिस आत्मा के प्रतिबंधककारण रूप कर्मावरण नष्ट हो गये हैं, वह केवली भगवान सभी पदार्थों का विशेष ज्ञान - सर्वगुण पर्याय सहित त्रिकालज्ञान प्राप्त करता है, यह युक्ति सिद्ध है। जब सामान्य व्यक्ति अपनी शक्ति और योग्यतानुसार सर्वसामान्य ज्ञान करने में समर्थ हैं, तो केवलज्ञानी सभी पदार्थों के विशेषज्ञान को जानने में क्यों समर्थ नहीं हो सकता? क्योंकि पदार्थमात्र ज्ञेय है, इसलिये जैसे सामान्य व्यक्ति को सर्वपदार्थों का सामान्य ज्ञान हो सकता है, वैसे ही सभी पदार्थों का विशेषज्ञान - केवलज्ञान केवलज्ञानी को सर्वत्र होता है यह तथ्य न्याय युक्त-युक्तिसिद्ध है ॥४३५॥

सामान्यवद् विशेषाणां, स्वभावो ज्ञेयभावतः ।
ज्ञायते स च साक्षत्त्वाद् विना विज्ञायते कथम् ॥४३६॥

अर्थ : सामान्य की भांति विशेष स्वभाव भी ज्ञेय-पदार्थों में जाना जाता है, बिना साक्षात्कार के वह (विशेष स्वभाव) कैसे जाना जाय ? ॥४३६॥

विवेचन : सभी पदार्थों में दो प्रकार के धर्म रहे हुये हैं- सामान्य और विशेष । जैसे सामान्य-महासत्ता, अस्तित्व, वस्तुत्व और परिणामित्व आदि स्वभाव सभी पदार्थों में व्यापक होता है । उसी प्रकार विशेष धर्म - जो धर्म एक को दूसरे से अलग कर दे, वह धर्म विशेष कहलाता है, जैसे घट, पट, पर्वत, राजा, मनुष्य, रत्न आदि । वह विशेष धर्म भी सभी पदार्थों में होता है। पदार्थों में रहे हुये इन दोनों स्वभावों के सहयोग से ही ज्ञाता को पदार्थ का "यह कुछ है", ऐसा सामान्यज्ञान और "यह पदार्थ अमुक रूप, गुण और स्वभाव वाला है", ऐसा विशेष ज्ञान, विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव होने से होता है । जितना क्षयोपशम होता है उतना विशेष ज्ञान होता है । उसी प्रकार पदार्थों का ज्ञेयत्व स्वभाव होने से, सर्व आवरणरूप प्रतिबंधकों का जब सर्वथा अभाव होता है, तब केवली भगवान को सर्व पदार्थ साक्षात प्रत्यक्ष होते हैं । क्योंकि पदार्थों का वैसा विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव है । लेकिन पदार्थों के गुण-पर्याय आदि में वैसा विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव अगर न हो, तो ज्ञाता 'यह पदार्थ अमुक है, अमुक नहीं', यह विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव कैसे अनुभव कर सकता है? इसलिये सर्व पदार्थों में सामान्य ज्ञेयत्व और विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव होने से ही सभी सर्वज्ञ जीवों कों सर्व आवरणों के अभाव में, देश और काल के प्रतिबंध के बिना ही ज्ञान हो जाता है । अतः पदार्थों में सामान्य ज्ञेयत्व और विशेष ज्ञेयत्व स्वभाव सभी दर्शनकारों को मान्य है ॥४३६॥

अतोऽयं ज्ञस्वभावत्वात्, सर्वज्ञः स्यान्नियोगतः ।
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति, सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥४३७॥

अर्थ : इसलिये ज्ञानस्वभावत्व होने से यह (जीव) निःसन्देह-अवश्य सर्वज्ञ है, अन्यथा इसका ज्ञायत्व ही नष्ट हो जाय । इस बारे में गंभीर विचार करें ॥४३७॥

विवेचन : आत्मा का स्वभाव ज्ञान है । ज्ञान स्वभाव वाला होने से ही आत्मा विशेष पदार्थों का साक्षात बोध प्राप्त करती है । जब तक उसके ज्ञान का पूर्ण विकास न हुआ हो, तब तक आवरणों के कारण उसका अल्पविकसित ज्ञान मर्यादित होता है । परन्तु जब उस ज्ञेय स्वभाव का पूर्ण विकास हो जाता है, सभी आवरण और प्रतिबंधक कारण नष्ट हो जाते हैं, तब ज्ञेय स्वभावी सभी पदार्थों को, सर्वज्ञ अवश्य-निःसन्देह साक्षात देखता है, और जानता है । अगर आत्मा के सर्वज्ञत्व स्वभाव का हम इन्कार करते हैं-सर्वज्ञत्व को नहीं मानते, तो जीवात्मा का लक्षणरूप जो

ज्ञायत्वस्वभाव है वह मिथ्या हो जाता है, उसका अभाव हो जाता है। और फिर उसे चेतन न मानकर, जड़ स्वभावी मानना पड़ता है, जो कि षह है नहीं और किसी को भी इष्ट भी नहीं है। इसलिये सूक्ष्मबुद्धि से विचारें कि अगर प्रतिबंधक के अभाव में भी आत्मा सर्वज्ञ न हो; तो आत्मा का ज्ञायत्वस्वभाव ही नहीं रहता। जैसे आकाश अमूर्त होने पर भी स्व-स्वभाव से सभी पदार्थों को अवकाश याने स्थान देता है, वैसे ही आत्मा का ज्ञान स्वभाव होने से और पदार्थों में ज्ञेयत्व स्वभाव होने से सर्वज्ञ सभी पदार्थों का ज्ञाता होता है ॥४३७॥

एवं च तत्त्वतोऽसारं, यदुक्तं मतिशालिना ।
इह व्यतिकरे किञ्चिच्चारुबुद्ध्या सुभाषितम् ॥४३८॥

अर्थ : इस प्रकार बुद्धिशाली (कुमारिल भट्ट)ने यहाँ सर्वज्ञ निषेध के सम्बंध में जो कुछ भी सुन्दर बुद्धि से सुभाषित कहा, वह पारमार्थिक दृष्टि से व्यर्थ है ॥४३८॥

विवेचन : पूर्वोक्त सत्य युक्तियों से सर्वज्ञत्व की सिद्धि होने पर भी मीमांसक पण्डित महान् बुद्धिशाली, जगत प्रसिद्ध तार्किक शिरोमणि कुमारिल भट्ट ने जो सर्वज्ञत्व का निषेध किया है कि "जगत में कोई भी सर्वज्ञ हो ही नहीं सकता", वह निषेध केवल बुद्धि का विलास है, भाषा और वाणी का विलासमात्र है। उसमें परमार्थ दृष्टि का अभाव है, इसलिये वह व्यर्थ है। ग्रंथकर्ता का कुमारिल भट्ट के लिये मतिशाली, चारुबुद्धि और सुभाषित इन तीन विशेषणों के प्रयोग का अभिप्राय: उनके प्रति आदर नहीं अपितु उनके वाक्चातुर्य पर कटाक्ष किया है। आनंदघनजी ने भी कहा है कि

तर्क विचारे रे वाद परम्परा रे
पार न पँहुचे रे कोय ।
अभिमत वस्तु वस्तुगते लहे रे
ते विरला जग जोय ।

सर्वज्ञ जैसा तथ्य तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि उससे वाद फिर अन्य का प्रतिवाद, प्रतिवाद इस प्रकार कोल्हु के बैल की भाँति वादों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है, और परिणाम कुछ नहीं आता। वस्तु हाथ नहीं आती। कुमारिलभट्ट के तर्क, सुभाषित और वाणी, परमार्थ की दृष्टि से व्यर्थ बताई है, क्योंकि वह वस्तु अनुभूति जन्य है। अनुभूति ही सत्य का सच्चा दर्शन करवा सकती है ॥४३८॥

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्, तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे, विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥४३९॥

अर्थ : अज्ञानीकृत उपदेश में व्यभिचार आदि दोषों से शंकित (पुरुष) वेदोक्त वचनों के विश्वास के लिये किसी ज्ञानवान को तो ढूंढते ही हैं ॥४३९॥

विवेचन : मीमांसक वेदवचनों को ही प्रमाणभूत मानते हैं, और उसपर ही विश्वास करते हैं। क्योंकि वे इसे ईश्वरकृत ग्रंथ मानते हैं, इसलिये इसे अपौरुषेय ग्रंथ कहते हैं। अपौरुषेय वेद-वचनों का परमार्थ-रहस्य ज्ञानी के बिना कौन समझा सकता है ? मीमांसकों को ज्ञानी की खोज तो करनी ही पड़ती है। क्योंकि वेद के परमार्थ को न समझने वाला कोई अज्ञानी अगर वेद का उपदेश करने लगे, तो कितने ही सामान्य बुद्धिजीवी लोग अन्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव आदि दोषों से युक्त असिद्ध, असम्भवित और व्यभिचार आदि दोषों से व्यापक अर्थ को ग्रहण करेगे और परमार्थ से वंचित होकर ठगे जायेंगे। ऐसे भय से शंकित होकर मीमांसक विद्वान स्वयं वेद के रहस्य को तात्त्विक रूप से समझाने वाले किसी ज्ञानी की खोज करते हैं। ज्ञानी के बिना वेदों पर विश्वास कौन कर सकता है ? अतः वेदवचनों की जानकारी के लिये भी ज्ञानी की तो जरुरत रहती ही है। सर्वज्ञोक्त वाणी को सर्वज्ञ के बिना कौन समझा सकता है ॥४३९॥

तस्मादनुष्ठानगतं, ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीटसंज्ञापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोयुज्यते ॥४४०॥

अर्थ : तो इसके (सर्वज्ञ के) अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान पर ही विचारे, उसकी कीट संख्या का ज्ञान हमारे क्या उपयोगी है ? किस काम का है ? ॥४४०॥

विवेचन : अपौरुषेय वेद के परमार्थ को न जानने वाले किसी अज्ञानी के उपदेश से अनर्थ होगा ? ऐसी शंका से बचने के लिये मीमांसक कुमारिल भट्ट ने बताया है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किये जाने वाले वेदोपदिष्ट अग्निहोत्र आदि अनुष्ठानोपयोगी ज्ञान को ही हम प्रमाण मानते हैं। ऐसा ज्ञान जिसमें हो, उसे ही हम सर्वज्ञ भाषित मानते हैं, क्योंकि वही ज्ञान उपयोगी है। जिसमें ऐसा ज्ञान नहीं, ऐसा सर्वज्ञ पुरुष 'आकाश में इतने भारण्डपक्षी है। समुद्र में इतने मत्स और मछलियां हैं। इतने मगरमच्छ और इतने कछुए हैं।' इस प्रकार जगत के देवगण, मनुष्यगण और पशुगण की संख्या गिनने में उनकी प्रवीणता और उन सर्वज्ञों का ज्ञान हमारी आत्मा के लिये पारमार्थिक रूप से कोई उपयोगी नहीं। ऐसे ज्ञान से, ऐसे सर्वज्ञों से हमें कोई प्रयोजन नहीं। अतः अनुष्ठानों में जो ज्ञान उपयोगी हो, उसी का विचार करना चाहिये, उसी को प्रमाण मानना चाहिये। अमुक वस्तु में इतने कीड़े है, इतने परमाणु हैं, ऐसी संज्ञा का विशेष ज्ञान हमारे किस काम का हैं ?॥४४०॥

हेयोपादेयतत्त्वस्य, साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो, न तु सर्वस्य वेदकः ॥४४१॥

अर्थ : हेय और उपादेय तत्त्व के उपाय का जो ज्ञाता है, वह वस्तुतः इष्ट है न कि सर्व को जानने वाला ॥४४१॥

विवेचन : सभी जीवों के आत्महित के लिये कौन सी वस्तु त्यागने योग्य है और कौन सी वस्तु काम में लेने योग्य है, इस प्रकार हेय-त्याज्य और उपादेय-आदरणीय तात्त्विक अनुष्ठानों के (आचरण करने के) विधि-विधान, उपाय और फल जिसमें बतायें हैं, ऐसे वेदरूपी ज्ञान का ज्ञाता, बुद्धिमान पुरुष ही हमारे मत में सर्वज्ञ है। क्योंकि उसी की आज्ञा से स्वहित प्रवृत्ति होती है, इसलिये उसे ही हम आप्त पुरुष कहते हैं। वह आप्त पुरुष ही हमारे मत में सर्वज्ञ इष्ट है, और ऐसे सर्वज्ञ को ही हम प्रमाण मानते हैं। परन्तु अन्य सर्वज्ञ जो सभी परोक्ष पदार्थों को जानता है, और हमें प्रत्यक्ष जानकारी की बाते करता है, वह जगत के सर्व पदार्थों का ज्ञान चमत्कारी भले ही हो और हमें आश्चर्य में डाल दे, परन्तु हमको वह सर्वज्ञ मान्य नहीं। हेय और उपादेय का उपदेश नहीं देने वाला सर्वज्ञ होने पर भी अपौरुषेय वेद का अज्ञ होने से अवेद असर्वज्ञ ही है। संसार के सभी पदार्थों के गुण धर्मों को न जानता हो, परन्तु अपौरुषेय वेद के परमार्थ को संपूर्ण जानता हो वह हमारे लिये सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ याने वेदज्ञाता, वेदज्ञाता याने सर्वज्ञ हमें ऐसा अर्थ इष्ट है, सभी को जानने और देखने वाला सर्वज्ञ, ऐसा अर्थ हमें इष्ट नहीं ॥४४१॥

दूरं पश्यतु वा, मा वा, तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु ।
प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते गृध्रानुपस्महे ॥४४२॥

अर्थ : दूर देखे अथवा न देखे, परन्तु इष्ट तत्त्व को जो देखता है, वह सर्वज्ञ है। यदि दूरदर्शी को ही प्रमाण-सर्वज्ञ माने तो गिद्धों की उपासना करें ॥४४२॥

विवेचन : दूर-दूर रही हुई वस्तु को और भूत-भावी कालीन पदार्थों को सर्वज्ञ देखे या न देखे, मीमांसक कुमारिल भट्ट कहते हैं कि इससे हमें कोई प्रयोजन नहीं। परन्तु इष्ट तत्त्व जो हमें प्रिय है ऐसे धर्म सम्बंधी अनुष्ठान जैसे यज्ञ याग कैसे करना ? संध्या कैसे और कब करनी? गौमेध, अजमेध, अश्वमेध, नरमेध, प्रजापत्यमेध कब करना ? नदी-स्नान कब और कितनी बार करना? शारीरिक शुद्धि कैसी रखनी ? कैसा आहार लेना ? उसका काल-सम्बंधी ज्ञान, विधि सम्बंधी का ज्ञान, तप का ज्ञान, भक्ष्य-अभक्ष्य ज्ञान और हेय-उपादेयादि ज्ञान को जो यथास्वरूप जानता है उसी (सर्वतत्त्वों के ज्ञाता) को हम सर्वज्ञ मानते हैं। यदि दूर-दूर रही वस्तु को जानने और देखने वाले दूरदर्शी को ही तुम लोग सर्वज्ञ कहते हो, तो यह सर्वज्ञ का चिह्न लक्षण नहीं क्योंकि ऐसा तो गिद्ध जैसे पक्षियों में भी होता है। आकाश में सैकड़ों मील ऊँचे उड़ने वाला गिद्ध नामका पक्षी पृथ्वी पर रहे अपने खाद्य पदार्थ - मांस को इतनी दूरी से देख लेता है। इसलिये दूरदर्शीत्व को यदि सर्वज्ञत्व का चिह्न माना जाय तो गिद्धों की भी सर्वज्ञों की भांति उपासना करनी चाहिये।

जैसे वह तुम को इष्ट नहीं, इसी प्रकार दूरदर्शीत्व भी हम को इष्ट नहीं। इसलिये जिससे पुण्य धर्म की वृद्धि हो ऐसी क्रिया को जानने वाला, वेद का ज्ञाता ही सर्वज्ञरूप से हमको इष्ट है ॥४४२॥

एवमाद्युक्तसन्नीत्या, हेयाद्यपि च तत्त्वतः ।
तत्त्वस्यासर्वदर्शी न वेत्त्यावरणभावतः ॥४४३॥

अर्थ : इस प्रकार (जैमिनि और कुमारिल भट्ट) का उक्त कथन सर्वसत्यन्याय से विचार करने पर अग्राह्य है क्योंकि जो आत्मा हेय-उपादेय आदि का सच्चा ज्ञान रखती है वही सर्वज्ञ कही जा सकती है, असर्वदर्शी (आत्मा) तो ज्ञान के आवरण के कारण नहीं जान सकती ॥४४३॥

विवेचन : इस प्रकार महामतिशाली मीमांसक आचार्य जैमिनि और श्री कुमारिल भट्ट ने जो कहा है कि 'इष्ट तत्त्व को जानने वाला सर्वज्ञ है, दूरदर्शी सर्वज्ञ की हमको जरुरत नहीं।' उनका यह वचन पारमार्थिक न्याय से विचार करने पर सारहीन और असत्य लगता है। हमने पूर्व में कहा है कि "ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यात्" ज्ञाता ज्ञेय पदार्थों से अज्ञानी-अज्ञात कैसे रह सकता है ? इत्यादि श्लोक ४३२ में कथित सत्य वचनों के अनुसार विचार करने पर हेयोपादेय याने त्याग करने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थों के पारमार्थिकज्ञान का अनुभव जिसे हो, वह परमार्थी-वस्तुतः ज्ञानी कहला सकता है। दोषाचार से रहित, शुद्ध आचार की प्रवृत्तिवाला, जीव-अजीव, पुण्य-पाप आदि ज्ञेय-हेय-उपादेय तत्त्व का जिसको यथार्थ ज्ञान हो और वास्तव में विचार करने पर ऐसा ज्ञाता आत्मा अतत्त्वदर्शी नहीं, परन्तु तत्त्वदर्शी ही है। ज्ञान के आवरणों के कारण ही आत्मा असर्वदर्शी रहता है परन्तु जितने अंश में आवरण उठते जाते हैं, उतने अंश में ज्ञानी होता जाता है। संपूर्ण आवरणों के क्षय से संपूर्ण ज्ञान प्रकट होता है ॥४४३॥

प्रमाण हेतुवाद पूर्वक मीमांसक मत का निराकरण करके ग्रंथकार सांख्यमत का भी निरसन कर रहे हैः-

बुद्ध्यध्यवसितं यस्मादर्थं चेतयते पुमान् ।
इतीष्टं चेतना चेह, संवित् सिद्धा जगतत्रये ॥४४४॥

अर्थ : बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ को पुरुष जानता है, ऐसा स्वीकार करने पर यहाँ चेतना इष्ट हुई और तीनों जगत में संविद्-ज्ञान भी सिद्ध हुआ ॥४४४॥

विवेचन : सांख्यवादी मानते हैं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ का पुरुष को ज्ञान होता है। उनकी इस स्वीकृति से स्वतः ही चेतना, ज्ञान या संविद् का स्वीकार हो गया, क्योंकि सांख्य लोग पुरुष को चैतन्य स्वरूप मानते हैं। चैतन्य वही ज्ञान है। जब आवरण नष्ट हो जाते है तो तीनों जगत का ज्ञान हो जाता है। अतः सर्वज्ञत्व न्याय सिद्ध है ऐसा मानना चाहिये ॥४४४॥

चैतन्यं च निजं रूपं, पुरुषस्योदितं यतः ।
अत आवरणाभावे नैतत् स्वफलकृत् कुतः ॥४४५॥

अर्थ : क्योंकि पुरुष का निज स्वरूप चैतन्यमय कहा है, इसलिये आवरण के अभाव में उसका फल कृतकृत्यरूप (सर्वज्ञत्व) क्यों नहीं हो सकता ? ॥४४५॥

विवेचन : चैतन्य अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य आदि गुण, जो आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बंध से रहे हुये हैं। जैसा कि कहा है "चैतन्य निज रूपं पुरुषस्य उदितं" ऐसा सांख्यवादी भी पुरुष-आत्मा को चैतन्य स्वरूप मानते हैं। जब सांख्यों ने पुरुष के चैतन्यमय स्वरूप को स्वीकार कर लिया तो कर्मावरणों के अभाव में अथवा सांख्यमतानुसार प्रकृति के विरह में पुरुष अपने चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्दरूप फल को अनुभूत क्यों नहीं कर सकता ? आत्मा का स्वरूप ही ज्ञानमय है। जब आवरण दूर हो जाते हैं, आत्मा अपने सर्वज्ञत्व का अनुभव करता है। सांख्यमतानुसार भी पुरुष जब प्रकृति से रहित हो जाता है, तब मुक्तावस्था में उसका चैतन्यस्वरूप पूर्ण प्रकट होता है ॥४४५॥

जैन दार्शनिक सांख्यमतवादियों को सम्बोधित करके समझा रहे है :-

न निमित्तवियोगेन, तद्ध्यावरणसङ्गतम् ।
न च तत्तत्स्वभावत्वात्, संवेदनमिदं यतः ॥४४६॥

अर्थ : निमित्त (कारणों) के वियोग से, उसके आवरणों का सम्बंध आत्मा के साथ नहीं रहता। क्योंकि वह आवरण आत्मा (पुरुष) का स्वभाव नहीं, परन्तु आत्मा से भिन्न रहा हुआ संयोग सम्बंध है। और संविद् (ज्ञान) ही आत्मा का सहज अपना स्वभाव है ॥४४६॥

विवेचन : सांख्यों की मान्यता है कि अर्थ विषयक ज्ञान मुक्ति में नहीं होता क्योंकि वे ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानते हैं। परन्तु उनकी बात युक्ति पुरस्सर नहीं है। क्योंकि निमित्त कारण को अन्तः करण के विकारभूत राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, अशुभविचार रूप दोषयुक्त कारणों का वियोग याने समूलनाश होने पर परिणाम स्वरूप ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि आत्मा के स्वरूप को ढंक देने वाले आवरणों का अनादि कालीन संयोग सम्बंध भी नष्ट हो जाता हैं। क्योंकि वे आवरण आत्मा की छद्मस्थ अवस्था पर्यन्त ही रहते हैं। अथवा सांख्यों के मत से प्रकृति, वेदान्तमत से माया का सम्बंध, जब तक हो तब तक, आवरणों का सम्बंध रहता है और वह माया, प्रकृति, आवरण अथवा मन की मलिनता आदि कभी भी आत्मा का सहज स्वभाव नहीं हो सकता। न उनका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बंध है और न ही आत्मा के साथ अभेदभाव से रहे हुये हैं। परन्तु वे अनादिकाल से खान में रहे हुये स्वर्ण की मिट्टी की भांति संयोग-

सम्बंध से रहे हुये है और स्वर्ण स्वरूप की भांति भिन्न है। अतः उन आवरक निमित्तों के दूर होने पर शुद्ध स्वर्ण की भांति आत्मा का संविद् ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप स्वभाव पूर्णरूप से प्रकट होता है, क्योंकि यही चिन्मय आत्मा का सहज स्वभाव और स्वरूप है। जैसे मृतिका के दूर होने पर स्वर्ण देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार आवरणों के दूर होने पर आत्मा अपने ज्ञान स्वभाव से प्रकाशमान होता है ॥४४६॥

चैतन्यमेव विज्ञानमिति नास्माकमागमः ।
किं तु तन्महतो धर्मः, प्राकृतश्च महानपि ॥४४७॥

अर्थ : चैतन्य ही विज्ञान है ऐसा हमारा (सांख्यों का) सिद्धान्त नहीं, किन्तु वह (विज्ञान) तो महत्तत्व का धर्म है और महत्तत्व भी प्रकृति का विकार है ॥४४७॥

विवेचन : सांख्यवादी कहते हैं कि आपने (जैनों ने) चैतन्य और ज्ञान को एकरूप मान कर हमारे तर्कों का परिहार किया है। आप लोग ऐसा मानते हैं कि चैतन्य जो ज्ञान, दर्शन, संवेदन आदि नामों से पहचाना जाता है वह आत्मा का धर्म है। परन्तु हम उसे (चैतन्य और ज्ञान को) एक नहीं मानते क्योंकि चैतन्य जो है वह तो केवल दृष्टा रूप पुरुष है और विज्ञान पदार्थों का अनुभवरूप बुद्धि है, वह महत्तत्व का धर्म है और महत्तत्व जो है वह प्रकृति का ही विकार है। पुरुष चिन्मय है और ज्ञान प्रकृति का विकार है। दोनों भिन्न-भिन्न है। जब प्रकृति पुरुष से अलग पड़ जाती है, अर्थात् जब पुरुष प्रकृति से मुक्त हो जाता है तब उस अवस्था में ज्ञान विज्ञान भी नहीं रहता।

अर्थात् जैन लोग ऐसा मानते हैं कि चैतन्य-ज्ञान, दर्शन, संवेदन आदि नामों से जो पहचाना जाता है वह ज्ञान, विज्ञान, संविद् अथवा संवेदन को चैतन्य स्वरूप नहीं मानते अर्थात् पुरुषरूप आत्मा का स्वभाव-या धर्म नहीं मानते। परन्तु वह संवेदन रूप विज्ञान महत्तत्व रूप बुद्धितत्त्व का धर्म है, ऐसा मानते हैं। जैसे प्रकृति के विकार से महत्तत्व और महत्तत्व से बुद्धितत्त्व, बुद्धितत्त्व से विज्ञानरूप अर्थबोधक ज्ञान होता है, ऐसा हमारा मानना है कहा भी है :-

"प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गुणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥ इत्यादि इति"

इस प्रकार चैतन्य अलग है, ज्ञान अलग है। चैतन्य पुरुष-आत्मा का धर्म है और ज्ञान विज्ञान तो महत्तत्व का धर्म है, और महत्तत्व प्रकृति का विकार है। इस प्रकार ज्ञान प्रकृति का धर्म हुआ, आत्मा का नहीं। इसलिये आत्मा-पुरुष जब प्रकृति से मुक्त होता है तब ज्ञान विज्ञानरूप धर्म उसमें नहीं, रहता ऐसा हमारा मानना है। चैतन्य पुरुष का धर्म है और ज्ञान प्रकृति का धर्म है, इसलिये दोनों भिन्न-भिन्न है, एक वस्तु नहीं है ॥४४७॥

बुद्ध्यध्यवसितस्यैवं, कथमर्थस्य चेतनम् ।
गीयते तत्र नन्वेतत्, स्वयमेव निभाल्यताम् ॥४४८॥

अर्थ : इस प्रकार (चैतन्य और विज्ञान को भिन्न मानने पर) बुद्धि द्वारा अध्यवसित-निश्चित करवाये हुये पदार्थों का ज्ञान चेतन का कैसे कहते हो ? स्वयं ही विचार करो ॥४४८॥

विवेचन : हे सांख्य पण्डितों ! तुम स्वयं ही अपने प्रज्ञाचक्षु खोल कर देखो ! विचारो!! कि जब तुम चैतन्य और ज्ञान को अलग-अलग मानते हो तो तुम्हारे शास्त्रों में जो लिखा है कि '**बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते**' "बुद्धि द्वारा अध्यवसित-निश्चित किये गये पदार्थों को पुरुष जानता है" और 'चेतनमात्मानो विज्ञानम्' "चेतन आत्मा का विज्ञान है", वह कैसे घटित होगा। क्योंकि यह वचन तो चैतन्य को विज्ञानरूप से अंगीकार करते हैं। यदि चैतन्य और विज्ञान में भेद है तो अज्ञानी पुरुष आत्मा अज्ञानी होने से पदार्थों को कैसे जान सकेगा ? "चीति संज्ञाने" यह वचन भी चैतन्य और विज्ञान की एकता को सिद्ध करता है। अतः तुम्हारी बात 'चैतन्य और ज्ञान की भिन्नता' तुम्हारे ही शास्त्रवचनों से खण्डित हो जाती है। इसलिये चेतन और विज्ञान एक ही वस्तु है भिन्न-भिन्न नहीं (अगर ऐसा नहीं मानते तो बुद्धि द्वारा अध्यसित अर्थ को पुरुष जानता है, यह कैसे घटित होगा) ॥४४८॥

पुरुषोऽविकृतात्मैव, स्वनिर्भासमचेतनम् ।
मनः करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिकं यथा ॥४४९॥

अर्थ : पुरुष अविकृत आत्मा है, वह अपना आकार अचेतन मनः बुद्धि के सान्निध्य से स्फटिक में उपाधि की भांति प्रकट करता है ॥४४९॥

विवेचन : सांख्यवादी आत्मा को स्फटिक की भांति निर्विकार मानते हैं और कूटस्थ नित्य मानते हैं, जैसे कहा भी है :- '**स्वस्वरूपात् किञ्चिदप्रवच्यमानो नित्य एव सन्नित्यर्थः** ।' आत्मा अपने स्वरूप से जरा भी च्युत नहीं होती, नित्य एक ही स्वरूप में अवस्थित रहती है।

"अच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वरूपो हि नित्यः"

जो नाश नहीं होता, उत्पन्न नहीं होता, नित्य एक ही स्वरूप में रहता है वह नित्य कहा जाता है। सांख्यवादी नित्य की ऐसी व्याख्या करते हैं। उनका मानना है कि जैसे स्फटिक पाषाण का अपना कोई रंग, आकार नहीं होता परन्तु उस पाषाण के नीचे जैसा भी लाल, पीला, नीला फूल या कोई पदार्थ रख देने से ऐसा ही मालुम होने लगता है जैसे कि स्फटिक स्वयं ही लाल, पीला या नीले रंग का है। उसी प्रकार पुरुष आत्मा स्फटिक की भांति स्वयं निर्मल है, निर्विकार है, बुद्धि, मन, महत्तत्वरूप प्रकृति से सर्वथा भिन्न पुष्करपुष्प की भांति निर्लेप है। परन्तु बुद्धि-मन जो कि

जड़ है–अचेतन है, फिर भी पुरुष आत्मा के सान्निध्य से, उसके सम्पर्क में रहकर, अपने आप को 'मैं आत्मा हूँ", "मैं चेतन हूँ" इस प्रकार के चैतन्य परिणामों को धारण करती है। क्योंकि आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह अपने आप को चेतनवंती बताती है और बाह्य शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों का संयोग-सम्बंध से भोग करती हुई "मैं आत्मा हूँ", "उन सभी विषयों की ग्राहक हूं" ऐसा अभिमान रखती है। इस प्रकार आत्मा स्वयं स्फटिकवत् निर्मल होते हुये भी प्रकृति के विकार से जड़ इन्द्रियों और मन के एकत्व भाव को प्राप्त होती है, सांख्य ऐसा मानते हैं ॥४४९॥

विभक्तेदृक्परिणतौ, बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे, यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥४५०॥

अर्थ : जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे बुद्धि में पड़े हुये इसके (पुरुष के) प्रतिबिम्ब को बुद्धि का विषय कहते हैं ॥४५०॥

विवेचन : जैसे स्वच्छ निर्मल जल से पूर्ण कुण्ड में, चन्द्र का प्रतिबिम्ब चन्द्र की भ्रांति को पैदा करता है और पवन की हिलोरों से उठी तंरगों से स्थिर चन्द्र भी चंचलता को धारण करता हुआ दिखाई देता है। वैसे ही बुद्धि में आत्मा का प्रतिबिम्ब आत्मा चेतना की भ्रांति को पैदा करता है और तब बुद्धि ही स्वयं बाह्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों का भोग करती हुई दिखाई देती है। जब बुद्धि ऐसी परिणति में होती है तब बुद्धि अचेतन होने पर भी चेतन, और प्रतिबिम्बित आत्मा अप्रधान होने पर भी प्रधान-प्रकृतिरूप को प्राप्त करती है। ऐसा सांख्यों का मन्तव्य है ॥४५०॥

स्फटिकस्य तथानामभावे तदुपधेस्तथा ।
विकारो नान्यथाऽसौ स्यादन्धाश्मन इव स्फुटम् ॥४५१॥

अर्थ : स्फटिक तथा उसकी उपाधि के स्वभाव से विकार होता है, अन्यथा अन्धपाषाण सामान्य पत्थर की भांति स्पष्टतः वह (विकार) न हो ॥४५१॥

विवेचन : स्फटिक, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रकान्तमणि आदि पाषाणों में अन्य वस्तु के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने का स्वाभाविक विकार रहा हुआ है। इसीलिये जिन पदार्थों का उसके साथ सम्बंध होता है, वैसे भाव को उपाधिरूप से धारण करता है। इन पाषाणों के नीचे जैसे रंग का फूल या कोई भी वस्तु रखते हैं, वैसे ही प्रतिबिम्ब को धारण कर लेते हैं, क्योंकि वैसा विकार पाने का स्वभाव उनमें सहजभाव से रहा हुआ है। परन्तु इसके विपरीत जिसमें ऐसे प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने का स्वभाव नहीं हैं वैसे अन्धपाषाण - सामान्य पत्थर प्रतिबिम्ब को ग्रहण नहीं करता, क्योंकि उसमें वैसा स्वभाव नहीं, अन्यथा सामान्य पत्थर में भी प्रतिबिम्ब ग्रहण होना चाहिये, लेकिन नहीं होता है। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। इसी प्रकार यदि आत्मा स्वभाव से सर्वथा अधिकारी

हो तो बुद्धिरूपी दर्पण में परिणाम को कैसे प्राप्त हो सकती है? आप यह भी कहते हैं कि बुद्धि अचेतन-जड़ होने से चैतन्यभाव को प्राप्त करती है और चेतन-आत्मा-पुरुष चैतन्यभाव को छोड़कर, बुद्धि को अहंकाररूप से स्वीकार करता है। यह कैसे संभव है ? क्योंकि आत्मा सर्वथा अविकारी स्वभाव की है ॥४५१॥

तथानामैव सिद्धैव, विक्रियाऽप्यस्य तत्त्वतः ।
चैतन्यविक्रियाऽप्येवमस्तु ज्ञानं च साऽऽत्मनः ॥४५२॥

अर्थ : उस प्रकार से (स्फटिक दृष्टान्त से) तो इसकी (आत्मा की) विकृति (परिणामित्व स्वभाव) ही वस्तुत : सिद्ध हुई, इस प्रकार चैतन्य विकृति (परिणामित्व) सिद्ध होने पर आत्मा का ज्ञान सिद्ध हुआ। अर्थात् तथाप्रकार से आत्मा और प्रकृति का परिणामित्व स्वभाव सिद्ध हुआ, जहाँ परिणामी स्वभाव हो वहाँ विकार सिद्ध है और आत्मा का ज्ञान स्वभाव भी सिद्ध हुआ ॥४५२॥

विवेचन : उस प्रकार से स्फटिक का दृष्टान्त देकर तुम सांख्यों ने स्वयं ही यह सिद्ध कर दिया है कि प्रकृति और पुरुष (जड़-चेतन) दोनों में परिणामित्व स्वभाव अर्थात् नये-नये परिणामरूप पर्यायों को धारण करने का स्वभाव अवश्य होता है। परिणामी स्वभाव जहाँ होता है वहाँ विकार स्वतः सिद्ध हुआ, क्योंकि तुम मानते हो कि जब बुद्धि में आत्मा-पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो बुद्धि चेतन जैसी लगती है, और आत्मा प्रधान प्रकृति जैसी लगती है। तुम्हारी यही बात सिद्ध करती है कि दोनों में परिणामित्वरूप पर्याय रहे हुये हैं। तुम चैतन्य को बुद्धि में बिम्बाकार विकृत होकर प्रकट हुई मानते हो। इस प्रकार जिसका गुण विकारभाव को प्राप्त करे उस गुण के साथ तादात्म्यभाव से रहा हुआ गुणी आत्मा भी विकारभाव को पाया हुआ ही सिद्ध हुआ। अतः ज्ञानरूप गुण से अर्थ का संवेदनज्ञान सिद्ध हुआ ॥४५२॥

निमित्ताभावतो नो चेन्निमित्तमखिलं जगत ।
नान्तःकरणमिति चेत्, क्षीणदोषस्य तेन किम् ? ॥४५३॥

अर्थ : यदि निमित्त के अभाव से (मोक्ष में ज्ञान नहीं, ऐसा कहो तो) अखिल जगत (ज्ञेयरूप से ज्ञान का निमित्त है; यदि अन्तः करण के अभाव से (मोक्ष में ज्ञानाभाव) कहो, तो क्षीणदोष को उस (अंतः करण) से क्या प्रयोजन ? ॥४५३॥

विवेचन : यह जो कहा जाता है कि मोक्ष अवस्था में ज्ञान का अभाव होता है, क्योंकि ज्ञान के साधनों का मोक्ष में अभाव होता है। तो उन्हें उत्तर देते हुये कहते हैं कि अगर निमित्त का अभाव होने से उसके कार्यरूप ज्ञान का अभाव मोक्ष अवस्था में सांख्य मानते हैं, तो सारा जगत ज्ञेयरूप से ज्ञान का निमित्त कारण विद्यमान है। निमित्त रूप सहकारी कारणों के अभाव

में "मुलावस्था यामर्थविज्ञानं न" ऐसा जो मानते हो वह गलत है क्योंकि मुक्तावस्था में सर्व आवरणों का अभाव होने से सारे जगत के जड़-चेतन सभी द्रव्यों के गुण-पर्याय रूप अर्थ याने पदार्थों का विज्ञान उसे सहजभाव से ही होता है। आवरणों के नष्ट हो जाने से आत्मा की दर्शन-ज्ञानरूप चैतन्यशक्ति निरावरण भाव से पूर्ण प्रकट होती है, और वही ज्ञान होने में उपादान मुख्य कारण है। सांख्य अगर ऐसा कहें कि ज्ञान होने में अन्तःकरण-मन को हम निमित्त कारण मानते हैं और मुक्तावस्था में उसका अभाव होने से हम ज्ञान का वहाँ अभाव मानते है, तो यह भी गलत है। क्योंकि ज्ञान होने में अन्तःकरण उपादान - मुख्य कारण नहीं, मुख्य कारण तो आत्मा की निरावरणशक्ति है। मुक्तावस्था में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय आदि सर्व कर्मावरण रूप दोष नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अन्तःकरण के अभाव में भी पूर्ण ज्ञान प्रकट होता है। क्षीणदोष - सिद्ध पुरुषों को अन्तः करण के अभाव में भी ज्ञान प्रकाशमान होता है ॥४५३॥

निरावरणमेतद् यद्, विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।
न याति यदि तत्त्वेन, न निरावरणं भवेत् ॥४५४॥

अर्थ : निरावरण वह है जो विश्व को आश्रय करके विकार को नहीं पाता; (यदि विकार को पाता है तो) वह वस्तुतः निरावरण ही नहीं हो सकता।

अर्थात् यदि यह - चैतन्य-आत्मा निरावरण है तो जगत को आश्रय करके विक्रिया को कैसे पा सकता है ? यदि निरावरण आत्मा विक्रिया को पाये तो निरावरण कैसे हो सकता है ?॥४५४॥

विवेचन : सांख्य विद्वानों का मानना है कि पुरुष (आत्मा का चैतन्य स्वरूप) को दोषों का आवरण कभी नहीं लगता, वह सदा एक ही स्वभाव में - स्वरूप में स्थिर रहता है। उनके इस तथ्य पर जैन कहते हैं कि अगर पुरुष-आत्मा एक ही स्वरूप में स्थिर है, तो जगत में तो पुरुष आत्मा की विचित्रता प्रत्यक्ष दिखाई देती है, कोई सुखी, कोई दुःखी; कोई निर्धन, कोई धनवान; कोई रोगी, कोई निरोगी दिखाई देता है। यह विचित्रता कैसे घटित होना ? इस पर सांख्यों का उत्तर है कि पुरुष-आत्मा में जो विविधता के दर्शन होते हैं उसका कारण जगत हैं जो प्रकृति के विकाररूप से विविधरूपों को धारण करता है। आत्मा के प्रतिबिम्ब से उसमें विविधता के दर्शन औपचारिक है, वास्तविक नहीं, जगत की अपेक्षा से है। इस पर जैन कहते हैं, हे सांख्य पण्डितों ! यदि तुम्हारे सिद्धान्तानुसार आत्मा तात्त्विकरूप से अविचलित स्वभाववाला है, तो पूर्व के स्वरूप का त्याग करके, नये स्वरूप को पाने का जो पर्यायरूप स्वभाव है उसका अभाव सिद्ध होता है। अतः पूर्वकाल में आत्मा के साथ जैसा प्रकृति का संयोग है, उत्तरकाल में भी वैसा ही कायम रहेगा, और कभी भी उसके वियोग की संभावना नहीं होगी ? किसी भी काल में आत्मा प्रकृति से मुक्त होकर निरावरण नहीं हो सकता, कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये स्याद्वाद मतानुसार आत्मा को भव्यत्व-

स्वभाव, परिणामी-स्वभाव, अनेक-स्वभाव वाला मानना ही उचित है । क्योंकि आत्मा को परिणामी-स्वभाव - नये-नये परिणामों को धारण करने वाला माने बिना प्रकृति, माया और आवरणों से वियोग संभव नहीं । तात्पर्य यह है कि, हे सांख्य पण्डितों ! तुम आत्मा को निरावरण तभी कह सकते हो जब जगत को आश्रय करके, आत्मा विविधता रूप विकार को न पाये । लेकिन संसार में विविधता के दर्शन प्रत्यक्ष सभी को अनुभूत होते हैं । यदि निरावरण आत्मा भी जगत को आश्रय करके, विविधता रूप विकार को प्राप्त करती है तो आत्मा की वह निरावरणता कैसे हो सकती है? तुम सांख्य लोग आत्मा को एक ही स्वभाव में स्थिर रहने वाली कूटस्थ नित्य मानते हो, वह न्याय पुरस्सर नहीं ॥४५४॥

दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि, नेच्छामात्रनिवर्तनात् ।
पुरुषस्यापि युक्तेयं, स च चिद्रूप एव वः ॥४५५॥

अर्थ : दिदृक्षा की निवृत्ति भी इच्छामात्र की निवृत्ति से पुरुष को घटती है, तुम्हारा (तुम्हारे द्वारा प्रणीत) पुरुष तो चिद्रूप ही है ॥४५५॥

विवेचन : जगत के पदार्थों को देखने की इच्छा - दिदृक्षा मुक्तावस्था में नहीं रहती, यदि इस कारण से वहाँ ज्ञान का अभाव मानते हो तो वह उचित नहीं । क्योंकि इच्छा न होने पर भी ज्ञानशक्ति पुरुष में न्याय से सिद्ध होती है, क्योंकि तुम्हारे मत में भी पुरुष चिद्रूप है, उस चिद्शक्ति को ही हम ज्ञानशक्ति कहते हैं ॥४५५॥

चैतन्यं चेह संशुद्धं, स्थितं सर्वस्य वेदकम् ।
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु, प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥४५६॥

अर्थ : यहाँ (मुक्तावस्था में) आवरण रहित-संशुद्ध होकर, चैतन्य सर्वज्ञेय पदार्थों को जानता है । तन्त्र सांख्यशास्त्र में ज्ञान का निषेध प्राकृत-इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा से किया है ॥४५६॥

विवेचन : मुक्तावस्था में सभी आवरणों का नाश होने पर आत्मा का सहजस्वभाव परम शुद्ध चैतन्य स्वरूप प्रकट होता है । वह आत्मा की उस केवलज्ञान रूप चैतन्यशक्ति से जगत के भूत, भावी, वर्तमान कालीन सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायमय पदार्थों को जानता है, देखता है । सांख्य दर्शनकारों ने मुक्तावस्था में ज्ञान का जो निषेध किया है; वह इन्द्रियज्ञान की अपेक्षा से किया है। वह निषेध इन्द्रियजन्य ज्ञान का निषेध है जो योग्य है क्योंकि मुक्तावस्था में इन्द्रिय और मन का अभाव होता है इसलिये उससे होने वाले ज्ञान का भी अभाव है, परन्तु शुद्ध चैतन्य का प्रकट प्रकाश का अभाव नहीं होता ।

ग्रंथकर्ता का आशय यह है कि मुक्तावस्था में सांख्यदर्शनकारों ने जो ज्ञान का निषेध किया है वह छद्मस्थ अवस्था में मन और इन्द्रियों के सहयोग से होने वाले संकल्प-विकल्पात्मक ज्ञान

का निषेध है, जो कि योग्य है। क्योंकि वहाँ इन्द्रिय और मन का अभाव होता है। परन्तु शुद्ध चैतन्यशक्ति के प्रकाश का इससे निषेध नहीं होता ॥४५६॥

आत्मदर्शनतश्च स्यान्मुक्तिर्यत् तन्त्रनीतितः ।
तदस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः ॥४५७॥

अर्थ : सांख्यसिद्धान्तानुसार आत्मदर्शन से जो मुक्ति कही है, आत्मा के उस ज्ञान का सद्भाव सांख्ययुक्ति से ही सिद्ध हो गया ॥४५७॥

विवेचन : सांख्यशास्त्र में कहा है 'आत्मदर्शन तःस्यान् मुक्ति' यह वाक्य सिद्ध करता है कि जब आत्मज्ञान होता है तब मुक्ति होती है, तो आत्मा की ज्ञानशक्ति जिसका तुम विरोध करते थे, तुम्हारी ही युक्ति से सिद्ध हो गई। तुम्हारे ही शास्त्रवचनों ने अपने आप आत्मज्ञान से मुक्ति की घोषणा करके, हमारे सिद्धान्त को पुष्ट किया है। अतः मुक्तावस्था में निरावरण होकर आत्मा अनंतदर्शन, अनंतज्ञान और अनंतवीर्य को धारण करता है। जिसको तुम पूर्ण विकसित चैतन्य कहते हो, उसीको हम पूर्णविकसित ज्ञान करते हैं ॥४५७॥

सांख्यदर्शन के सिद्धान्तों को युक्ति पुरस्सर बताकर अब बौद्ध सिद्धान्तों को कहते हैं :-

नैरात्म्यदर्शनादन्ये, निबन्धननियोगतः ।
दोषप्रहाणमिच्छन्ति, सर्वथा न्याययोगिनः ॥४५८॥

अर्थ : न्याय को सबसे प्रधान मानने वाले अन्य बौद्ध विचारक नैरात्म्यदर्शन से बंधनों के वियोग से दोष की हानि चाहते हैं। अर्थात् सर्वथा न्यायप्रिय अन्य बौद्धयोगी नैरात्म्यदर्शन से बंधनों के वियोग से दोष की हानि चाहते हैं ॥४५८॥

विवेचन : सांख्यों की भांति मात्र शास्त्रों की ही शरण न मानकर, न्याय, तर्क, प्रमाणों आदि की युक्ति के उपासक न्यायप्रिय बौद्ध विद्वान नैरात्म्य दर्शन-आत्म-अभाव से कर्मबंधनों का वियोग और बंधनवियोग से दोष की हानि चाहते है। अर्थात् उनकी मान्यता यह है कि मनुष्य कर्मों का बंधन आत्मा के लिये - अपने लिये बांधता है; अनेकों दोष, दुष्कर्म वह अपने लिये कर बैठता है; ''मैं और मेरे का जो भाव है' वही कर्म-दोष या बंधन का मूल कारण है। इसलिये जब वह 'मैं मेरा का भाव' नहीं देखता अर्थात् अहम्-भाव जब अदृश्य हो जाता है तब उसके बंधन नष्ट हो जाते हैं और फिर सभी दोषों की भी हानि हो जाती है ॥४५८॥

समाधिराज एतत् तत् तदेतत् तत्त्वदर्शनम् ।
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥४५९॥

अर्थ : यह (निरात्मदर्शन) समाधिराज है, वही तत्त्वदर्शन है और आग्रहरूप मूर्च्छा को नष्ट करने में यही परम अमृत है ॥४५९॥

विवेचन : निरात्मदर्शन याने अहं और मम का भाव जब मन से निकल जाता है, तन आत्मा अतिनम्र हो जाती है। तब जो ध्यान की स्थिति होती है, वह महान् समाधि है। क्योंकि समाधि में विघ्न डालने वाला अगर कोई शत्रु है तो वह अहंकार है। जब साधक का अहंकार नष्ट हो जाता है तब उसका मन स्थिर हो जाता है। और ऐसे स्थिर मन से जो ध्यान किया जाता है वह ध्यान की सबसे उत्कृष्ट स्थिति समाधिराज की कक्षा में आता है। इसी प्रकार जब अहंकार विलय हो जाता है तब वास्तविक तत्त्व "मैं कुछ नहीं, मेरा कोई नहीं" ऐसे परम सत्यतत्त्व का अनुभूत दर्शन होता है। जब मनुष्य का अहम्-भाव गया तो किसी भी प्रकार का आग्रह नहीं रहता। जब आग्रह, पक्ष, जिद, हठ, कदाग्रह समाप्त हो जाता है तो फिर परम अमृत-मोक्ष की प्राप्ति होती है। अत: बौद्धों के मत से निरात्मदर्शन-निरहंकार अवस्था ही परम-समाधि, श्रेष्ठतत्त्वदर्शन और अमृत-मोक्षप्राप्ति है ॥४५९॥

तृष्णा यज्जन्मनो योनिर्ध्रुवा सा चात्मदर्शनात् ।
तदभावान्न तद्भावस्तत् ततो मुक्तिरित्यपि ॥४६०॥

अर्थ : जन्म का मूल कारण जो तृष्णा है वह आत्मदर्शन से दृढ़ होती है और उसके (आत्मदर्शन) अभाव से उसका (तृष्णा का) अभाव और उससे (तृष्णा के अभाव से) मुक्ति सिद्ध होती है ॥४६०॥

विवेचन : बौद्धों का मानना है कि जगत के पदार्थों को प्राप्त करने की अभिलाषा-लोभरूप जो तृष्णा है, वही संसार में जन्म-मरण करवाती है। इसलिये पुनर्भवरूप संसार का मूल कारण तृष्णा है। वह तृष्णा आत्मदर्शन से अर्थात् "मैं राजा, मैं सेठ, मैं इस सम्पति का स्वामी, मैं इस पद्मिनि का पति, मेरा राज्य, मेरी यशकीर्ति", यह "मैं" और यह "मेरा", ऐसा मैं और मेरा रूप-परिभाषा वाला, जो आत्मदर्शन में और मेरे पन की बुद्धि से देखा जाने वाला अपना स्वरूप है वह अवश्य ही तृष्णा को बल देता है; उसे दृढ़ मजबूत करता है। परन्तु ऐसे आत्मदर्शन के अभाव में, अर्थात् मैं और मेरे के अभावरूप अनात्म दर्शन से, तृष्णा का भी अभाव हो जाता है। तृष्णा नष्ट हो जाती है। जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तो जीव मुक्त हो जाता है। बौद्ध विद्वानों का आत्मदर्शन से तात्पर्य अहंकार से है, और अनात्मदर्शन का अर्थ सरलता और नम्रता से है। वे मानते हैं अहंकार का विलय ही मुक्ति है क्योंकि अहंकार से ही तृष्णा बढ़ती है ॥४६०॥

न ह्यपश्यन्नहमिति, स्निह्यत्यात्मनि कश्चन ।
न चात्मनि विना प्रेम्णा, सुखकामोऽभिधावति ॥४६१॥

अर्थ : 'अहं' प्रत्यय के ज्ञान का अभाव होने से ही किसी को विषयों में स्नेह नहीं होता और आत्मप्रेम के बिना कोई भी सुख कामना से दौड़ता नहीं भागता नहीं ॥४६१॥

विवेचन : जब कोई बुद्धिमान साधक 'अहं' प्रत्यय को नहीं देखता अर्थात् जब उसके लिये 'मैं और मेरा' का भाव अदृश्य हो जाता है, तब अहंकार संपूर्ण विलीन हो जाता है। 'मैं और मेरे' की मूर्च्छा टूट जाती है उस मनुष्य को किसी भी स्थान या विषय पर आसक्ति नहीं रहती। प्रेम-मूर्च्छा, ममता और आसक्ति समाप्त हो जाने से वह सुख के लिये इधर-उधर हाथ-पैर नहीं मारता। उसकी दौड़-धूप-भटकन, संघर्ष आदि सब आत्मा के लिये-मैं और मेरे को कायम रखने के लिये ही होती है। जब भटकन का मूल कारण अहम्-भाव ही समाप्त हो जाता है तब आत्मा निर्विकल्प समाधि में स्थिर हो जाती है, और सर्व क्लेशों से मुक्त होकर, अजर अमर पद प्राप्त करती है।

सार यह है कि जब निरात्मदर्शन होता है अर्थात् 'मैं और मेरे' की मूर्च्छा समाप्त हो जाती है; 'मैं और मेरा' भाव नहीं रहता, तो उस मनुष्य को किसी भी स्थान पर या किसी भी विषय में स्नेह नहीं रहता; अर्थात् ममत्वभाव और आसक्ति समाप्त हो जाती है। प्रेम-स्नेह ममत्व-आसक्ति न रहने से वह सुख के लिये हाथ-पैर नही मारता। सुख की इच्छा से इधर-उधर नहीं भटकता। शून्य-निर्विकल्प समाधि रूप परम समाधि में लीन हो जाता है। और इस प्रकार वह मुक्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जब तक मोह की शृंखला नहीं तोड़ता तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। मोह की शृंखला जबरदस्त है, उसे ही यहाँ आत्मदर्शन कहा है। 'मैं और मेरा' उसका मुख्य स्वर है ॥४६१॥

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि, न वैराग्यस्य सम्भवः ।
न च रागवतो मुक्तिर्दातव्योऽस्या जलाञ्जलिः ॥४६२॥

अर्थ : आत्मा में प्रेम स्थिर होने पर वैराग्य संभव नहीं और रागी को मुक्ति नहीं इसलिये (आत्मदर्शी को) मुक्ति के लिये जलाञ्जलि दे देनी चाहिये ॥४६२॥

विवेचन : जब तक आत्मा में प्रेम स्थिर है अर्थात् 'मैं और मेरा' भाव कायम-मजबूत है, तब तक वैराग्य कैसे संभव हो सकता है ? जब तक जीव 'मैं और मेरे' में आसक्त है, फंसा हुआ है, तब तक वह संसार के प्रति रागवाला है, याने रुचिवाला है। संसार उसे प्रिय है, ऐसा संसाररागी आत्मा मुक्ति कैसे पा सकती है ? अतः ऐसे आत्मदर्शियों को मुक्ति के लिये जलाञ्जलि दे देनी चाहिये। मुक्ति की आशा ही छोड़ देनी चाहिये। आत्मदर्शन का त्याग किये बिना मुक्ति संभव नहीं। जिसे जैन "बहिरात्मा" कहते हैं बौद्ध उसी को "आत्मदर्शन" कहते हैं। बहिरात्मा,

अन्तरात्मा और परमात्मा आत्मा की ये तीन अवस्थाएँ जैन मानते हैं । बौद्धों का निरात्मदर्शन-अन्तरात्मा है अन्तरात्मा होने पर ही परमात्मा को पा सकते हैं ॥४६२॥

नैरात्म्यमात्मनोऽभाव:, क्षणिको वाऽयमित्यद: ।
विचार्यमाणं नो युक्त्या, द्वयमप्युपपद्यते ॥४६३॥

अर्थ : नैरात्म्यदर्शन में आत्मा का अभाव या (आत्मा का) क्षणिकत्व (इष्ट है ?) विचार करने पर दोनों ही युक्ति से सिद्ध नहीं होते ॥४६३॥

विवेचन : बौद्धों को कहते हैं कि तुम्हारे नैरात्म्यदर्शन में शशक के सींग, आकाश के कुसुम और वंध्या के पुत्र के समान आत्मा का अत्यन्त अभाव इष्ट है, या आत्मा का क्षणिकत्व इष्ट है । अर्थात् एक क्षण में जीवन धारण करके दूसरे ही क्षण में नाश पाने वाला मानना इष्ट है? इस तरह दो कोटि संभव है, परन्तु विचार करने पर दोनों ही मुक्ति के लिये अनुपयुक्त सिद्ध होती है ॥४६३॥

सर्वथैवात्मनोऽभावे, सर्वा चिन्ता निरर्थका ।
सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वच: ॥४६४॥

अर्थ : आत्मा का सर्वथा अभाव हो तो सब चिन्ता व्यर्थ है क्योंकि नीतिकारों का वचन है कि धर्मी होने पर ही धर्म की चिन्ता की जाती है ॥४६४॥

विवेचन : अगर तुम द्रव्य और भाव से आत्मा का सर्वथा अभाव मानते हो, तो स्वर्ग और मोक्ष को प्राप्त करने के लिये सर्व परिश्रम व्यर्थ है । तप, जप, ध्यान, समाधि आदि धार्मिक अनुष्ठानों की क्या जरुरत है ? नीतिकारों ने कहा है कि धर्मी होने पर ही धर्म की चिन्ता की जाती है । लड़का हो तो वह विद्वान है या मूर्ख, धार्मिक है या अधार्मिक, रूपवान अथवा कुरूप ऐसा कह सकते हैं । परन्तु वंध्या के पुत्र ही नहीं, तो वह अच्छा है या बुरा, सुन्दर है या कुरूप, ऐसे कैसे सम्बोधित कर सकते हैं । इसी प्रकार हम तो आत्मा की भाव-सत्ता मानते हैं, इसलिये ज्ञान, दर्शन, चारित्र उसके गुण है, धर्म है, ऐसा कहते हैं लेकिन आप के मत में आत्मा का ही अभाव है तो उसके लिये स्वर्ग और मोक्ष की कल्पना ही व्यर्थ है, उसके लिये परिश्रम करना ही व्यर्थ है ॥४६४॥

नैरात्म्यदर्शनं कस्य, को वाऽस्य प्रतिपादक: ।
एकान्ततुच्छतायां हि, प्रतिपाद्यस्तथेह क: ॥४६५॥

अर्थ : क्योंकि एकान्ततुच्छ अर्थात् आत्मा का सर्वथा अभाव मानने पर नैरात्म्यदर्शन किस को हुआ ? इसका प्रतिपादक कौन हुआ और यहाँ प्रतिपाद्य विषय भी क्या हुआ ? बताइए ॥४६५॥

विवेचन : आत्मा का सर्वथा अभाव मानने पर 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार का तुम्हारा नैरात्म्यदर्शन का अनुभव किसको हुआ ? इस निरात्मदर्शन का प्रतिपादन करने वाला कौन हुआ ? और आत्माभाव रूप अति तुच्छ वस्तु का प्रतिपाद्य विषय भी क्या हुआ। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा जैसी कोई वस्तु ही नहीं, तो उसका दर्शन, प्रतिपादन सब व्यर्थ है। यदि तुमने उस अभाववस्तु का भी प्रतिपादन किया है तो 'आत्माभाव है' ऐसा करते ही इस अभाव का ज्ञाता-आत्मा भावरूप से प्रतिपादित हो गया। जब आत्मा, जैसी कोई वस्तु ही नही है; आत्मा का सर्वथा अभाव है; तो 'आत्मा नहीं है' इस प्रकार का अनुभव किसको हुआ ? उस "आत्मा नही है" का प्रतिपादन करने वाला कौन हुआ ? और उस 'आत्मा नही हैं' का विषय क्या हुआ ? कुछ भी नहीं ॥४६५॥

कुमारी सुतजन्मादिस्वप्नबुद्धिसमोदिता ।
भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्नु सा धर्म एव हि ॥४६६॥

कुमार्या भाव एवेह, येदेतदुपपद्यते ।
वन्ध्यापुत्रस्य लोकेऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥४६७॥

अर्थ : ये सब कुमारी के पुत्र जन्मादि के स्वप्न के समान पैदा हुई भ्रांति मात्र है। यदि ऐसा (कहो तो उचित नहीं क्योंकि) वह भ्रांति नहीं (कुमारी का) धर्म है। कुमारी का भाव मानने पर यह सब (स्वप्न दर्शनादि) घटित हो जाता है परन्तु वंध्यापुत्र का स्वप्नदर्शन इस लोक में कभी नहीं होता ॥४६६-४६७॥

विवेचन : बौद्धों का कहना है कि नैरात्म्यदर्शन किसको ? इसका प्रतिपादक कौन और आत्मा के अभाव में प्रतिपाद्य क्या ? इत्यादि ये सब धर्मचिन्ता तो कुमारी को पुत्र जन्म के स्वप्न के समान भ्रांति मात्र है, वास्तविक नहीं है। रात को स्वप्न में वह पुत्र जन्म का स्वप्न देखती है और हर्षविभोर हो जाती है, परन्तु प्रातः उठने पर कुछ नहीं होता, केवल मानसिक भ्रांतिमात्र होता है। इसी प्रकार यह सब आत्मा भाव का प्रतिपाद्य-प्रतिपादक आदि की धर्म चिन्ता भ्राँति मात्र है। बौद्धों को इसका उत्तर देते हुये कहते हैं कि तुम्हारा यह दृष्टान्त यहाँ पर नहीं घटित होता, क्योंकि यह कुमारी का स्वप्न भ्रांति मात्र नही; उसका भावी धर्म है; भावी के विचार मूर्त रूप लेकर, प्रत्यक्ष स्वप्न में आ जाते है क्योंकि भविष्य में वह सब होने वाला है। अभी हाल में वह धर्म सत्ता में पड़ा हुआ है, प्रकट नहीं हुआ। कुमारी भाव मानने पर ही यह स्वप्नदर्शन रूप सब धर्म घटित होता है। वंध्या पुत्र का स्वप्न लोक में किसी को नहीं आता अर्थात् कुमारी के समान कोई आत्मा नाम की वस्तु अवस्थित है ऐसे आत्मभाव को स्वीकार करने पर ही यह सब तत्त्वचिन्ता आदि पुत्रजन्मादि स्वप्न के समान कल्पित कर सकते हैं। परन्तु वन्ध्या पुत्र के समान यदि आत्मा का

सर्वथा अभाव माने, तो वह लोक में कभी भी संभव नहीं। उसी प्रकार तुम्हारा तत्त्वचिंतन भी संभव नहीं, व्यर्थ है ॥४६६-४६७॥

क्षणिकत्वं तु नैवास्य, क्षणादूर्ध्वं विनाशतः ।
अन्यस्याभावतोऽसिद्धेरन्यथाऽन्वयभावतः ॥४६८॥

अर्थ : इस (आत्मा) का क्षणिकत्व भी घटित नहीं होता (क्योंकि) क्षण के पश्चात् उसका विनाश होता है अर्थात् उत्तरक्षण के साथ उसका योग नहीं होता। अन्य पूर्वक्षण के अभाव से उत्तरक्षण संभव नहीं, अतः एक दूसरे के अन्वय-सम्बंध का अभाव है ॥४६८॥

विवेचन : बौद्धों को क्षणिकवादी कहा है, क्योंकि वे मानते हैं कि जगत के सर्व पदार्थ क्षणमात्र स्थायी है। परन्तु आत्मा का क्षणिकत्व घटित होता नहीं है, क्योंकि क्षण के पश्चात् उसका विनाश है; उत्तर क्षण के साथ उसका अन्वय-सम्बंध नहीं बनता। जैसे वंध्या का पुत्र असिद्ध है उसी प्रकार आत्मादि द्रव्य क्षणस्थायी माने तो अन्वय-सम्बंध न घटित होने से क्षणिकत्व भी असिद्ध होता है। अगर भाव से भाव की सिद्धि स्वीकार की जाए तो पूर्वभाव में अर्थात् पदार्थ में उत्तर कालीन पदार्थों का अन्वय, अनुक्रम से गुण पर्याय की अनुवृत्ति 'द्रव्य में कथंचिद् नित्यत्व' स्वीकार करने से ही सिद्ध हो सकती है। याने कार्यरूप और कारणरूप से पर्यायत्वभाव घटित होता है। परन्तु पदार्थ में एकान्तरूप से क्षणक्षयित्व मानने से यह संभव नहीं। अतः एकान्तरूप से आत्मादि द्रव्यों को एकक्षण में उत्पन्न होकर दूसरे क्षण में सर्वथा नाश होने वाला माने, तो कारण के अभाव में उत्तरक्षण में पदार्थ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अगर तुम बौद्धलोग ऐसा मानते हो कि 'भावादेव भावसिद्धिः' पूर्वक्षण का जो विनाश है वही उत्तरक्षण की उत्पत्ति है तो पूर्व क्षण पदार्थों में उत्तरक्षण में उत्पन्न पदार्थों का कार्य-कारणरूप पूर्वपर्याय रूप पदार्थों में और उत्तरकाल में होने वाले पदार्थों में रहने वाला कोई नित्य पदार्थ है जो दोनों का अन्वय-सम्बंध करवाता है। इस प्रकार मानने से तुम को जबरदस्ती भी आत्मादि पदार्थों की सिद्धि माननी पड़ती है ॥४६८॥

भावाऽविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः ।
स चानन्तरभावित्वे, हेतोरस्यानिवारितः ॥४६९॥

अर्थ : क्योंकि भाव का अविच्छेद ही अन्वय-सम्बंध नाम से प्रसिद्ध है और वह (अन्वय) पूर्वपदार्थ को उत्तरपदार्थ से जोड़ने में व्यवधान रहित सिद्ध-हेतु है, उसको कोई रोक नहीं सकता ॥४६९॥

विवेचन : टीकाकार ने भावाविच्छेद का अर्थ बताया है "सद्रूपतावित्रुटनमेव भावाविच्छेद" अर्थात् पदार्थों के अन्दर रहने वाली, पर्यायों की कभी भी न टूटनेवाली, सदा रहनेवाली अविच्छिन्न

धारा-परम्परा है — वही अन्वय-सम्बंध है। वह अन्वय-अनुवृत्ति जो पूर्व पर्याय को उत्तर कालीन पर्याय से जोड़ती है द्रव्यत्वरूप से कही जाती है और वह कथंचिद् नित्य है। और वह अनुवृत्ति ही पूर्व और उत्तरपदार्थरूप पर्यायों में अनन्तर - व्यवधान बिना गमन करती है, अर्थात् उत्तरपदार्थ की उत्पत्ति करती है। कारण कार्य को उत्पन्न करता है। जैसा कारण होता है वैसा कार्य होता है। जब कारण कथंचिद् नित्य है तो उसका कार्य भी वैसा ही होता है। उसे कौन निवारण कर सकता है? कार्य-कारण सम्बंध को कौन रोक सकता है? इसलिये द्रव्यरूप से पदार्थ को कथंचिद् नित्य मानना ही चाहिये।

तुम पदार्थ को जो एकान्त क्षणिक मानते हो तो वह क्षणिक पदार्थ कैसे स्वभाव के है? क्षणिक के भी तीन स्वभाव होते है :- स्वनिवृत्ति स्वभाववाला, अन्य को उत्पन्न करनेवाला और उभयस्वभाव वाला। स्वनिवृत्ति याने स्वयं अपना नाश करने वाले स्वभाव वाला, उत्तरकालीन पदार्थ को उत्पन्न करने वाला और दोनों स्वरूप वाला इस प्रकार क्षणिकत्व के तीन स्वभाव होते हैं ॥४६९॥

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः ।
अन्यजन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिरसङ्गता ॥४७०॥

अर्थ : क्षण का स्वनिवृत्तिस्वभाव मानने पर अन्योत्पत्ति नहीं हो सकती और अन्य उत्पादक स्वभाव मानने पर स्वनिवृत्ति असंगत होती है ॥४७०॥

विवेचन : अगर आप ऐसा मानते हैं कि क्षणिक पदार्थ स्वयं अपना नाश करने के स्वभाव वाला है, तो वह दूसरे क्षण में जो उत्पन्न होने वाला है उसका जनक कैसे हो सकता है? क्योंकि अपने नाश कार्य में व्यग्र होने वाला क्षण अन्य को उत्पन्न करने में समर्थ कैसे हो सकता है? इसलिये स्वनिवृत्ति स्वभावी क्षणिक स्वभाव अन्य का जनक नहीं हो सकता। अगर दूसरा विकल्प मानो जो अन्य को उत्पन्न करने के स्वभाव वाला क्षणिक है तो वह भी आप की युक्ति से घटित नहीं होता क्योंकि क्षणिक पदार्थों में पूर्वकालीनता ही उत्तरकालीन पदार्थों को जन्म देने में उपादान कारण होने का स्वभाव धारण करती है, और वह स्वनिवृत्तिस्वभाव वाले क्षणिक पदार्थों में होता नहीं है। तो इस प्रकार तुम्हारे स्वनिवृत्ति स्वभाव का ही खण्डन हो जाता है। इसलिये क्षणिकत्व स्वभाव घटित नहीं होता, क्योंकि क्षणिकत्व और अन्य जननत्व दोनों एकस्थान में कैसे रह सकते हैं ॥४७०॥

इत्थं द्वयैकभावत्वे, न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।
व्यावृत्त्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम् ॥४७१॥

अर्थ : इस प्रकार एक पदार्थ में दो स्वभाव मानने पर अन्वय सम्बंध भी यथार्थ घटित होता है। पूर्व पर्याय की व्यावृत्ति और अन्य पर्याय की उत्पत्ति में एक पदार्थ का योग होने से यह (अन्वय सम्बंध) विचार करना चाहिये ॥४७१॥

विवेचन : 'स्वनिवृतत्तति स्वभाव' और 'अन्य जन्म जनकत्व स्वभाव', इस प्रकार के दो स्वभाव एक पदार्थ में साथ रहने वाले है, अगर ऐसा आप बौद्ध लोग स्वीकारें, तो कोई विरोध नहीं आता और पूर्व पदार्थ में तथा उत्तर पदार्थ में अनुवृत्तिरूप अन्वय-सम्बंध यथार्थ घटित होता है । अर्थात् पदार्थ में पूर्व पर्याय का नाश करने का स्वभाव और उत्तर पर्याय को जन्म देने का जो स्वभाव है, उन दोनों स्वभावों को एक शृंखला रूप से जोड़ने का जो अन्वय रूप एक स्वभावत्व अर्थात् कथंचिद् एकरूपत्व-पदार्थ का कथंचिद् नित्यत्व स्वभाव है, उसके योग से ही होता है । उस कथंचिद् नित्यत्व स्वभावरूप एकत्व स्वभाव को मानने पर ही पदार्थ में दोनों स्वभावों की विद्यमानता और दोनों स्वभावों की विद्यमानता से ही कार्य-कारण भावरूप अन्वय-सम्बंध का योग यथार्थ तौर पर घटित हो सकता है । क्योंकि जो पदार्थ जन्य जनकत्व और स्वनिवृत्ति इन दो स्वभावों को धारण नहीं करता वह अपना पदार्थत्व सिद्ध नहीं कर सकता। जो दोनों स्वभावों को धारण करता है वह सदा अपने अनेक धर्मों-स्वभावों से अपना अस्तित्व, वस्तुत्व या द्रव्यत्वरूप सत्य स्वरूप प्रकट-सिद्ध कर सकता है । इसी प्रकार नये जन्म में जो पूर्वस्मृति (पूर्वजन्म के स्वभाव से) आती है उस स्मृति से आत्मा के अनेक जन्मों की सिद्धि होती है, और उस आत्मा का अनादि कालीन सम्बंध भी सिद्ध होता है । इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि पदार्थ को कथंचिद् नित्यत्व स्वभाववाला मानने से ही ये सब सम्बंध घटित होते हैं । आत्मा का सर्वथा अभाव मानने पर नहीं। इसलिये पदार्थ को - आत्मा को कथंचिद् नित्य याने द्रव्यरूप से नित्य मानना चाहिये ॥४७१॥

अन्वयाऽर्थस्य न आत्मा, चित्रभावो यतो मतः ।
न पुनर्नित्य एवेति, ततो दोषो न कश्चन ॥४७२॥

अर्थ : अन्वयार्थ अन्वय-सम्बंध के लिये ही हमने आत्मा को नाना परिणामी माना है, एकान्त नित्य नहीं माना । इसलिये कोई दोष नहीं आता ॥४७२॥

विवेचन : "उत्पाद्व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" पदार्थों के अन्दर जो अन्वय-अनुवृत्तिरूप ध्रौव्य नामक अंश रहा हुआ है, उसकी सिद्धि के लिये ही हम (जैनों) ने आत्मा को नानाविध परिणामों को धारण करने वाला माना है । अनेकान्तदर्शन में "उत्पाद्व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" पदार्थ में तीन स्वरूप-स्वभाव माने हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ नये-नये पर्यायों को धारण करता है जिसे हम 'उत्पाद' कहते हैं और प्रतिक्षण पूर्वपर्याय नष्ट होते रहते हैं, इसलिये उसे हम 'व्यय' कहते हैं । उत्पाद और व्यय इन दोनों के अन्दर नित्य स्थिर रहने वाला जो अविच्छिन्न पदार्थ होता है उसे हम 'ध्रौव्य' कहते हैं । इस प्रकार आत्मा को भी हम उत्पाद-व्यय और ध्रौव्ययुक्त मानते हैं । आत्मा नये-नये शरीरों को धारण करता है, वह अपने उत्पाद स्वभाव के कारण; पूर्व शरीरों को छोड़ता है, वह व्यय स्वभाव से, फिर भी आत्मा वही का वही है । सभी योनियों में नये-नये परिणामों को धारण करने वाला और छोड़ने वाला वही एक आत्मा है। हम उसे कथंचिद् नित्य मानते है परन्तु तुम्हारे जैसा एकांत नित्य नहीं जैसा कि कहा है :-

"**अप्रच्युतानुत्पत्तिस्थिरैकस्वभावो नित्य:**" जो नाश न हो, उत्पन्न न हो और सदा एक स्वभाव में कायम रहे ऐसा एकान्त नित्य हम नहीं मानते। एकान्तनित्य मानने से अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव आदि दोषों का संभव है। लेकिन स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त मानने से "कर्मों के आवरण होते हैं तब तक आत्मा संसार में भ्रमण करता है, जब आवरण समाप्त हो जाते हैं तब आत्मा मोक्ष प्राप्त करता है" यह सब सुन्दर रीति से घटित हो जाता है, और कोई भी दोष भी नहीं आता ॥४७२॥

न चात्मदर्शनादेव, स्नेहो यत् कर्महेतुक: ।
नैरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात् ॥४७३॥

अर्थ : आत्मदर्शन से स्नेह नहीं होता है क्योंकि वह (स्नेह) कर्म हेतुक निरात्मदर्शन भी है अन्यथा-आत्मा के क्षणिकत्वज्ञान से यदि आप आत्मदर्शन मानते हैं वह तो होने वाला ही है ॥४७३॥

विवेचन : बौद्धों ने कहा है कि निरात्मदर्शन की भावना कल्याणकारी है, उसके कारणरूप आत्मा के दर्शन की भावना से मोहरूप स्नेह की वृद्धि होती है, परन्तु यह बात न्याय युक्त नहीं है। आत्मा का दर्शन होने से स्नेह-प्रेम होता है ऐसी बात नहीं है। बौद्ध अनुयायी को आत्मदर्शन से जो प्रेम होता है वह अनात्म अर्थात् पुद्गलप्रेम हुआ, क्योंकि आत्मदर्शन स्नेह का हेतु कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। आत्मदर्शन तो मोह, स्नेह, अज्ञान, मिथ्यात्व आदि के नाश का हेतु है, जैन ऐसा मानते हैं। स्नेह का हेतु तो बहिरात्मदर्शन-शरीर, इन्द्रियां, मन आदि को "मैं", "मेरा" पन वाला आत्मदर्शन ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय आदि के उदयरूप मोह, ममता, स्नेह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया होने में हेतु है। उसी प्रकार स्नेह में भी मोहनीय कर्म हेतुभूत है। चारित्र मोहनीय कर्म का उदय स्नेह से होता है, परन्तु आत्मज्ञान दर्शन, चारित्र का पुरुषार्थ स्नेहरूप चारित्र मोह का नाश करता है। इसलिये आप निरात्मदर्शन को मुक्ति का हेतु कहते हो वह कैसे संभव हो सकता है? क्योंकि वहाँ "मै शरीर हूँ" ऐसा विकल्प तो जरूर होगा ही। अत: शरीर, मन, इन्द्रियों को सुख मिले, दु:ख न मिले ऐसी वृत्ति से अनुकूल विषय भोग में प्रवृत्ति निश्चित होगी ही। अत: भोग की इच्छा भी वहाँ अवश्य कायम रहती है। और उसके लिये जीव हिंसा, चोरी, झूठ, कपट करके भी योग्य सामग्री का संग्रह करता है और इस कारण से अवश्य कर्म का बंध होता है। वहाँ कर्म की सत्ता विद्यमान होने से स्नेह आदि की विद्यमानता दूर नहीं हो सकती। यदि कर्म को स्नेह का हेतु न मानो तो स्नेह का कारण हेतु कौन हुआ? यदि ज्ञान को ही कारण मानो तो क्या यह उचित है? नहीं। क्योंकि ज्ञान से आत्मदर्शन और आत्म दर्शन से मैं-पने की बुद्धि पैदा होती है, इसलिये जगत की वस्तुओं को भोगने का राग पैदा होता है, ऐसा तुम्हारा कथन क्या योग्य है? नहीं। कारण तुम्हारा ज्ञान क्षण मात्र रहने वाला है इसलिये

स्वदर्शनरूप-स्वसंवेदनरूप ज्ञान भी आप को होगा और वस्तु स्वरूप का दर्शन - भोग की वासना होगी । इसलिये हे बौद्धों! तुम्हारा मत मान लें तो भी क्षणिक ज्ञान संसार का हेतु है ॥४७३॥

अध्रुवेक्षणतो नो चेत्, कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे ।
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवृत्तित: ॥४७४॥

अर्थ : यदि क्षणिक ज्ञान से (स्नेह)नहीं रहता तो नित्यज्ञान में क्या दोष है ? यदि नित्यात्मगत कालचिन्तारूप दोष मानो तो (वह भी ठीक नहीं क्योंकि) वह कर्म निवृत्ति से (निवृत्त हो जायगा) व्यवस्था होगी ॥४७४॥

विवेचन : बौद्धों की ऐसी मान्यता है कि पदार्थों को, आत्मा को क्षणिक मानने से उसमें असारता - सार हीनता के दर्शन होते हैं जिसके परिणाम स्वरूप पदार्थ पर स्नेह-राग-आसक्ति नहीं रहती बौद्धों की इस मान्यता का उत्तर देते हुये आचार्य कहते हैं कि अगर क्षणिक ज्ञान से पदार्थों की क्षणभंगुरता जानकर उसमें आसक्ति नहीं होती, तो आत्मा को नित्य मानने वालों ने कौन सा अपराध किया है कि उनको संसार के असार पदार्थों में स्नेह राग रहेगा । इस पर बौद्ध कहते हैं कि अनित्य आत्मा में तो भविष्य में मेरा क्या होगा ? यह चिन्ता नष्ट हो जाती है । परन्तु यदि आत्मा को नित्य माने तो कल मेरा क्या होगा? मैं सुखी रहुंगा या दु:खी ? ऐसी चिन्ता रहती है । कहा भी है :-

"आगामिनि काले सुखप्राप्ति दु:खपरिहारौ कथं मे स्याताम्" भविष्य में मुझे सुख की प्राप्ति कैसे हो, दु:ख का अन्त कैसे हो ? ऐसी चिन्ता रहने से तृष्णा बढ़ती है । परन्तु बौद्धों की यह युक्ति ठीक नहीं क्योंकि कथंचिद् नित्य आत्मा को जब सम्यक् ज्ञान से विवेकज्ञान जागृत होता है तब वह जड़ और चेतन के भेदज्ञान से :-

एगोहं नत्थि मे कोई, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीणमणसो, अप्पामणुसासइ ॥११॥
एगो मे सासओ अप्पा, नाण दंसण संजुओ ।
सेसा मे बहिरा भावा, सव्वे संजोगलख्खणा ॥१२॥ संथारा पोरिसी

मैं अकेला आत्मस्वरूप हूं, कोई मेरा नहीं, न मैं किसी का हूं । ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त मेरी आत्मा है बाहर के सर्वसंयोग अनित्य है । इस प्रकार स्वभाव और परभाव का पूरा बोध हो जाता है । तुम जिसे आत्मदर्शन कहते हो; वह हमारे मत में बहिरात्मदर्शन है वह सम्यक्दृष्टि आत्मा को नहीं रहता। उसे तो शुद्ध तात्त्विक आत्मदर्शन वह होता है, जो मुक्ति का उपादान हेतु है । उसे भविष्य की कोई भी कालगत चिन्ता नहीं रहती । अत: नित्य आत्मा भी जब कर्मावरण

को दूर हटा देती है, वह मुक्त हो जाती है। आत्मा के नित्य होने पर भी सम्यक्दर्शन रूप हमारा आत्म दर्शन तुम्हारे आत्मदर्शन की भांति स्नेह-राग को पैदा नहीं करता, अपितु सर्व कर्म मलों को शुद्ध करके, परमसुख का भोक्ता बनाता है। परन्तु तुम्हारे मन में तो अनित्य आत्मा का क्षण-क्षण में नाश होने से, तुम्हारे कर्मनाश का समय कब आयेगा ? अनिश्चित है ॥४७४॥

उपप्लववशात् प्रेम, सर्वत्रैवोपजायते ।
निवृत्ते तु न तत् तस्मिन्, ज्ञाने ग्राह्यादिरूपवत् ॥४७५॥

अर्थ : संकल्प-विकल्प रूप उपप्लव से ही सर्वत्र स्नेह-प्रेम (आत्मभ्रांति) होता है, उसके निवृत्त होने पर नहीं, ज्ञान में ग्राह्यादिरूप की भांति ॥४७५॥

विवेचन : उपप्लव रूप-संकल्प-विकल्प से इष्ट और अनिष्ट पदार्थों के संयोग वियोग के सम्बंध से ही जीवों को स्नेह और क्लेश होता है। उसी से जीवों को बाह्य-स्त्री, धन, कुटुम्ब सम्बंधी और आभ्यन्तर शातावेदनीयरूप सौभाग्य, यशोवाद आदि वस्तुओं को प्राप्त करने के लिये प्रेम और प्रतिकूल को त्याग करने के लिये द्वेष, इष्ट की प्रीति और अनिष्ट का द्वेष पैदा होता है। इस प्रकार जब तक जीव कर्म के वशवर्ती रहता है, मोह माया में फंसा रहता है, राग-द्वेषरूप प्रेम ईर्ष्या चलती रहती है, और वह कर्मोदय से सुख दुःख भोगता है। परन्तु जिनकी आत्मा में ऐसा उपप्लवरूप संकल्प विकल्प नष्ट हो गया है, उसे कहीं भी किसी भी, पदार्थ में राग या द्वेष नहीं होता ॥४७५॥

स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो, यतो मुख्यस्य युज्यते ।
ततो वैराग्यसंसिद्धेर्मुक्तिरस्य नियोगतः ॥४७६॥

अर्थ : इस प्रकार संसार प्रेम स्थिर न होने से वैराग्य की सिद्धि है और वैराग्य से आत्मा की मुक्ति निश्चित है ॥४७६॥

विवेचन : बौद्ध कहते हैं कि जैन आत्मा को स्थिर अर्थात् कथंचिद् नित्य मानते हैं, इसलिये उनको आत्मदर्शन रूप स्नेह भी होगा और उसके होने से मुक्ति का अभाव होगा। उनके इस दोष का निराकरण करने के लिये आचार्य कहते हैं कि संसार प्रेम - अर्थात् पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब आदि का, मैं और मेरा रूप जो स्नेह है, जिसे आप आत्मदर्शन कहते हैं, वह प्रेम नष्ट होने वाला है, क्योंकि बहिरात्मविषयक प्रेम स्थिर न होने से किसी भी समय उसपर अप्रेम-अरुचि पैदा होती है। जब आत्मा को सम्यक्ज्ञान रूपी तात्त्विक सत्य दर्शन होता है वह सम्यक्ज्ञानरूप हमारा आत्मदर्शन आत्मा को संसार के भोगों में फंसाता नहीं, परन्तु संसार का यथार्थ बोध करवाता है और वैराग्य भावना को जागृत करता है, संसार के प्रति आसक्ति का अभाव पैदा करता है। फिर उस वैराग्य से कर्मनिवृत्ति और कर्मनिवृत्ति से मुक्ति निश्चित होती है। इसलिये तुम्हारी कल्पना व्यर्थ है। सरल

और बोधगम्य यह पद्धति है, इसके लिये नैरात्म्यभावना की कल्पना की जरुरत नहीं, वैराग्य से ही सब सिद्ध हो जाता है। परन्तु यह वैराग्य आत्मा को कथंचिद् नित्य मानने से संभव है। अद्वैतवादियों की भांति आत्मा को एकान्त नित्य और तुम बौद्धों की भांति एकान्त अनित्य मानने से मोक्षहेतु सिद्ध नहीं होता। परन्तु द्रव्यत्वरूप से आत्मा को नित्य और पर्यायत्वरूप से अनित्य मानने से सब सिद्ध होता है ॥४७६॥

बोधमात्रेऽद्वये तत्त्वे, कल्पिते सति कर्मणि ।
कथं सदाऽस्या भावादि, नेति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥४७७॥

अर्थ : आत्मा को एकान्त बोध मात्र एक तत्त्व मानने पर, कर्म कल्पित होगा और ऐसे इसकी (मोक्ष की) सर्वदा सत्ता कैसे होगी ? इस पर सम्यक् विचार करना चाहिये ॥४७७॥

विवेचन : ज्ञानवादी बौद्धों का मानना है कि आत्मा ज्ञान-स्वरूप है और वह भी क्षणिक ज्ञान धारामय है, दूसरी किसी भी वस्तु का जगत में सद्भाव नहीं। इस प्रकार आत्मा को मात्र ज्ञानस्वरूप मानने से आत्मभिन्न कर्म नाम की वस्तु की कोई सत्ता ही नहीं रहेगी। आप स्वयं ही मानते है कि शुभा-शुभ कर्म-क्रिया के योग से जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। आपका यह कथन भी कल्पना मात्र रह जायेगा। तुम्हारे सिद्धान्त में कहा भी है :-

चित्तमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् ।
तदैव तैर्विनिमुक्तं, भवान्त इति कथ्यते ॥

चित्त ही संसार है क्योंकि राग द्वेषादि क्लेशों से युक्त है, ऐसे चित्त से जो मुक्त है वही मुक्त है। और ऐसा जो आप कहते है वह क्षणिक ज्ञान स्वरूप आत्मा को स्वीकार करें तो दूसरे क्षण में उसका अभाव होने से संसार में कौन जाये और मोक्ष में कौन जाये ? यह विचारणीय है। दूसरा प्रश्न यह उठता है कि जो मुक्त हो वह अगर नित्य रहे तो आप का क्षणिक सिद्धान्त खण्डित-नष्ट हो जाता है और अगर उस मुक्तात्मा को क्षणिक मान ले तो संसार भ्रमण पुनः-पुनः चालु रहेगा। इस प्रकार यदि आत्मा की क्षणिकता मानी जाय तो आत्ममुक्ति सर्वदा कैसे रहेगी ? उसका विचार तुम को अवश्य करना चाहिये, क्योंकि 'न सतो विद्यतेऽभाव; नाभावो विद्यते सतः।' अर्थात् जो सत्पदार्थ है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता और जो अभाव असद् पदार्थ है उसकी सत्ता कभी नहीं हो सकती। इसलिये कहा जाता है कि :-

नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वाऽहेतोरन्यानपेक्षणात् ।
अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥

जो पदार्थ नित्य सद् अथवा असद् है, उसकी सत्ता या अभाव को उत्पन्न करने के लिये

किसी भी कारणरूप हेतु की अपेक्षा नहीं रहती। और जिस को उत्पन्न करने में अन्य की सहायता लेनी पड़े वह कथंचिद् नित्यानित्य पदार्थ है। याने द्रव्यत्व की अपेक्षा से नित्य और परिणामरूप पर्यायत्व की अपेक्षा से अनित्य। इस प्रकार कथंचिद् दृष्टि से आत्मा को नित्यानित्य मानने से ही सब सिद्ध होता है क्षणिकवाद से या मात्र ज्ञान से सिद्ध नहीं होता ॥४७७॥

एवमेकान्तनित्योऽपि, हन्तात्मा नोपपद्यते।
स्थिरस्वभाव एकान्ताद्, यतो नित्योऽभिधीयते ॥४७८॥

अर्थ : इस प्रकार आत्मा एकान्तनित्य भी सिद्ध नहीं होती क्योंकि एकान्त स्थिर स्वभाववाले को ही नित्य कहते हैं ॥४७८॥

विवेचन : बौद्धों के एकान्त अनित्यवाद का निरसन करके ग्रंथकार अब एकान्त नित्यवादी वेदान्तियों की ओर आते हैं और कहते हैं कि बौद्धों के एकान्त अनित्य की भांति तुम्हारा एकान्त नित्यवाद भी यथार्थ नहीं क्योंकि आत्मा को एकान्त नित्य मानने से आत्मा के नये-नये परिणामों की परावृत्तिरूप पर्याय-स्वभाव सिद्ध नहीं होता। अर्थात् यदि आत्मा को एकान्तनित्य याने स्थिररूप-एक ही स्वभाव में रहने वाली माने तो संसारीत्व भाव का त्याग करके, मुक्तस्वरूप को कैसे पाया सकेगा ? आत्मा नानाविध योनियों में, नाना प्रकार के स्वरूप को धारण करती है, वह कैसे घटित होगा ? क्योंकि पूर्व स्वरूप को छोड़े बिना भावी स्वरूप को कैसे पा सकता है ? नित्य का तो यह लक्षण है कि वह हमेशा एक ही स्वरूप में स्थिर रहता है। कहा भी है :- "**अच्युतानुत्पन्नस्थिरस्वभावो हि नित्यम्**" जिस की नये परिणामरूप में उत्पत्ति और पूर्वस्वरूप का नाश नहीं होता, परन्तु सदा एक ही स्वभाव में स्थिर रहता है, वह नित्य है। अगर ऐसी एकान्त नित्य आत्मा हो तो संसार की व्यवस्था ऊँच,-नीच, सेठ,-नौकर, स्त्री-पुरुष आदि परिणाम, जिसे व्यवहार में सभी अनुभव करते हैं, उसकी सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार तुम्हारे मतानुसार व्यवहार विरुद्ध दिखाई देता है उसका क्या होगा ? ॥४७८॥

तदयं कर्तृभावः स्याद्, भोक्तृभावोऽथवा भवेत्।
उभयानुभयभावो वा, सर्वथाऽपि न युज्यते ॥४७९॥

अर्थ : तो इसका (नित्य आत्मा का) कर्तृभाव (शुभाशुभ कर्म कारक स्वभाव) हो या भोक्तृभाव (पूर्वकृत कर्मवेदक स्वभाव) उभय कर्तृभोक्तृभाव हो या अनुमय-कर्तृभोक्तृ अभाव हो चारों में से एक भी विकल्प घटित होता नहीं ॥४७९॥

विवेचन : हे वेदान्तियों ! आत्मा को एकान्त नित्य माने तो शुभाशुभ कर्मों का कर्ता वह कैसे सिद्ध होगा ? और उन कर्मों का भोक्ता भी कैसे सिद्ध होगा ? कर्ता और भोक्ता अथवा अकर्तृत्व

कर्म न करने का स्वभाव और अभोक्तृत्व कर्म न भोगने का स्वभाव जो भुक्तावस्था में होता है कैसे घटित होगा ? इस प्रकार संसार और मुक्ति की व्यवस्था कैसे घटित होगी ? इन चारों विकल्पों में से कोई भी विकल्प घटित नहीं होता अगर किसी विकल्प को घटित करने का प्रयत्न करें तो एकान्त नित्यत्व में बाधा आती है, नित्यत्व नष्ट हो जाता है ॥४७९॥

एकान्तकर्तृभावत्वे, कथं भोक्तृत्वसम्भवः ।
भोक्तृभावनियोगेऽपि, कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥४८०॥

अर्थ : एकान्त कर्तृत्व स्वभाव मानने पर भोक्तृत्व स्वभाव कैसे संभव है ? और एकान्त भोक्तृत्व स्वभाव मानने पर कर्तृत्व स्वभाव कैसे घट सकता है, स्थिर रह सकता है ? ॥४८०॥

विवेचन : हे वेदान्तियों ! अगर तुम आत्मा को एकान्त नित्य कर्ता मानते हो तो उस आत्मा में अन्य स्वभाव का अभाव मानना पड़ेगा इसलिये भोक्तृत्वस्वभाव रूप अन्य स्वभाव का अभाव होगा। क्योंकि आप आत्मद्रव्य में एकान्त – एक ही स्वभाव को स्वीकार करते हैं। इसलिये अगर आत्मा एकान्त कर्तृत्व स्वभाव वाला - शुभाशुभ कर्म कारक स्वभाववाला हो तो वह कर्म-शुभाशुभ क्रिया-अनुष्ठान करके कर्तृत्व भोक्तृत्व से भिन्न है। कदाचिद् तुम एकान्त भोक्तृत्व स्वभाव मान लो तो आत्मा में भोक्तृत्व सम्बंध रहेगा कर्तृत्व स्वभाव का अभाव हो जायेगा। क्योंकि आप आत्मा को एकान्त – एक स्वभाववाला मानते हैं और ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार एकान्तभाव से कुछ भी निष्पन्न-सिद्ध नहीं होता ॥४८०॥

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति, कृतं वाऽभोगमित्यपि ।
उभयानुभयभावत्वे, विरोधासंभवौ ध्रुवौ ॥४८१॥

अर्थ : अकृत का भोग होता नहीं, और कृत का भोग टलता नहीं । उभयभाव और अनुभयभाव में विरोध और असंभवदोष निश्चित है ॥४८१॥

विवेचन : हे एकान्तनित्यवादी वेदान्तियों ! आत्मा को एकान्तकर्तृत्व स्वभाव वाला मानने से भोक्तृत्व नहीं घटित होता और एकान्त भोक्तृत्व स्वभाव वाला मानने से कर्तृत्व नहीं घटता। क्योंकि अकृत का भोग कभी हो नहीं सकता और कृतकर्म कभी टल नहीं सकते। किये कर्म अवश्यमेव भोगने ही पड़ते हैं। कहा भी है:-

कृतस्य कर्मणो भोगोऽस्ति ।
न च अकृतस्य कर्मणोऽस्ति भोगः ॥

शुभाशुभ कर्मों को जो जीव बांधता है, उसका फल उसे अवश्य मिलता है। और जो कर्म अकृत हो उसका भोग भी नहीं होता। अब तीसरे विकल्प को बताते हैं कि उभय स्वभाव-कर्तृत्व

भोक्तृत्व स्वभाव मानने से तुम्हारे अद्वैत् सिद्धान्तानुसार विरोध आता है। याने जहाँ कर्तृत्व हो वहीं भोक्तृत्व नहीं; वहाँ भोक्तृत्व हो वहाँ कर्तृत्व नहीं रह सकता। दोनों का विरोध आता है। अद्वैत सिद्धान्त नष्ट हो जाता है, जो आप को इष्ट नहीं। यदि चौथा विकल्प आत्मा में अनुभयभाव-कर्तृत्वभोक्तृत्व का अभाव माने, तो वह भी इष्ट नहीं। कारण कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वभाव का अभाव मानने से तो वस्तुस्वरूप का ही अभाव सिद्ध होता है। जैसे वंध्या को पुत्र होना असंभव है, वैसे ही कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभाव बिना आत्मसत्ता का ही होना असंभव है। इस प्रकार चारों विकल्प विरोध और असंभवदोष से युक्त है ॥४८१॥

यत्तथोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते ।
परिणामित्वसङ्गत्या, न त्वागोऽत्रापरोऽपि वः ॥४८२॥

अर्थ : उभयस्वभाव को मानने पर जो विरोध आता है, परिणामित्वस्वभाव अंगीकार करने से वह दोष भी तुम्हारे नहीं रहता ॥४८२॥

विवेचन : इस प्रकार आत्मा में एकान्त कर्तृत्व और एकान्त भोक्तृत्व उभय स्वभाव स्वीकार करने से आप के अद्वैतवाद सिद्धान्तानुसार विरोध आता है। और अनुभय स्वभाव को मानने पर आत्म स्वरूप का ही अभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार तुम्हारे चारों विकल्प दोष युक्त है, अथवा इस प्रकार उभय स्वभाव मानने पर तुम्हारे मत से विरोध-आता है। और अनुभय स्वभाव वस्तु स्वरूप का ही विनाश करता है। परन्तु यदि तुम अद्वैतवादी एकान्त नित्यत्व का कदाग्रह छोड़कर, आत्मादि द्रव्यों में परिणामीत्वस्वभाव को अंगीकार करो तो सब यथार्थ घटित हो जाता है। आत्मा द्रव्यत्व रूप से नित्य होने पर भी पर्याय स्वभाव से नये-नये परिणामों को - पर्यायों को धारण करती है और वैसा परिणामी स्वभाव होने से ही पूर्व अवस्था का त्याग करके, उत्तर अवस्था का स्वीकार करती है। इस प्रकार आप के कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वभाव वाले आत्मा की सिद्धि भलीभांति हो जाती है और विरोध असंभव आदि दोष भी नहीं रहते ॥४८२॥

एकान्तनित्यतायां तु, तत्तथैकत्वभावतः ।
भवापवर्गभेदोऽपि, न मुख्य उपपद्यते ॥४८३॥

अर्थ : (आत्मा को) एकान्त नित्य मानने पर एकस्वभाव में स्थिर रहने वाली होने से संसार और मोक्ष का मुख्य भेद भी घटित होता नहीं ॥४८३॥

विवेचन : एकान्त नित्य का लक्षण है कि एक ही रूप - एक ही स्वभाव में स्थिर रहना परन्तु आत्मा तो संसार की विविध योनियों में पूर्व अवस्था का त्याग करके, उत्तर अवस्था को प्राप्त करती है। इसी प्रकार संसार की पूर्व अवस्था को छोड़कर, पुण्यकार्य करके मोक्ष की भावी स्थिति

को भी प्राप्त करती है। अगर आत्मा को एकान्त कूटस्थ नित्य माने तो उसका संसार और मोक्ष का जो मुख्यभेद है वह कैसे घटित होगा ? अर्थात् एक ही स्वरूप और स्वभाव वाली आत्मा संसार के स्वरूप को छोड़कर मोक्ष के स्वरूप को कैसे पायेगी ? अगर वह मोक्ष स्वरूप को पा लेती है, तो तुम्हारा नित्यत्व भंग हो जाता है ॥४८३॥

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तैव परिणामिता ।
तयाऽनुपगमे त्वस्य, रूपमेकं सदैव हि ॥४८४॥

अर्थ : यह (कूटस्थ नित्य आत्मा) सर्वदा एक ही स्वभाववाली होने से या तो संसारी सिद्ध होगी या मोक्षस्वभावी सिद्ध होगी क्योंकि भव और मुक्ति दोनों एक साथ नहीं घटित होता ॥४८४॥

विवेचन : अगर तुम वेदान्ती आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य मानो तो उसका पुनः-पुनः संसार भ्रमण करने का एक स्वरूप कायम रहेगा, या फिर नित्यमुक्तित्व स्वभाव रहेगा। वस्तुतः तो एक ही स्वभाव मानने पर आत्मा का संसारभाव भी घटित होता नहीं, क्योंकि संसार में भी वह नाना स्वरूप स्वभावों को धारण करती है। चौरासी लाख जीव योनि में विविध परिणामों को धारण करती है। इस प्रकार नित्य एकस्वभावी आत्मा का संसारी स्वभाव और मोक्ष - संसारभाव का त्याग करके, मोक्ष स्वरूप को पाने का स्वभाव भी घटित नहीं होता परन्तु आत्मा को परिणामी स्वभाववाला मानने से सब घटित हो जाता है ॥४८४॥

तत् पुनर्भाविकं वा स्यादापवर्गिकमेव वा ।
आकालमेकमेतद्धि, भवमुक्ती न सङ्गते ॥४८५॥

अर्थ : विचित्र कार्यों से विचित्र बंध और विचित्र बंध से भव-संसार सिद्ध है। परन्तु उस (आत्मा) को एकान्त एकस्वभावी मानने पर तो यह (विचित्रबंध) भी नहीं घटित होता ॥४८५॥

विवेचन : आत्मा मन, वचन, काया के योगों से विचित्र प्रकार के अध्यवसायों द्वारा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीयादि विचित्रकर्मों को बांधती है और जब-जैसे विचित्र कर्मों का उदयकाल उपस्थित होता है, नये-नये विचित्र जन्म मरण को पाकर, संसार में आधि-व्याधि और उपाधिमय विचित्र दुःखों को क्लेशों को भोगता है। इस प्रकार आत्मा को परिणामी मानने से सब घटित हो जाता है। परन्तु यदि आत्मा को एकान्त नित्य, एक स्वभाव वाला मानो तो ऐसी आत्मा द्वारा, कभी भी विचित्र कर्म बंध संभव नहीं। क्योंकि कहा है :-

विचित्रकारणात् विचित्रकार्योत्पत्तिर्भवति
न ह्यचित्रात कारणाच्चित्र कार्य प्रसूतिरति ।

कारण विचित्र हो तो कार्य में विचित्रता होती है, अगर कारण विचित्र न हो तो कार्य में

कभी भी विचित्रता नहीं आ सकती। आम के बीज से आम की उत्पत्ति होती है परन्तु बबुल से आम की उत्पत्ति असंभव है। इसी प्रकार यदि आत्मा एकान्त एकस्वभावी है तो वह सर्वदा एक ही प्रकार के अध्यवसाय से युक्त होने से एक ही प्रकार का कर्मबंध करेगा। संसार में जो विविधता-विचित्रता दिखाई देती है, उसमें विचित्र कारण उपादानरूप से अवश्यमेव होते हैं। परन्तु तुम्हारी एकान्तनित्य एकस्वभावी आत्मा विचित्र कर्मबंधों को कैसे बांधेगी, जो कि संसार में सभी की अनुभूत वस्तु तथ्य है, उसे कैसे टालेगें ? संसार की विचित्रता को कैसे घटित करवायेगें ॥४८५॥

बन्धाच्च भवसंसिद्धिः, सम्बन्धश्चित्रकार्यतः ।
तस्यैकान्तैकभावत्वे, न त्वेषोऽप्यनिबन्धनः ॥४८६॥

अर्थ : आत्मा को कर्म का बंध मानने से संसार में परिभ्रमण संभवित होता है, वह भी अलग-अलग कर्मों के संबंध से ही होता है। किन्तु एकान्त एक स्वभाववाला नित्य मानने पर संभव सिद्ध नहीं होता। साथ ही संसार संबंध का त्याग कर मुक्त होने का भी संबंध सिद्ध नहीं होता।

विवेचन : जीवात्मा मनोयोग से बड़े ही विचित्र स्वरूप वाला और अनेक प्रकार के शुभ-अशुभ अध्यवसाय, वचन एवं काया की क्रिया से ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, नामकर्म, गोत्रकर्म, आयुष्यकर्म तथा वेदनीय कर्म के समूह से पूर्व काल में जिस प्रकार और जैसी आत्म परिणामी कर्मों बांधा हो उन कर्मों का उदय होने पर अलग-अलग प्रकार के जन्म धारण कर नये संयोगों में संबंध प्राप्त कर वैसे-वैसे कर्मों को भोगता है। इस प्रकार जीवात्मा संसार में जन्म, मरण, आधि, व्याधि, उपाधि भोगता है, यह बात सिद्ध होती है। यह जन्म-मरण रूप जो विचित्र कार्य होता है उससे ही संसार अनादि की परंपरा से प्रवाह रूप में चला आ रहा है। यह सिद्ध होता है। इसका कारण राग-द्वेष रूपी मोह ही क्योंकि **"अविचित्रकारणात् विचित्र कार्योत्पत्तिः भवति"।**

विचित्र नहीं अर्थात् एक समान कारणों से विचित्र कार्यों की उत्पत्ति होती है ऐसा जैन मत नहीं स्वीकारता। क्यों कि बबूल के बीज से आम की उत्पत्ति नहीं होती। इस प्रकार विचित्र कारण से विचित्र प्रकार के भोग जीवों को मिलते है ऐसा सिद्ध होने पर आत्मा के स्वरूप की क्या अवस्था होगी बताने के लिए आगे कहते हैं -

इसी प्रकार जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि आत्मा आदि सभी द्रव्य अनेक स्वभाव वाले और परिणाम को प्राप्त होने से कार्य कारण रूप अर्थ स्वरूप की सिद्धि होती है तो भी हे वेदांतिक पंडित प्रवर ! आप जिसे योग मार्ग कहते हैं उसमे भव (जन्म) एवं मुक्ति के क्या कारण हेतु होते हैं ? साथ ही संसार के नाश के लिए यदि योग मार्ग कल्पता है तो वह योग्य नहीं है। क्योंकि यदि एक ही स्वरूप में यदि आत्मादिक अर्थ रहता हो तो पारिणामिकता का अभाव होगा। इससे

कार्य कारण भाव का संबंध घटित नहीं होता । यदि आप योग मार्ग को मोक्ष हेतु कल्पते हैं तो यह योग्य नहीं है । क्योंकि आप वस्तु मात्र को अपरिणामी स्वभाव वाला मानने के कारण अविचलित कुटस्थ ऐसी आत्मा योग मार्ग का विषय कैसे बन सकती है । जो पदार्थ एकांत नित्य हो तो परिणामीत्व स्वभाव को प्राप्त नहीं होने से पूर्व परिणाम का त्याग तथा उत्तर परिणाम की प्राप्ति स्वरूप अलग-अलग कार्य कारण भाव को प्राप्त नहीं होने से मोक्ष के विषय को ग्रहण नहीं करते ।

नृपस्येवाभिधानाद् यः, सातबन्धः प्रकीर्त्यते ।
अहिशङ्काविषज्ञाताच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥४८७॥

अर्थ : राजा के नाम से शातावेदनीय की भांति, सर्पदंश के विषज्ञान से अशातावेदनीय भी निरर्थक है ॥४८७॥

विवेचन : आत्मा को एकान्त नित्य मानने से, 'मैं राजा हूँ' इस प्रकार के सम्बोधन से जो शातावेदनीय का - सुख का अनुभव होता है और उसी व्यक्ति को सर्पदंश के ज्ञान से जो अशाता वेदनीय-दुःख का अनुभव होता है दोनों निरर्थक हैं, क्योंकि एकान्तनित्य में दोनों अनुभव घटते नहीं। अगर एकान्तनित्य आत्मा में सुख का अनुभव होता है, तो वह भी नित्य होना चाहिये । उसमें दुःख का अनुभव कैसे हो सकता है ? अगर उसमें दुःख का भी अनुभव होता है, तो वह नित्य आत्मा एकान्त एक स्वभाव वाला कैसे हुआ ? अगर आप एकान्त नित्य आत्मा के इन सुख-दुःखों को काल्पनिक मानो, तो मुक्तिमार्ग भी काल्पनिक सिद्ध होगा ॥४८७॥

एवं च योगमार्गोऽपि मुक्तये यः प्रकल्प्यते ।
सोऽपि निर्विषयत्वेन, कल्पनामात्रभद्रकः ॥४८८॥

अर्थ : ऐसे तो मुक्ति के लिये जिस योगमार्ग की कल्पना की गई है; वह भी निर्विषय होने से कल्पनामात्र सिद्ध होगा ॥४८८॥

विवेचन : आत्मा के एकान्तनित्य मानने से आप वेदान्तियों ने जिस योगमार्ग की कल्पना की है वह भी कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि ऐसा मानने से भव का कारणरूप कौन सा हेतु होगा ? और मुक्ति का कारणरूप कौन सा हेतु होगा ? अगर आप संसारनाश के लिये योगमार्ग की कल्पना करते हैं तो वह उचित नहीं, क्योंकि नित्य एक स्वरूप कूटस्थ स्थिति में रहने से आत्मा में परिणामिकता का अभाव सिद्ध होता है, और उसके बिना कार्य-कारण का सम्बंध घटित नहीं होता अगर योगमार्ग को मोक्ष के लिये मानते हो, तो भी योग्य नहीं है, क्योंकि आप वस्तुमात्र को अपरिणामी स्वभाव वाला मानते हैं । फिर ऐसा अविचलित कूटस्थ आत्मा योगमार्ग का विषय कैसे हो सकता है ? जो पदार्थ एकान्तनित्य हो वे परिणामित्व स्वभाव को नहीं पा सकते । पूर्व परिणाम

का त्याग और उत्तर परिणाम की प्राप्तिरूप विचित्र - अलग-अलग कार्य कारणभाव को ग्रहण न करने से मोक्ष के विषय को ग्रहण नहीं कर सकता। अतः वह कल्पनामात्र सिद्ध होगा, वास्तविक पारमार्थिक नहीं।

कहने का तात्पर्य यह है कि अगर नित्य आत्मा के सुख-दुःख काल्पनिक है, तो उन काल्पनिक सुख-दुःख से मुक्त होने के लिये जो योगमार्ग की कल्पना है, वह भी काल्पनिक ही सिद्ध होगी वास्तविक नहीं, क्योंकि आत्मा एक ही स्वरूप में स्थिर है ॥४८८॥

दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि, पूर्वसूर्युदितं तथा।
आत्मनोऽपरिणामित्वे, सर्वमेतदपार्थकम् ॥४८९॥

अर्थ : दिदृक्षादि की निवृत्ति आदि जो पूर्वाचार्यों द्वारा बतायी गयी है, वह आत्मा को अपरिणामी मानने से व्यर्थ सिद्ध होगी ॥४८९॥

विवेचन : पतञ्जलि आदि पूर्वाचार्यों ने दिदृक्षादि अर्थात् खाने, पीने, देखने, बोलने, जानने आदि की इन्द्रियजन्य वासना की निवृत्ति के लिये जिस योगमार्ग की प्ररूपणा की है, अर्थात् उन्होंने बताया है कि इन्द्रियजन्य वासनाओं की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति योग मार्ग से होती है। उनका बताया हुआ योगमार्ग आत्मा को अपरिणामी मानने से निरर्थक सिद्ध होता है। क्योंकि उनके मत से :-

"**अपरिच्युतानुत्पन्न स्थिरैकस्वरूपे नित्यः**" ऐसा नित्य कभी भी पूर्व स्वरूप का त्याग और नये मोक्षस्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिये उनकी आत्मार्थ कही गई योगमार्ग की प्रवृत्ति निष्फल सिद्ध होती है ॥४८९॥

परिणामिन्यतो नीत्या, चित्रभावे तथाऽऽत्मनि।
अवस्थाभेदसङ्गत्या, योगमार्गस्य सम्भवः ॥४९०॥

अर्थ : अतः आत्मा को पूर्ववत् परिणामी और चित्रस्वभावी मानने पर अवस्थाभेद की संगति से युक्तिपूर्वक (न्याय से) योगमार्ग सिद्ध-संभव होता है ॥४९०॥

विवेचन : जब तक आत्मा को परिणामी स्वभावी न माने तब तक योगमार्ग का संभव नहीं। आत्मा को द्रव्यत्व रूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य (परिणामी) और चित्र स्वभावी मानने पर ही अवस्थाभेद की संगति - पूर्व अवस्था का त्याग और उत्तर अवस्था की प्राप्तिरूप पूर्वापर अवस्था विशेष के लाभ से, युक्तिपूर्वक योगमार्ग की सिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि ने भी कहा है :

"**क्लिष्ट चित्तवृत्तिनिरोधः योगः**"

अनादिकालीन कर्मक्लेशों को दूर करने के लिये जिस योगमार्ग का प्रतिपादन किया है और तत्त्वार्थसूत्र में श्री उमास्वाति वाचक प्रवर ने जो योग "**आस्रवनिरोधः संवरः । स गुप्ति समितिधर्मानु प्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः, तपसा, च निर्जरा सम्यक् योग निग्रहो गुप्तिः**", इत्यादि प्रतिपादित किया है, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय आदि योगमार्ग बताया है। योग के इन साधनों के द्वारा आत्मा पर्यायरूप अनित्य संसारत्व अवस्था का त्याग करके, नित्य मोक्ष अवस्था को प्राप्त करती है। अतः द्रव्यत्वरूप से आत्मा नित्य होने पर भी उसके पर्याय तो बदलते ही रहते हैं। पर्यायों का बदलना ही उसकी विचित्रता है। अतः आत्मा को कथंचिद् नित्यानित्य-परिणामी मानने से ही योगमार्ग की सिद्धि होती है ॥४९०॥

तत्स्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि ।
क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात्, परिणामो भवावहः ॥४९१॥

अर्थ : इसका (आत्मा का) परिणामी स्वभाव ही तात्त्विक-यथार्थ है क्योंकि कर्म अन्य संयोग से (आत्मा का) जो क्लिष्ट परिणाम है; वह संसार का हेतु है॥४९१॥

विवेचन : आत्मादि सर्व द्रव्य स्वाभाविक रूप से ही निश्चित परिणामी है, क्योंकि जैसे क्लिष्ट कर्म सम्बंध से भवपरम्परा के परिणाम घटित होते हैं, वैसे ही कर्मसमूह का नाश होने पर मोक्ष स्वरूपता भी घटित होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परिणामी स्वभाव तात्त्विक-यथार्थ है, औपचारिक आरोपित किया हुआ नहीं है। यही कारण है कि जब तक जीवात्मा की अनादिकाल से परम्परागत कर्मबंधन की योग्यता रहती है, तब तक आत्मा अक्लिष्ट-क्लिष्ट शुभाशुभ अध्यवसायों द्वारा जैसा शुभाशुभ कर्म बांधती है, उसके अनुसार वह आत्मा अनेक प्रकार के चौरासी लाख ज़ीवयोनि से युक्त चारगति में नये-नये जन्म मरण रूप परिणामों को धारण करती हुई संसार में भटकती है। अतः अशुभ अध्यवसाय से युक्त जो मन, वचन, काया का अन्य अवस्थारूप परिणामित्वभाव है वही संसार का हेतु है। ऐसे क्लिष्ट परिणामों का त्याग करके, संवर निर्जरा युक्त महाव्रत तप, ध्यान, समता, समाधि और योग द्वारा सर्वकर्मों का क्षय करके, मोक्ष को प्राप्त करती है। उसमें पारिणामिक स्वभावरूप भव्यत्व स्वभाव ही कारण है ॥४९१॥

जैसा उपर बता चुके हैं कि आत्मा को परिणामी मानने पर ही संसार और मोक्ष की व्यवस्था घटित होती है। क्योंकि क्लिष्ट परिणाम संसार का हेतु है, और क्लिष्ट परिणामों से मुक्त होना ही मुक्ति है। योग को उस क्लिष्ट परिणाम को नाश करने का साधन यहाँ बताया है :-

स योगाभ्यासजेयो यत्तत्क्षयोपशमादितः ।
योगेऽपि मुख्य एवेह, शुद्ध्यवस्थास्वलक्षणः ॥४९२॥

अर्थ : क्षयोपशमादिभाव से (आत्मा की) शुद्धावस्थारूप लक्षणवाला योग यहाँ मुख्य है

क्योंकि (ऐसे) योग के अभ्यास से वह (भवावह परिणाम-क्लिष्ट परिणाम जो संसार का हेतु रूप परिणाम है) जीता जाता है ॥४९२॥

विवेचन : अध्यात्मादि योग के अभ्यास से तथाप्रकार के कर्मों का क्षय और उपशम भाव प्रकट होता है और वैसे क्षयोपशम से आत्मा से कर्मदल के संयोग का जितने अंश में नाश होता है, उतने अंश में आत्मा शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम अवस्था को प्राप्त करती है। उत्तरोत्तरशुद्धिरूप अवस्था को प्राप्त करने वाला ही वास्तव में मुख्य योग यहाँ अभिप्रेत है। क्योंकि ऐसे योग से ही वे क्लिष्ट परिणाम जीते जा सकते हैं जो संसार हेतु हैं ॥४९२॥

ततस्तथा तु साध्वेव, तदवस्थान्तरं परम् ।
तदेव तात्त्विकी मुक्तिः, स्यात् तदन्यवियोगतः ॥४९३॥

अर्थ : उससे (श्रेष्ठ योग के अभ्यास से) वह (आत्मा) श्रेष्ठ अवस्थान्तर को प्राप्त करती है, और कर्म के सर्वथा वियोग से वही वास्तविक मुक्ति है ॥४९३॥

विवेचन : अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता आदि श्रेष्ठ योग के अभ्यास से क्रमशः उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुणस्थानको की प्राप्ति के क्रम द्वारा श्रेष्ठ, श्रेष्ठतर, श्रेष्ठतम अवस्थान्तरों को प्राप्त करके, आत्मा जब कर्म संयोग का सर्वथा नाश कर देती है, तब वह मुक्तात्मा कही जाती है। अन्य कर्म का सर्वथा वियोग ही वास्तविक मुक्ति है। जब सर्व पौद्गलिक सम्बंधों का वियोग हो जाता है और अनन्तज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्यरूप अपने सहजगुणों से आत्मा स्वस्वरूप का भोक्ता होती है तभी वह वास्तविक मुक्ति को उपलब्ध होती है। जैन ऐसी मुक्ति को मानते है, परन्तु सांख्य, अद्वैत, वेदान्ती और नैयायिकों की "अपनी अवस्था में आ जाना ही मात्र मुक्ति" ऐसी मुक्ति और बौद्धों की "आत्मा की क्षण सन्तानरूप परम्परा का सर्वथा उच्छेदरूप" मुक्ति हमें मान्य नहीं। लेकिन आत्मा का सहजभाव-शुद्धतामय स्वरूप को उपलब्ध होना, निरावरण भाव से प्रकट करना ही वास्तव में परम मुक्ति है।

श्रेष्ठ योग के अभ्यास से प्रथम अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान फिर देशविरति, फिर सर्वविरति प्रमत्त, अप्रमत्त गुणस्थानक, अपूर्वकरण, अनिवृति करण, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात आदि गुणस्थानक रूप श्रेष्ठ अवस्थाओं को प्राप्त करके, कर्म के सर्वथा वियोग से उत्पन्न मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है ॥४९३॥

अत एव च निर्दिष्टं, नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः ।
वियोगोऽविद्यया बुद्धिः, कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥४९४॥

अर्थ : इसीलिये तत्त्ववेत्ताओं ने 'अविद्यावियोग' 'बुद्धि' तथा 'सर्वकर्मक्षय' (ऐसे अनेक) नाम मुक्ति के लिये निर्दिष्ट किये हैं ॥४९४॥

विवेचन : तत्त्वज्ञाताओं ने मुक्ति को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। वेदान्ती "अविद्या के वियोग" को ही "मुक्ति" कहते हैं। बौद्ध मानते हैं कि जब "बुद्धि पूर्ण विकसित" हो जाती है तो "मुक्ति" कही जाती है। जैन लोग मानते है कि जब कृत्स्न-संपूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय-नाश हो जाता है तब आत्मा की अवस्था का वह सर्वकर्म अभावरूप परिणाम" ही वास्तव में "मुक्ति" है। इस प्रकार मुक्ति के अनेक नाम होने पर भी सामान्यतः वस्तुस्वरूप वह एक ही है ॥४९४॥

शैलेशीसंज्ञिताच्चेह, समाधेरूपजायते ।
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं, गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥४९५॥

अर्थ : शैलेशी नामकी समाधि जो (केवली भगवन्तों को अन्त समय में) पैदा होती है; वह सर्वकर्मों के क्षय से होती है। यहाँ (योगभाषा में) उसे ही वृत्तिसंक्षय कहा है ॥४९५॥

विवेचन : शिलाओं के समूहरूप सामान्यपर्वत शैल कहे जाते हैं, और (शैलानामीशः इति शैलेश) पर्वतों में सर्वोत्कृष्ट राजा समान मेरूपर्वत-शैलेश कहा जाता है। मेरु जैसी अकम्प, अडिग, अविचलित अवस्था को उपलब्ध करने वाले संयोगी केवली भगवान आत्म प्रदेशों से सर्व कर्मदलों का क्षय-वियोग नाश करते हुये 'अ इ उ ऋ लृ' इन पांच ह्स्वाक्षरों के उच्चारण कालमात्र जितनी अन्तिम समाधि को अविचलित भाव से करते हैं, और इस समाधि से शेष रहे हुये सर्व कर्मों का सर्वथा क्षय करते हैं। ऐसी शुक्लध्यान के अन्तिम भागरूप अवस्था को जैनाचार्य शैलेशी समाधि कहते हैं। योगभाषा में उसे शैलेशीकरण भी कहते हैं। योगदर्शन-कार इसे राजयोग कहते हैं। श्रीहरिभद्रसूरिजी इसे वृत्तिसंक्षय समाधि कहते हैं। भाव यह है कि सयोगी केवली की अन्त समय की जो समाधि होती है उसे शैलेशी समाधि कहते हैं, और इसी को यहाँ हरिभद्रसूरिजी ने वृत्तिसंक्षय नाम दिया है ॥४९५॥

तथा तथा क्रियाविष्टः, समाधिरभिधीयते ।
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञैर्मुक्तिरेष उदाहृतः ॥४९६॥

अर्थ : (कर्मक्षयार्थ किये गये अनुष्ठान रूप) तथाप्रकार की क्रिया प्रवृत्ति का परिपाक होने पर जो दशा होती है वह 'समाधि' कही जाती है, और कर्मवियोगरूप स्थिति के परिपाक को योगी 'मुक्ति' कहते हैं ॥४९६॥

विवेचन : आत्मा को परिणामी मानने पर ही वह उत्तरोत्तर शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम अवस्था को प्राप्त करके, योग पर्यन्त पहुंच सकता है। यही व्यवस्था परमत वाले भी स्वीकार करते हैं। 'अविद्या' का वियोग, 'बुद्धि' आदि नाम जो उन्होंने दिये हैं, वह भी यही सिद्ध करता है। कारण कि कर्म क्षयार्थ अमुक क्रिया-अनुष्ठान करते-करते आत्मा की अवस्थान्तरों का परिपाक ही समाधि

है, और कर्मवियोगरूप स्थिति के परिपाक को तुम मुक्ति कहते हो, वह भी आत्मा के परिणामी स्वभाव को ही सिद्ध करता है। और परिणामी मानने पर ही योग घटित होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समाधि भी आत्मा का एक परिपक्व परिणाम है और मुक्ति भी एक परिणाम है इसलिये आत्मा को परिणामी ही मानना समुचित है ॥४९६॥

संयोगयोग्यताभावो, यदिहात्मतदन्ययोः ।
कृतो न जातु संयोगो, भूयो नैवं भवस्ततः ॥४९७॥

अर्थ : आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अभाव होने पर वह संयोग पुनः कभी भी नहीं होता और इस प्रकार (कर्म संयोग योग्यता का अभाव होने पर) फिर संसार भी नहीं रहता है ॥४९७॥

विवेचन : आत्मा और कर्म का संयोग जिस कारण से होता है वह योग्यता कही जाती है। वह योग्यता आत्मा के साथ अनादि काल से रही हुई है। जब आत्मा योग का आश्रय लेकर अपना पूर्ण आध्यात्मिक विकास साध लेती है, और सर्वकर्मों को क्षय कर देती है तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्तात्मा जब कर्मों के संयोग की योग्यता का नाश कर देती है तब उसे पुनः वह कर्मसंयोग लागु नहीं पड़ता। जैसे जलकर राख हुआ वट का बीज वटवृक्ष की उत्पत्ति नहीं कर सकता। उसी प्रकार मुक्तात्मा के सर्वकर्म जलकर राख हो जाते हैं इसलिये पुनः उन कर्मों का संयोग नहीं हो सकता। जब कर्मों का संयोग नहीं तो आधि, व्याधि, उपाधि युक्त जन्म-मरण रूप संसार भी नहीं रहता ॥४९७॥

योग्यताऽऽत्मस्वभावस्तत्, कथमस्या निवर्तनम् ।
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥४९८॥

अर्थ : योग्यता तो इसका (आत्मा का) स्वभाव है, उसकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ? संक्षेप में यह बता चुके हैं कि उसका (योग्यता का) वैसा स्वभाव है (कारण पाकर दूर हो जाना) ॥४९८॥

विवेचन : परमत वाले शंका उठाते हैं कि आप जैन योग्यता को आत्मा का स्वभाव मानते हैं, तो वह स्वभाव आत्मा में तादात्म्य सम्बंध से रहा हुआ है ? या भिन्न स्वरूप से रहा हुआ है ? पर दोनों ही अनुपयुक्त ठहरते हैं। क्योंकि तादात्म्य सम्बंध से अगर आत्मा के उस स्वभाव को माने तो उसकी निवृत्ति-नाश-जुदाई कैसे हो सकती है ? क्योंकि आत्मा तो नित्य है और उसका वह स्वभाव भी नित्य होना चाहिये। उसका नाश-निवृत्ति कैसे हो सकती है ? अगर उस स्वभाव को भिन्न माने तो वह योग्यता सिद्धात्माओं को भी लागु हो सकती है। योग्यता होने से कर्मसंयोग

और कर्मसंयोग से संसारभ्रमण उन सिद्धों को भी करना पड़ेगा। इस शंका का समाधान करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि हमने पूर्व में ही परिणामवाद के प्रकरण में इस शंका का समाधान संक्षिप्त रूप से कर दिया है कि वह योग्यता निवृत्ति स्वभाव वाली ही है। अर्थात् कर्मबंध की योग्यता जीवात्मा में कथंचिद् तादात्म्यभावी होने पर भी परिणामी स्वभाववाली है और जब आत्मा का काल परिपक्व हो जाता है तो वह योग्यता जीवात्मा से निवृत्त हो जाती है। आत्मा को कथंचिद् नित्य और परिणामी मानने पर सब यथार्थ घट जाता है। आत्मा जब सर्व संवरभाव में आ जाती है, तो क्षायिक चारित्र प्रकट होता है और उससे कर्मबंध-स्वभाववाली योग्यता भी निवृत्त हो जाती है। क्योंकि पूर्व में बता चुके है कि योग्यता का यह स्वभाव ही है, कि कारण पाकर दूर हो जाना है ॥४९८॥

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते ।
अस्त्वेवमपि नो दोषः, कश्चिदत्र विभाव्यते ॥४९९॥

अर्थ : ऐसे (योग्यता को स्वनिवृत्ति स्वभाववाली मानने से) तो इस को भी (आत्मा को भी) स्वनिवृत्ति स्वभाव प्राप्त होगा। यदि ऐसा कहो तो ऐसा मानने में यहाँ कोई दोषापत्ति नहीं ॥४९९॥

विवेचन : वेदान्ती कहते हैं कि यदि आप जैन योग्यता को स्वनिवृत्ति स्वभाववाली मानते हैं तो आत्मा को भी स्वनिवृत्ति स्वभाव प्राप्त होगा-लागु पड़ेगा। इस शंका का समाधान करते हुये जैनाचार्य कहते हैं कि आत्मा को वह स्वभाव प्राप्त हो उसमें हमको कोई भी यहाँ दोषापत्ति नहीं है। वेदान्ती कहते हैं कि दोषापत्ति क्यों नहीं ? आत्मा को तो आप भी द्रव्यत्वभाव से नित्य मानते हैं; उसका नाश तुम्हें भी इष्ट नहीं, परन्तु योग्यता नाश से आत्मा का नाश भी प्राप्त होता है यह वस्तु कैसे योग्य हो सकती है ? जैनाचार्य कहते हैं कि योग्यतानिवृत्ति में पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा की कथंचिद् निवृत्ति को हम स्वीकार करते हैं। क्योंकि आत्मा कर्मबंध की योग्यता का जितने अंश में त्याग करती है उतने अंश में मोक्ष की योग्यता को अंगीकार करती है। अतः (बहिरात्म का) कथंचिद् नाश मानने में हमको स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार कोई भी दोषापत्ति नहीं है ॥४९९॥

परिणामित्व एवैतत्, सम्यगस्योपपद्यते ।
आत्माभावेऽन्यथा तु स्यादात्मसत्तेत्यदश्च न ॥५००॥

अर्थ : आत्मा को परिणामी (स्वभावी) स्वीकार करने पर वस्तु स्वरूप की सिद्धि सम्यक् प्रकार से हो जाती है, अन्यथा आत्मा के अभाव में आत्मसत्ता ही नहीं रहती ॥५००॥

विवेचन : आप वेदान्तियों ने जो यह कहा कि कर्मबंध की योग्यता की निवृत्ति होने पर वैसे स्वभाववाली आत्मा की निवृत्ति भी प्राप्त होती है, तो वह तो किसी को भी इष्ट नहीं। परन्तु आत्मा को परिणामी स्वभाव वाली मानने पर वस्तु स्वरूप की सिद्धि सम्यक् प्रकार से इस प्रकार

हो जाती है कि आत्मा में परिणामी स्वभाव होने से पूर्व की कर्मबंध की योग्यतारूप स्वभाव की निवृत्ति होने पर, वैसे स्वभाववाली आत्मा की भी निवृत्ति हुई । और वैसा होने पर उत्तर पारिणामिकभाव से कर्मबंध के अभावरूप जो योग्यता स्वभाव सत्ता में पड़ा था उसको वह आत्मा प्राप्त करता है उसमें आत्मा का परिणामी स्वभाव ही मुख्यहेतुरूप से रहा हुआ है । इसीलिये पूर्व स्वरूप का त्याग और उत्तर स्वरूप की प्राप्ति सम्यक् प्रकार से अवश्य सिद्ध होती है । परन्तु यदि आत्मा को परिणामी स्वभाववाला न माने तो स्वकर्मनिवृत्ति के साथ आत्मा की निवृत्ति याने नाश मानना पड़ेगा । परन्तु यह दोष हमको लागु नही पड़ता, क्योंकि स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार आत्मा का परिणामी स्वभाव स्वीकृत है । अत: सत्तारूप द्रव्यत्वभाव से आत्मा का अस्तित्त्व अबाधित रहता है और पारिणामिकभावरूप पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उत्पाद और व्यय होता है। परन्तु आत्मा को अपरिणामी मानने वालों को आत्मा का भाव और अभावरूप दोनों एकान्तदृष्टि से अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं । अपरिणामी मानने से योग्यता निवृत्ति से आत्मा की भी निवृत्ति अभाव होगा और आत्माभाव में आत्मसत्ता ही नहीं रहती है ॥५००॥

स्वभावविनिवृत्तिश्च, स्थितस्यापीह दृश्यते ।
घटादेर्नवतात्यागे, तथा तद्भावसिद्धितः ॥५०१॥

अर्थ : स्वभाव की विनिवृत्ति तो यहाँ स्थिर पदार्थों में भी देखी जाती है, जैसे नवीनता त्यागने पर भी घटादि का भावअस्तित्त्व रूप घटत्व और प्राचीनता सिद्ध होती है ॥५०१॥

विवेचन : आत्मादि पदार्थों में स्व स्वभाव रहा हुआ है परन्तु कुछ स्वभाव कारणिक होते हैं अर्थात् कारण होने पर विद्यमान होते हैं, और कारण का अभाव होने पर नाश भी हो जाते हैं। संसार में दिखाई देने वाले स्थूल घट-पट आदि पदार्थों में भी स्वभाव की निवृत्ति देखी जाती है, परन्तु फिर भी पदार्थ की निवृत्ति (नाश) उसे नहीं होती । जैसे घटादि पदार्थों में नवीनतारूप स्वभाव की निवृत्ति होने पर भी घटत्व की निवृत्ति याने नाश नहीं होता और नवीनता के त्याग से प्राचीनता सिद्ध है । इसी प्रकार कर्मबंध की योग्यता की निवृत्ति-अभाव होने पर आत्मा की निवृत्ति-नाश नहीं होता । परन्तु घट की प्राचीनता की भांति योग्यता की निवृत्ति-अभाव से सहजरूप से निरावरण - आवरण रहित आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्यादि गुण से युक्त सिद्ध स्वभाव को सहज अनुभव करती है ॥५०१॥

नवताया न चात्यागस्तथा नातत्स्वभावता ।
घटादेर्न न तद्भाव, इत्यत्रानुभवः प्रमा ॥५०२॥

अर्थ : नवीनता का त्याग ही प्राचीनता को सिद्ध करता है और प्राचीनता से घटादि की सिद्धि लोक में अनुभव सिद्ध है ।

अथवा

नवीनता का त्याग न हो तो वह (प्राचीन) स्वभाव सिद्ध नहीं हो सकता और घटादि का घटत्वादि भी सिद्ध नहीं हो सकता यह अनुभव सिद्ध है ॥५०२॥

विवेचन : जगत में जो भी जड़-चेतन पदार्थ है उसमें यदि नवीनता न आती हो और सदा एक ही स्वभाव कायम रहता हो, यदि ऐसा मानो तो पदार्थों में मात्र पुरानी अवस्था ही रहनी चाहिये, परन्तु नहीं रहती। इसलिये द्रव्यत्व से सभी पदार्थ नित्य है, और पर्याय से - द्रव्यत्वरूप से अनित्य। द्रव्यार्थिकनय से पदार्थों में नित्यता रहने पर भी पर्याय की अपेक्षा से पदार्थ नये-नये पर्यायों को धारण करता है। इसलिये वह पर्यायदृष्टि से पुराने का त्याग और नवीन का ग्रहणरूप परिणामी स्वभाव को धारण करता है। जैसे घट-पट आदि पदार्थों में कथंचिद् नित्यत्वरूप घटत्व पुरानधर्मता-(स्वभावता) कथंचिद् रहती है, वैसे ही नवीन-नवीन भाव को प्राप्त करके, पुरातनभाव को त्याग करने का पर्यायरूप स्वभाव कथंचिद् कायम रहता है।

वैसे ही कथंचिद् घट-पट भाव कायम रहते है इसीलिये संसार में "यह नया घट है" "यह पुराना घड़ा है" ऐसा व्यवहार चलता है, जो अनुभव से सिद्ध है।

कहने का तात्पर्य यह कि जैसे घट-पट आदि पदार्थों में द्रव्यत्वरूप से मृतिकादि नित्य होने पर भी नवीनता का त्याग और प्राचीनता-पुरातनता का ग्रहणरूप पर्याय उत्पन्न और नाश होते रहते हैं; नवीनता का त्याग और प्राचीनता का ग्रहण होता रहता है; और इसीलिये संसार में कहा जाता है कि "यह नया घड़ा और यह पुराना घड़ा", ऐसा व्यवहार अनुभव में आता है। अगर एक ही स्वभाव हो तो नया और पुराना कुछ भी नहीं रहे। इसी प्रकार आत्मा भी अपरिणामी नहीं बल्कि परिणामी है। तभी वस्तु स्वरूप की सम्यक् सिद्धि हो सकती है ॥५०२॥

योग्यतापगमेऽप्येवमस्य भावो व्यवस्थितः ।
सर्वौत्सुक्यविनिर्मुक्तः, स्तिमितोदधिसन्निभः ॥ ५०३ ॥

अर्थ : योग्यता निवृत्त होने पर भी इसका (आत्मा का) सहज स्वभाव सब प्रकार की चंचलता-उत्सुकता रहित निस्तरंग स्वयंभूरमण-समुद्र की भांति स्थिर रहता है ॥५०३॥

विवेचन : अध्यात्म-भावना, ध्यान आदि श्रेष्ठ योग का अभ्यास करते-करते जीवात्मा की कर्मबंध की योग्यता का सर्वथा नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। अपितु मोक्षगमन की योग्यता से आत्मा का सहज स्वभाव - सचिदानंद स्वरूप याने ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और उपयोगरूप स्वभावधर्म जो स्वसत्ता में कर्मावरणों से ढंका हुआ पड़ा था, वह कर्मों के आवरण दूर होते ही व्यवस्थित-यथार्थभाव से प्रकट होता है। और ऐसा स्वभाव प्रकट होने पर सब प्रकार

की उत्सुकता यानी मन, वचन, काया की अस्थिरता, चंचलता जो कि पूर्वकाल में विद्यमान थी वह सब नष्ट हो जाती है। वायु के सहयोग से जल में जो कल्लोल, लहरें, तरंगें प्रकट होती है उससे समुद्र क्षुब्ध दिखाई देता है, उसी प्रकार मन की चंचलता से आत्मा में क्षोभ दिखाई देता है। वह क्षुब्धतारूप चंचलभाव नष्ट होने से संकल्प-विकल्प दूर हो कर, निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करता है और समभावरूप समता योग से निस्तरंग स्वयंभूरमणसमुद्र की गम्भीरता को पाता है। और आत्मा इस प्रकार स्वस्वरूप का भोक्ता और सर्वभाव का ज्ञाता होकर, शाश्वत् स्थैर्य को प्राप्त करती है ॥५०३॥

एकान्तक्षीणसंक्लेशो, निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।
निराबाधः सदानन्दो, मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥५०४॥

अर्थ : जिसके सर्वकर्म क्लेश सर्वथा क्षीण हो चुके हैं; इष्टफल की प्राप्ति से जो कृतकृत्य हो गई है; किसी भी प्रकार की विघ्नबाधा से रहित; सर्वदा आनंद में रहने वाली ऐसी आत्मा मुक्ति में स्थिर रहती है ॥५०४॥

विवेचन : आत्मा में जब कर्मबंध की योग्यता का नाश हो जाता है, तब कर्मबंध की कोई भी शक्यता नहीं रह जाती। इस प्रकार आत्मा ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय आदि घाती और वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र आदि अघाती, सर्व कर्म-क्लेशों का सर्वथा क्षय होने से क्लेश रहित हो जाती है, क्योंकि कर्म ही क्लेश के हेतु है। जब कर्ममलिनता नहीं रहती, तो आत्मा क्लेशों से मुक्त हो जाती है। कर्म क्लेशों से मुक्त होकर इष्टफलरूप मोक्ष की प्राप्ति होने से वह कृतकृत्य हो जाता है उसके करने योग्य सब कार्य संपूर्ण हो जाते हैं। कर्म सम्बंध से ही विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं और जीवात्मा के सच्चिदानन्द स्वभाव में रुकावट होती है। परन्तु जब कर्म क्षीण हो जाते हैं तो आत्मा निराबाध सदा आनन्द की स्थिति में आ जाती है और निराबाध आनन्द का भोक्ता उस आत्मा का मुक्ति में निवास होता है। जब वह आत्मा मुक्ति में चली जाती है तब फिर पुनः वह संसार के बंधनों से बंधती नहीं और संसार में आती नहीं। श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी **अपूर्व अवसर** में कहा है:-

चार कर्म घन घाती ते व्यवच्छेद ज्यां,
भवनां बीजतणो आत्यन्तिक नाश जो;
सर्व भाव ज्ञाता द्दष्टा सह शुद्धता,
कृतकृत्य प्रभु वीर्य अनंत प्रकाश जो ॥१५॥

भाव यह है कि सर्व कर्म क्षीण होने पर आत्मा कृत-कृत्य होकर, निराबाध-अव्याबाध सुख, सदा आनंद में रमण करती हुई मुक्ति में निवास करती है ॥५०४॥

अस्यावाच्योऽयमानन्दः, कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।
अयोगी न विजानाति, सम्यक् जात्यन्धवद् घटम् ॥५०५॥

अर्थ : इसका (मुक्तात्मा का) यह आनन्द अवाच्य होता है। कुमारी के स्त्री सुख की भांति और जाति-अन्ध के घट-पटादि की भांति अयोगी-छद्मस्थ व्यक्ति उसे सम्यक् तौर पर नहीं जान सकता ॥५०५॥

विवेचन : कर्मक्लेशों से मुक्त होने पर आत्मा को जिस आनन्द की उपलब्धि होती है; उस आनन्दानुभूति को हम शब्दों में अभिव्यक्त नहीं कर सकते। वाणी उसका वर्णन करने में असमर्थ है। साक्षात सरस्वती या सर्वज्ञ भगवान स्वयं आकर भी उस आनंद का वर्णन नहीं कर सकते। इसलिये इस आनन्द को अवाच्य कहा है। परन्तु बालजीवों को समझाने के लिये दो दृष्टान्त दिये हैं, जैसे कुमारी लड़की स्त्रियों के विषयसुख को जान नहीं सकती और जैसे जन्म से अन्धा व्यक्ति घट-पट आदि पदार्थों के आकार, रूप, रंग को देख नहीं सकता, वैसे ही अयोगी-छद्मस्थ व्यक्ति-साधारण व्यक्ति मुक्ति के इस सुख और आनन्द को जान नहीं सकता।

श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है :-

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो;
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो ॥२०॥

यह आनन्द अनुभूतिगम्य है शब्द गम्य नहीं ॥५०५॥

योगस्यैतत् फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।
आत्यन्तिकं परं ब्रह्म योगविद्भिरुदाहृतम् ॥५०६॥

अर्थ : योगवेत्ताओं ने योग के इस फल (आनन्दानुभूति) को मुख्य, एकान्तिक, अनुत्तर और आत्यन्तिक ब्रह्मस्वरूप कहा है ॥५०६॥

विवेचन : योग के तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से जानने वालों ने योग की इस आनन्दानुभूतिरूप फल को 'मुख्य' कहा है, औपचारिक नहीं, क्योंकि औपचारिक वस्तु स्थायी नहीं होती। दूसरा विशेषण 'एकान्तिक' बताया है याने यह अनुभुति एकान्त-निश्चित है, अनिश्चित नहीं। कर्मक्लेश रहित होने पर निश्चित ही उपलब्ध होती है उसमें सन्देह को स्थान नहीं। तीसरा विशेषण 'अनुत्तर' दिया है, अनुत्तर का अर्थ है कि इस फल के पश्चात् उत्तरफल कुछ भी नहीं रह जाता। चौथा विशेषण 'आत्यन्तिक' दिया है। यह भी उस निश्चित आनन्द को और दृढ़ करने के लिये दिया है याने इस

आनंद की उपलब्धि होने पर उसका कभी भी अन्त नहीं आता। और पांचवां 'ब्रह्मस्वरूप' विशेषण बताता है कि वह आनंद परमात्मा के दर्शन जैसा है, याने परमात्मा का साक्षात्कार जैसा है, परमात्मस्वरूप है ॥५०६॥

सद्गोचरादिसंशुद्धिरेषाऽऽलोच्येह धीधनैः ।
साध्वी चेत् प्रतिपत्तव्या, विद्वत्ताफलकाङ्क्षिभिः ॥५०७॥

अर्थ : बुद्धि ही है धन जिनका ऐसे तथा विद्वत्ताफल के आकांक्षी सज्जनों को, यह (योग) सद्गोचरादि संशुद्धि से युक्त है या नहीं उसका विवेकपूर्वक पर्यालोचन करना चाहिये। यदि वह (सद्गोचरादि की संशुद्धि-बुद्धिगम्य) संगत है तो उसे अंगीकार करना चाहिये ॥५०७॥

विवेचन : 'धी धनैः' और 'विद्वत्ताफलाकांक्षिभिः' ये दो विशेषण देकर ग्रंथकर्ता बुद्धिमान सज्जनों की और संकेत करते हैं कि जिनको बुद्धि ही सब से बड़ी सम्पत्ति लगती है और जो विद्वता के फल को चाहने वाले है, ऐसे बुद्धिजीवी सज्जनों को यह योग मार्ग सद्गोचर - तीर्थंकर, गणधर, केवली आदि महापुरुषों द्वारा उपदिष्ट आगमशास्त्रों का सम्यक् प्रकार से अभ्यास करके, सर्व द्रव्यरूप पदार्थों में द्रव्यार्थिकनय से जिसकी नित्यता और पर्यायार्थिकनय से पारिणामिकभाव की अनित्यता रही हुई है। उसका अनुभूत सत्य ज्ञान ही गोचरता कही जाती है। सर्वभोक्त न्याययुक्ति से पूर्ण, स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार शुद्ध ऐसी सद्गोचर संशुद्धि की विवेक पूर्वक बुद्धियुक्त परीक्षा कर लेनी चाहिये। सद्गोचरादिसंशुद्धि से तात्पर्य सत्-तत्त्व जो जिनश्वरोक्त हो और उसके ज्ञान से तथा योगाभ्यास से प्रास होने वाली संशुद्धि द्वारा मोक्ष सुख की तलाश कर लेनी चाहिये। और अगर वह मार्ग-रीति संगत-बुद्धिगम्य लगे तो उसको स्वीकार करना चाहिये।

ग्रंथकर्ता ने हमेशा मनुष्य के बुद्धि स्वातन्त्र्य पर जोर दिया है। वह चाहते हैं कि किसी भी तथ्य को हम पूर्ण रूप से तभी जीवन में दृढ़रूप से उतार सकते हैं, जो सर्वप्रथम हमारी बुद्धि की कसौटी पर खरा उतर चुका हो। बुद्धि-कसौटी पर खरा उतरने पर फिर उसे कोई भी शक्ति उखाड़ नहीं सकती ॥५०७॥

विद्वत्तायाः फलं नान्यत्, सद्योगाभ्यासतः परम् ।
तथा च शास्त्रसंसार, उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥५०८॥

अर्थ : विद्वत्ता का श्रेष्ठ फल सद्योग के अभ्यास के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। क्योंकि निर्मलबुद्धि महापुरुषों ने (बिना सद्योग के अभ्यास के) शास्त्र को भी (एक प्रकार का) संसार कहा है ॥५०८॥

विवेचन : कर्ममल क्षय होने से जिनकी बुद्धि निर्मल हो चुकी है, ऐसे केवलज्ञानी महापुरुषों

ने विद्वत्ता का अगर श्रेष्ठ उत्तमोत्तम फल कहा है तो वह सद्‌योग का अभ्यास है क्योंकि "ज्ञानस्य फलं विरतिः" वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान-बोध हो जाने से व्यक्ति में त्याग और वैराग्य की भावना बढ़ती है और वह संसार से विरक्त होकर अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता आदि योग के अभ्यास में अधिकाधिक प्रगतिशील होता है और अन्त में वृत्तियों के पूर्ण शुद्ध होने पर मोक्षरूप फल को पा लेता है। विद्वत्ता का दूसरा कोई फल नहीं। लेकिन विद्वान होकर, ज्ञानी होकर भी अगर त्याग और वैराग्य उसके जीवन में न आये, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता की ओर उसकी गति न हुई, तो उसके लिये शास्त्र जो मुक्ति का साधन है, संसार का हेतु सिद्ध होगा। अतः ज्ञान का फल तो विरति है और अगर ज्ञान से विरति नहीं आती तो वह ज्ञान हो, चाहे शास्त्र हो, उसे मन सागर से पार नहीं करवा सकता उल्टा उसे संसार में डूबाने का साधन सिद्ध होगा। कहा भी है :-

जहा खरो चन्दन भार वाही; भारस्स भागी नहु चन्दनस्य ।
एवं खु णाणी चरणेण हीनो, णाणस्स भागी नहु सुगइये ॥

जैसे गधा केवल चन्दन के भार का भागी बनता है, उस की सुगन्ध-खुशबू लेने से उसको कोई प्रयोजन-लाभ-अर्थ नहीं। इसी प्रकार आचरण बिना का ज्ञानी भी केवलज्ञान का बोझ ही उठाता है, ज्ञान से पैदा होने वाले आनंद का वह आस्वाद नहीं ले सकता। ग्रंथकर्ता ने बड़ी सुन्दर बात कह दी। आचरण सबसे उत्तम है। आचरण नहीं ऐसा ज्ञान तो गोदरेज की अलमारी में पड़े धन जैसा व्यर्थ है। जो ज्ञान अपने या किसी के भी उपयोग में नहीं आता वह व्यर्थ है बोझमात्र है ॥५०८॥

पुत्रदारादिसंसारः, पुंसां सम्मूढचेतसाम् ।
विदुषां शास्त्रसंसारः, सद्योगरहितात्मनाम् ॥५०९॥

अर्थ : मूढ़ चित्तवाले पुरुषों के लिये पुत्र, स्त्री आदि संसार है और सद्‌योगरहित विद्वानों को शास्त्र भी संसार है ॥५०९॥

विवेचन : ग्रंथकर्ता ने बड़ी सुन्दर और सत्य बात कही है। सच ही जैसे मूढ़ चित्त वाले अज्ञानी बालजीवों के लिये 'यह मेरा पुत्र है', 'अमुक मेरी स्त्री है', 'यह मेरा मित्र' और "यह मेरा शत्रु है", इस प्रकार का राग-द्वेष संसार का हेतु है। उसी प्रकार कोरे ज्ञान को, चाहे वह अनेक भाषा, व्याकरण, छन्द, काव्य, कोष, साहित्य, दर्शनशास्त्रों का अभ्यास करके पण्डित बन चुका हो, परन्तु अगर वह ज्ञान उसकी आत्मा को स्पर्श नहीं करता, उसने अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता आदि सद्‌योग का जीवन में अभ्यास नहीं किया और "ज्ञानस्य फलं विरतिः" उसके जीवन में त्याग-वैराग्य नहीं है, ऐसे सद्योग रहित कोरे ज्ञानी के लिये शास्त्र भी एक प्रकार का संसार ही है। क्योंकि ज्ञान को कोई विरला साधक ही पचा सकता है। ज्ञान प्राप्त करके, अगर अभिमान आता है कि

'मैं पण्डित', 'मैं शास्त्रज्ञ', 'मैं विद्वान', 'मैं सबको निरुत्तर कर सकता हूं', 'मेरे सामने कोई टिक नही सकता' तो उसका ज्ञान भव-भ्रमण का साधन है। कहा भी है :-

विद्या विवादाय धनं मदाय; शक्तिः परेषां परपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय, च रक्षणाय ॥

उसका शास्त्रज्ञान अभिमान, वादविवाद का हेतु होने से राग-द्वेष पैदा करता है और ऐसे ज्ञान को ज्ञानियों ने अज्ञान कहा है संसार का हेतु कहा है। क्योंकि राग-द्वेष-मोह ही संसार का बीज है अगर कोरा ज्ञानी शास्त्र को निमित्त बना कर, राग-द्वेष पैदा करता है तो शास्त्र उसके तिर जाने का साधन न होकर, डुब जाने का साधन सिद्ध होगा। जैसे अग्नि तो भोजन पकाने का साधन है, उससे उपकार भी होता है, परन्तु उसी आग को अगर द्वेषपूर्ण ढंग से उपयोग में लिया जाय तो घर को भी जला सकती है, वह नुकसान भी कर सकती है। ज्ञान तो साधन है उसका उपयोग कैसे करना वह व्यक्ति के अपने हाथ की चीज है। श्रेष्ठ अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि के बिना कोरा शास्त्रज्ञान भी एक प्रकार का संसार ही है। जैसे अज्ञानियों का स्त्री-पुत्र आदि संसार है वैसे ही कोरे विद्वान को शास्त्र भी संसार है, दोनों समान कोटि के हैं, दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है ॥५०९॥

कृतमत्र प्रसङ्गेन, प्रायेणोक्तं तु वाञ्छितम् ।
अनेनैवानुसारेण, विज्ञेयं शेषमन्यतः ॥५१०॥

अर्थ : अधिक कहने की यहाँ जरुरत नहीं है। कहने योग्य जो था वह प्रायः कह दिया है। शेष जो रह गया है वह अन्य योग-शास्त्रों से इसी नीति अनुसार ज्ञात कर लेना चाहिये ॥५१०॥

विवेचन : योगबिन्दु शास्त्र में ग्रंथकार ने योग सम्बंधी जरूरी जानकारी प्रायः अच्छी प्रकार से दे दी है। इससे अधिक जानकारी देने की आवश्यकता नही है। परन्तु फिर भी किसी साधक को इससे भी अधिक जानकारी की जरुरत हो, तो शेष जानकारी वह अन्य योगशास्त्रों से प्राप्त कर सकता है। परन्तु ध्यान रहे कि योगबिन्दु में जिस स्याद्वाद् सिद्धान्तानुसार वस्तु तत्त्व के स्वरूप का निरूपण किया है, वह जैन, जैनेतर सर्वशास्त्रों के साररूप में और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा को ध्यान में रखकर किया है। इसलिये इस शास्त्र में बताये हुये सम्यक् ज्ञान, नय, निक्षेप, और प्रमाण के अनुसार ही अन्य योग शास्त्रों से तत्त्व ग्रहण करना चाहिये। चाहे कहीं से भी तत्त्वग्रहण करे लेकिन अनेकान्तवाद सिद्धान्तानुसार ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि अनेकान्तदृष्टि सत्य को संपूर्ण रूप से जानने की दृष्टि है ॥५१०॥

एवं तु मूलशुद्ध्येह, योगभेदोपवर्णनम् ।
चारुमात्रादिसत्यपुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥५११॥

अर्थ : इस प्रकार मूलशुद्धि से ही यहाँ योग के भेदों का वर्णन किया है। जैसे शीलसंपन्न माता-पिता से उत्पन्न सुयोग्यपुत्र की विशेषताओं का वर्णन किया जाता है ॥५११॥

विवेचन : कारण शुद्ध हो तभी कार्य में शुद्धि आती है। इसीलिये इस योगबिन्दु ग्रंथ में सर्वप्रथम स्याद्वाद सिद्धान्तानुसार आत्मा को परिणामी स्वभाव वाला सिद्ध किया है। यही मूल शुद्धि है। और फिर गोचर, व्यवहार, निश्चय आदि नय, निक्षेप, प्रमाणों के अनुसार गोचरादिक की शुद्धि सिद्ध की है। इस प्रकार आत्मा, कर्म और उनके परस्पर सम्बंध में योग्यतारूप कारण, उस कारणरूप योग्यता से मुक्त होना, याने कर्म से मुक्त होना और सहज स्वरूप में आत्मा का शुद्ध ब्रह्मत्व आदि वस्तुओं का विचार करके, इस योगबिन्दु ग्रंथ में योग के अध्यात्म, भावना, ध्यान आदि भेदों को सप्रमाण सिद्ध किया है। जैसे माता-पिता की उच्च जाति, उच्च कुल और उच्च आचार, विचार, गुण, सौन्दर्य आदि विशेषतारूप कारण से ही नामांकित पुत्र के उच्च जाति, उच्च कुल पवित्र आचार, विचार, गुण सम्पत्ति और देह सौन्दर्य समझ में आता है, वैसे ही मोक्ष में ले जाने वाले योग में कारणों की शुद्धि ही परम्परा से शुद्धकार्य को जन्म देती है। याने मोक्षरूप कार्य में उपादानरूप आत्मा की पारिणामिकता की सिद्धिरूप शुद्धि और निमित्त कारणरूप अनुष्ठान-क्रियाओं की शुद्धि, अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता वृत्तिसंक्षय रूप योग की शुद्धि मोक्ष रूप योग की सिद्धि में हेतु होती है ॥५११॥

अन्यद् वान्ध्येयभेदोपवर्णनाकल्पमित्यतः ।
न मूलशुद्ध्यभावेन, भेदासाम्येऽपि वाचिके ॥५१२॥

अर्थ : उक्तयोग से भिन्न जो योग है, वचनमात्र से योग जैसा मालुम होता है परन्तु मूलशुद्धि के अभाव में वह वंध्यापुत्र की भेदकल्पना जैसा काल्पनिक है ॥५१२॥

विवेचन : योगबिन्दु ग्रंथ में स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार आत्मादि पदार्थों को कथंचिद् नित्य और परिणामी स्वभाव वाली मानी है, यही मूलशुद्धि है। इसी के आधार पर ही योग के विविध अनुष्ठानों के भेदों का वर्णन किया है। परन्तु इस योग से वेदान्त, महर्षि पतञ्जलि, कपिल, बौद्ध द्वारा उपदिष्ट योग भिन्न होने से, उस योग के भेद-प्रभेद के स्वरूप का वर्णन वंध्या पुत्र के रूप, रंग, आकार, गुण वर्णन जैसा काल्पनिक है, सत्य नहीं। जब वंध्या को पुत्र ही नहीं तो रूप-रंग का वर्णन कैसा? इस योग से अन्य योग में जब मूल ही शुद्ध नहीं तो उनके योग सम्बंधी भेद-प्रभेदों का वर्णन निरर्थक है, क्योंकि केवल शब्दसाम्य से क्या होगा ? अतः उनके कथनानुसार करने से आत्मा मोक्षमार्गरूप योग में प्रवृत्ति नहीं कर सकता। कारण यह है कि उसमें आत्मादि को परिणामी नहीं माना और गोचरादिक-ज्ञान-ज्ञेय के तत्त्व का पारमार्थिक ज्ञान नहीं, श्रद्धापूर्वक यथार्थ विचारणा नहीं है। वस्तुस्वरूप को समझे बिना ही उसका वर्णन किया है। न तो अन्ययोग

में मूलशुद्धि है, न सिद्धान्तशुद्धि है और न आचार से अन्तःकरण की शुद्धि है। इसलिये स्याद्वाद सिद्धान्त के अनुसार जो शुद्धयोग है वही वास्तविक योग है ॥५१२॥

यथेह पुरुषाद्वैते, बद्धमुक्ताविशेषतः ।
तदन्याऽभावनादेव, तद् द्वैतेऽपि निरूप्यताम् ॥५१३॥

अर्थ : पुरुषाद्वैतवाद में जैसे अन्य (कर्म के) के अभाव से यहाँ बंधत्व और मोक्षत्व समान है, द्वैतावाद में भी वही है ॥५१३॥

विवेचन : वेदान्तोक्त अद्वैतवादी मानते है कि 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' जगत में जो भी दिखाई देता है, भूत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बंधी वह एकपुरुष-आत्मा ही है, उससे अन्य किसी की भी सत्ता नहीं। 'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या' ऐसे वेदवचनों से वेदान्ती अद्वैतवाद को स्वीकार करते हैं। एक अद्वैतवाद को स्वीकार करने से तदन्य आत्मा से अन्य कर्म का अभाव सिद्ध होता है, जब कर्म का ही अभाव हो तो मुक्त किससे होगा ? मोक्ष किस का होगा ? क्योंकि 'बंधाभावे कस्य मुक्तिः' और कर्म ही नहीं तो बंध किसका ? इस प्रकार अद्वैतवाद में बंधत्व और मोक्षत्व समान हुआ। जब उनके सिद्धान्तानुसार बंध और मोक्ष ही सिद्ध नहीं होता तो बंधत्व से मुक्त होने के लिये उनकी योगशास्त्र सम्बंधी चर्चा, उसमें आध्यात्मिक भेद-प्रभेद की कल्पना करना, अनुष्ठानों का विधान करना वंध्यापुत्र की जाति, कुल, रूप, रंग, लावण्य के वर्णन जैसा कल्पनिक है, वास्तविक नहीं हो सकता। इसी प्रकार द्वैतवाद में भी बंध और मोक्ष की समानतारूप दोषापत्ति उपस्थित होती है।

अर्थात् तदन्य-वेदान्तियों से बिल्कुल अन्य अभाववाद को स्वीकार करने वाले बौद्ध याने आत्मा का ही अभाव मानने वाले बौद्धों को भी यही दोष - बंध और मोक्ष की समानतारूप दोष - लागु पड़ता है क्योंकि आत्मा ही नहीं तो कर्म किसको लगेंगे और मुक्त कौन होगा ? और इस प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट योगमार्ग भी कल्पना मात्र रह जायेगा क्योंकि 'मूल नास्ति कुतः शाख' ॥५१३॥

अंशावतार एकस्य, कुत एकत्वहानितः ।
निरंश एक इत्युक्तः, स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥५१४॥

अर्थ : एक का अंशावतार कैसे हो सकता है ? (क्योंकि) अद्वैतवादी आत्मा को एक निरंश-अखण्ड मानते हैं (ऐसे तो उनके) एकत्व की हानि है ॥५१४॥

विवेचन : अगर आत्मा एक ही है तो उसके अंश-अंश का अनेक शरीरों में अवतार संभव कैसे हो सकता है ? क्योंकि अद्वैतवाद की मान्यता है कि जिसमें निरंशता है अर्थात् जिसके अवयव

नहीं हो सकते वही एक कहा जाता है। वह आत्मा को एक और अखण्ड मानते हैं। तो उनके पुरुष में अनेक अवयवरूप अंश कहाँ से आये ? याने वह एक आत्मा अनेक शरीरों में राजा-रंक, पुरुष-स्त्री, चोर-साहुकार, आर्य-अनार्य, तारक-मार ऐसी एक-दूसरे से बिल्कुल विरुद्ध प्रकृतियों और प्रवृत्तियों को कैसे धारण करता है। एक अंश शिव-देव रूप में, एक अंश त्रिपुरासुर रूप में और एक अंश कंस रूप में एकसाथ ऐसे विरुद्ध अवतारों को कैसे एक आत्मा धारण कर सकता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता। अगर ऐसा होता है तो 'एकैव ब्रह्म' तुम्हारे इस सिद्धान्त की ही हानि नाश हो जाता है। क्योंकि एकत्व ही अद्वैतवाद सिद्धान्त को प्रकट करता है ॥५१४॥

मुक्तांशत्वे विकारित्वमंशानां नोपपद्यते ।
तेषां चेहाविकारित्वे, सन्नीत्या मुक्ततांऽशिनः ॥५१५॥

अर्थ : मुक्त का अंश मानने पर अंशों का विकारीभाव घटित होता नहीं, उनका अविकारीभाव तो यहाँ न्याययुक्ति से सिद्ध है, क्योंकि अंश का मुक्त के साथ अभिन्नभाव सम्बंध है ॥५१५॥

विवेचन : अगर आप ऐसा मानते है कि यह जगत परमब्रह्म का ही अंश रूप है तो (संसार में अवतीर्ण होने वाले उस मुक्त परमब्रह्म के) उन अंशों का विकारी-भाव घटित नहीं होता क्योंकि ब्रह्म तो निर्विकारी, परमशुद्ध, राग-द्वेष से रहित है और संसारी प्राणी तो विकारी, अशुद्ध और राग-द्वेष से युक्त है। ब्रह्म शुद्ध है, तो उनके अंश भी शुद्ध ही होने चाहिये, अविकारी होने चाहिये, विकारी नहीं, क्योंकि अविकारीभाव तो युक्तिसिद्ध है, स्पष्ट है। वस्तु जैसी होती है उसके अंश भी वैसे ही होते हैं, इसलिये ब्रह्म शुद्ध हैं तो उसके अंश भी शुद्ध ही होने चाहिये। क्योंकि मुक्तात्मा और उसके अंश एक ही हैं अभिन्न हैं, भिन्न नहीं। अतः यह अंशावतार भी तुम्हारा घटित नहीं होता। क्योंकि संसारी और मुक्तपरमब्रह्म में भेदरेखा स्पष्ट दिखाई देती है ॥५१५॥

समुद्रोर्मिसमत्वं च, यदंशानां प्रकल्प्यते ।
न हि तद्‌भेदकाभावे, सम्यग्युक्त्योपपद्यते ॥५१६॥

अर्थ : अंशों को समुद्र की उर्मियों के समान समझते हो तो वह भी भेदकाभाव (भेदक का अभाव) के कारण सम्यक् युक्ति से सिद्ध नहीं होता ॥५१६॥

विवेचन : जैसे समुद्र की तरंगें समुद्र से भिन्न नहीं, समुद्ररूप ही है। वैसे ही परमब्रह्म के अंश परमब्रह्मरूप ही है, उससे भिन्न नहीं। जैसे पट-वस्त्र के तन्तुरूप अंश वस्त्र से भिन्न नहीं पट रूप ही होते है। परन्तु अद्वैतवादी परमब्रह्म के अंशों को जिस स्वरूप में मानते हैं, वैसा स्वरूप तो आत्मा रूप परमब्रह्म में नहीं हो सकता क्योंकि अनेक शरीरों में ब्रह्म के भिन्न-भिन्न अंशों की

कल्पना युक्तियुक्त नहीं है। ब्रह्म को वे एक-अद्वैत कहते हैं, तो परमशुद्ध ब्रह्म, अपरब्रह्म जो माया के संसर्ग से युक्त है वे परस्पर विरुद्ध कार्य करने वाले हैं, तो एक ब्रह्मांश अन्य ब्रह्मांश के साथ शत्रुता क्यों रखता है ? समुद्र में तो समुद्र और तरंग को भिन्न करने वाला वायुरूप भेदक निमित्त विद्यमान है। वायु के कारण ही तरंगें समुद्र से अलग दिखाई देती है परन्तु अद्वैतवाद में मुक्त परम ब्रह्म में तो क्लिष्टवृत्तिरूप भेदक कारण का अभाव होने से उसका अनेक प्रकार का अंशत्व सिद्ध नहीं होता ॥५१६॥

सदाद्यमत्र हेतुः स्यात्, तात्त्विके भेद एव हि ।
प्रागभावादिसंसिद्धेर्न सर्वथाऽन्यथा त्रयम् ॥५१७॥

अर्थ : सद् अंश और भेदकरूप हेतु को तात्त्विक मानने पर ही प्रागभावादि भेद की सिद्धि होती है अन्यथा (प्रागभावादि की सिद्धि बिना) ये तीन सर्वथा सिद्ध नहीं हो सकते ॥५१७॥

विवेचन : शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा से अखिल जगत सामान्यरूप से सद्तत्त्वरूप होने से एक आद्यन्तरहित तत्त्व है। ऐसा मानने से अन्य का अभाव होता है। उसकी सिद्धि के लिये तीन हेतु माने जाते हैं; उसमें दो वस्तु मेघ है और माया – एक दूसरी से अलग होती है और तीसरी भेदक है। तात्त्विकरूप से सद् आत्मा मेघ-मायादि अंश और भेदक सत् की क्रिया, इन तीनों की विद्यमानता तात्त्विक होने पर ही भेद सिद्ध होते हैं। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से भेद होता है। याने वस्तुओं में द्रव्यत्वरूप से नित्यत्व होने पर, पर्यायिकभाव से अनित्य होने पर भी उसका अंश से अभाव भी संभव है। चार प्रकार के अभाव में से कोई भी अभाव हो सकता है प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योऽन्याभाव और अत्यन्ताभाव, ऐसे चार प्रकार के अभाव की विद्यमानता या अविद्यमानता से ही वस्तुस्वरूप की सिद्धि होती है अगर ऐसा न माने तो एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य मानने से दोष आता है और प्रागभावादि की सिद्धि नहीं होती। सत्त्व, अंश और भेदकरूप पारिणामिकता इन तीनों की विद्यमानता के बिना, अभावों की सिद्धि संभव नहीं है। क्योंकि दूध में दही का अभाव प्रागभाव कहा जाता है। अग्नि से दूध जल जाय वह उसका प्रध्वंसाभाव होता है। घोड़े में गाय नहीं और गाय में घोड़ा नहीं वह अन्योऽन्याभाव है। शशश्रृंगाविरूप-वंध्यापुत्रादिरूप अत्यन्ताभाव है।

प्रागभावादि की अपेक्षा से सद्वस्तु, उसके अंश-अवयव, भेदक हेतुरूप पर्याय जो पूर्व में कह चुके हैं वे सब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से होते हैं। अगर उसे न स्वीकारे तो सर्व चेतन-अचेतनरूप जगत सामान्य सत्तामय एकरूप में ही मानना पड़ेगा। इसलिये समुद्र में उर्मियाँ पैदा होती हैं उसी में समा जाती हैं। उसी प्रकार परमब्रह्मस्वरूप आत्मा के अंशों के साथ समानता की जो अद्वैतकल्पना है वह योग्य नहीं है, क्योंकि समुद्र में वायुविकार की अपेक्षा से तरंग होती

है तो सद् विद्यमान समुद्र उर्मिरूप अंश, उसका भेदक वायु उसका सम्बंध होना हेतु कहा जाता है। ऐसे ही प्रागभावादि घटित होते हैं ॥५१७॥

सत्त्वाद्यभेद एकान्ताद् यदि तद्भेददर्शनम् ।
भिन्नार्थमसदेवेति, तद्वदद्वैतदर्शनम् ॥५१८॥

अर्थ : यदि सत्त्वादि एकान्तरूप से अभिन्न हो; तो भेद-दर्शन कैसे घटित होगा ? क्योंकि भिन्न-भिन्न अर्थ-पर्याय अद्वैत दर्शन में मिथ्या सिद्ध होते हैं ॥५१८॥

विवेचन : सत्व-सद् विद्यमान पदार्थ आत्मा आदि में अंश-विभाग देश, काल, भाव की अपेक्षा से अनुभूत अंश-प्रदेश हैं और परिणाम-पर्याय तथा भेदरूप कारण इन तीनों को सत्त्व में अभेदभाव से माने तो आदिरूप से कहा गया सत्त्वरूप एक ही मानना पड़ेगा और वह भी एकान्तरूप से, अप्रचलित रूप से, रहता है ऐसा कहना पड़ेगा। इस प्रकार एकान्त अभेद मानने से उसमें अनेक अंशरूप भेददर्शन कैसे हो सकता है ? याने सत्त्व, उसके अंश और उसके भेदक हेतुओं का अनुभव कैसे हो सकता है ? क्योंकि एक-अद्वैत-अभेदवस्तु में भिन्न-भिन्न अर्थ-पर्यायों की स्थिति कैसे संभव है ? नहीं हो सकती, वह असत्य है। लोक में भी जब एक चन्द्र का उदय दिखाई देता है तब कोई ऐसा कहे कि 'यह दो चन्द्र हैं', तो उसे तुम भ्रांत व्यक्ति ही मानोगे। उसी प्रकार एक सद् अद्वैत में अनेक परिणाम, अनेकरूप मानना भी एक भ्रांति मात्र ही है। इसलिये अद्वैतवादी वेदान्तियों के सिद्धान्तानुसार कहे हुये वचन युक्तिहीन सर्वथा असंगत है। क्योंकि जिन वस्तुओं के जो—जो स्वरूप कभी भी होने वाले नहीं, हुये नहीं और न है, जो वस्तु त्रिकालवर्ती नहीं वह स्वप्न में भी कभी नहीं आती। क्योंकि स्वप्न में भी उसी वस्तु का अनुभव दर्शन होता है जो भूतपूर्व में देखी, सुनी या अनुभवी हो। अतः सभी विद्यमान वस्तुओं का ही अनुभव होता है। क्योंकि भिन्न-भिन्न अर्थ-पर्याय अद्वैतदर्शन में असद्-अविद्यमान है। असत् अविद्यमान वस्तु की स्वीकृति से अद्वैत सिद्धान्त स्वयं ही खण्डित हो जाता है। जो एक हो, सद् हो वह अद्वैत होता है अन्यथा वह स्वयं ही नष्ट हो जाता है। अद्वैत में भी भिन्नता का दर्शन अगर तुम करते हो तो तुम्हारा अद्वैतसिद्धान्त कैसे अद्वैत रह सकता है ? ॥५१८॥

यदा नार्थान्तरं तत्त्वं, विद्यते किञ्चिदात्मनाम् ।
मालिन्यकारि तत्त्वेन, न तदा बन्धसम्भवः ॥५१९॥

अर्थ : जब आत्मा से भिन्न (आत्मा को) मलिन करने वाला कोई तत्त्व (कर्म नामक तत्त्व) वस्तुतः ही विद्यमान नहीं तो बंध भी संभव नहीं ॥५१९॥

विवेचन : जब आत्मा-ब्रह्म एक ही सद् तत्त्व हो और उससे अन्य कर्म नाम की कोई

भी वस्तु विद्यमान न हो, तो जीव के स्वरूप को मलिन करने वाले और जीवों को नरक, तिर्यञ्च आदि चौरासी लाख जीव योनि में भ्रमण करवाने वाले कर्म-मायारूप तत्त्व का अभाव सिद्ध होता है। आत्मा को माया, कर्म, प्रकृति मलिन करती है, ऐसा जो कहा जाता है वे सब मिथ्या कल्पनामात्र सिद्ध होते हैं। अगर कर्म तत्त्व काल्पनिक या मिथ्या हो तो जीव को कर्मों का बंध भी संभव नहीं हो सकता। कारण बिना कार्य होता नहीं। कर्म न हो तो बंध किसका हो ? इस प्रकार बंध का अभाव प्राप्त होता है। अद्वैतवादियों की भाँति यही दोष क्षणिकवादी बौद्धों को भी लागु होता है। क्योंकि आत्मा क्षणिक जीवी होने से अन्यकर्मादिक का बंध घटित होता नहीं यह पूर्व में सिद्ध कर चुके हैं। अतः एकान्त अद्वैत् व एकान्त द्वैत, एकान्तनित्य और एकान्त अनित्य क्षणिकवाद का स्वीकार करने से वस्तु तत्त्व की यथार्थसिद्धि नहीं होती ॥५१९॥

असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिर्बन्धाभावनिबन्धना ।
मुक्तमुक्तिर्न यन्न्याय्या, भावेऽस्यातिप्रसङ्गिता ॥५२०॥

अर्थ : बंध न हो; तो बंधाभावरूप मुक्ति कैसे हो ? मुक्त की मुक्ति का न्याय उचित नहीं, क्योंकि मुक्त की मुक्ति में अतिव्याप्ति दोष है ॥५२०॥

विवेचन : अगर आत्मा को कर्म का बंध नहीं होगा तो मुक्ति कैसे होगी ? क्योंकि बंधन का अभाव ही तो मुक्ति है। बंध हो तो मुक्ति हो। बंध के अभाव में वह किससे मुक्त होगा? एकान्तनित्यवादी, अद्वैतवादी, द्वैतवादी, क्षणिकवादी, एकान्त अनित्यवादियों ने कर्मदल को कल्पित माया स्वरूप माना है वे मानते है 'ब्रह्म सत्यं जगत्मिथ्या' एक ब्रह्म ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है। अगर ब्रह्म के अंशरूप आत्मा से अन्य सर्व कर्म आदि को कल्पित माने, वास्तविक न माने तो कर्मबंध का अभाव प्राप्त होता है। यदि बंध का ही अभाव है तो "अबंधस्य कुतो मुक्तिः"। कर्मबंधों से छुटने के लिये तप, जप, ध्यान, अनुष्ठान आदि बंध मोक्ष के सर्व क्रियाकलाप व्यर्थ होंगे। क्योंकि मुक्त की मुक्ति न्यायविरुद्ध है। उसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण, नय और निक्षेप पूर्वक विचार करते हुये एकान्त मत प्रमाण से कोई न्याय उचित घटित होता नहीं और अतिव्याप्ति, असंभव आदि दोषों की आपत्ति आती है। अतः कर्म को कल्पित मानना उचित नहीं ॥५२०॥

कल्पितादन्यतो बंन्धो, न जातु स्यादकल्पितः ।
कल्पितश्चेत् ततश्चिन्त्यो, ननु मुक्तिरकल्पिता ॥५२१॥

अर्थ : कल्पित कर्म से अकल्पित-वास्तविकबंध कभी नहीं हो सकता; यदि बंध को कल्पित माने, तो उससे (कल्पित बंध से) अकल्पित-वास्तविक मुक्ति कैसे हो सकती है ? ॥५२१॥

विवेचन : कर्म, प्रकृति, माया, वासना आदि को अगर आप लोग कल्पनामात्र मानते है

तो उस काल्पनिक वस्तु से वास्तविक बंध असंभव है — कभी नहीं हो सकता। परन्तु आप अगर बंध को भी कर्म की भाँति काल्पनिक ही समझते है तो फिर काल्पनिक बंधन से वास्तविक मुक्ति कैसे हो सकती है ? कर्म को काल्पनिक मानने से बंध-मोक्ष की सारी व्यवस्था तप, जप, ध्यान, साधना, अनुष्ठान आदि सब व्यर्थ सिद्ध होते हैं। जब कर्म और उसका बंध ही केवल कल्पना का विषय है तो फिर आकाशकुसुम, शशकश्रृंग, वंध्यापुत्र की कल्पना के समान मुक्ति भी कल्पना का विषय हुई। आप का एकान्त सिद्धान्त किसी भी तत्त्व को यथार्थ प्रकट नहीं कर सकता। इसलिये इस सम्बंध में विचार करने योग्य है, तुम्हारे मतानुसार बंध-मोक्ष घटित नहीं होता ॥५२१॥

नान्यतोऽपि तथाभावादृते तेषां भवादिकम् ।
ततः किं केवलानां तु ननु हेतुसमत्वतः ॥५२२॥

अर्थ : अन्य-कर्म होने पर भी तथाभाव (आत्मा को नित्य- और परिणामी) माने बिना उनका (आत्माओं का) भवादिक (बंध-मोक्ष व्यवस्था) घटित नहीं होता। (यदि कहो कि) उससे केवलाद्वैतवादियों को क्या ? तो हेतु समान है ॥५२२॥

विवेचन : तथाभाव-आत्मा को नित्य और परिणामी मानता है। अद्वैत पण्डितों को विचार करना चाहिये कि यदि संसार में रहने वाले जीव अपरिणामी हों, तो उनके भव परम्परारूप पर्याय कैसे संभव हो सकते हैं ? यदि तुम ऐसा कहो कि आत्मा अपरिणामी होने पर भी संसारी आत्मा को प्रारब्धयोग से एक भव से दूसरे भव में गमन होता है। इस प्रकार आत्मा और कर्म का सम्बंध सिद्ध करने पर भी हम अद्वैतवादियों को पूछते हैं कि एकभव से दूसरे भव में गमन करते हुये जीव के परिणामी स्वभाव को तुम कैसे रोक सकते हो ? अर्थात् नहीं रोक सकते। इसलिये जीवों का परिणामी स्वभाव होने से ही नये-नये परिणामों को धारण करता हुआ जीव एक भव से दूसरे भव में परिणाम-पर्याय को धारण कर सकता है। परन्तु केवलाद्वैतवादियों को एक ब्रह्म परमात्मरूप आत्मस्वरूप का एकान्त अपरिणामी स्वभाव मानने से भवपरम्परा और मोक्ष कैसे घटित हो ? क्योंकि हेतु अपरिणामीत्व समान है। और बौद्धों को भी आत्मादि द्रव्य क्षणिक होने से परिणामीत्व का अभाव है। इसी प्रकार शुद्धाद्वैत केवलाद्वैतवादियों के मत में आत्मादि अपरिणामी मानने से भवपरम्परा की असिद्धि में अपरिणामित्वरूप हेतु समान रहे हुये हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे बौद्धलोग आत्मा को क्षणिकजीवी मानते हैं, उनको अन्य परिणाम रूप पर्याय होने में हेतु का अभाव सिद्ध है। उसी प्रकार शुद्धाद्वैत वेदान्तियों को एकान्त नित्य अविचलित कूटस्थ स्वभावी आत्मा मान्य होने से परिणामित्व का अभाव है। इसी कारण से उनके मत में भी ब्रह्म स्वरूप आत्मा को भव परम्परा में हेतु का अभाव बौद्धों की भांति प्राप्त होता है। अतः आत्मा को परिणामी स्वभाव वाली माने बिना बंध-मोक्ष व्यवस्था घटित नहीं होती। दोनों में हेतु समान होने से दोनों में समान दोष आते हैं।

अथवा

बौद्धोक्त मतानुसार तथाभाव आत्मा को नित्य और परिणामी माने बिना भवादिक बंध-मोक्ष व्यवस्था घटित नहीं होती। इस पर अद्वैतवादी कहते हैं कि इससे केवलाद्वैतवादियों को क्या है ? तो उत्तर देते हैं कि हेतु-अपरिणामित्वरूप हेतु दोनों क्षणिकवादि बौद्धों में और केवलाद्वैतवादियों में समान है, इसलिये दोनों मतों में एकान्तमत प्रमाण रूप मानने से बंधमोक्ष व्यवस्था घटित नहीं होतीं।

भाव यह है कि आत्मा और कर्म को मानने पर भी आत्मा का जब तक परिणामी स्वभाव स्वीकार नहीं करते तब तक बंध और मोक्ष की व्यवस्था उचित नहीं बैठती। परिणामी मानने पर ही ठीक व्यवस्था होती है ॥५२२॥

मुक्तस्येव तथाभावकल्पना यन्निरर्थका ।
स्यादस्यां प्रभवन्त्यां तु, बीजादेवाङ्कुरोदयः ॥५२३॥

अर्थ : मुक्त के लिये तथाभाव की कल्पना निरर्थक है (क्योंकि) इसके (तथाभाव के) होने पर ही बीज से अंकुर का उदय होता है ॥५२३॥

विवेचन : जो आत्मा सर्व कर्म विकारों से मुक्त हो चुकी है उसके लिये तथाभाव-आत्मा का नित्य और परिणामी स्वरूप कल्पना व्यर्थ है। क्योंकि कर्मसम्बंध होने पर ही आत्मा अपने नित्य और परिणामी स्वरूप से संसार में रहती है। संसारी जीवों का संसार में रहने का मुख्य हेतु तथाभाव को माना है। परन्तु संसार में जैसे बीज के होने पर ही अंकुर उगते हैं, पत्थर में से अंकुर पैदा नहीं हो सकते, उसी प्रकार कर्मरूप बीज हो तो ही अकुंररूप संसार हो सकता है, परन्तु जिनके कर्मबीज समूल नष्ट हो चुके है वैसी मुक्तात्मा को उनको अंकुररूप जन्म-मरणरूप संसार भ्रमण की कल्पना निरर्थक है। इसलिये कर्म का संयोग होने पर ही आत्मा की तथाभाव कल्पना सार्थक हो सकती है। लेकिन मुक्त होने पर कर्म ही नहीं तो तथाभाव की कल्पना क्या फल ला सकती है ? तथाभाव कल्पना=भव-परम्परा के कारण की कल्पना ॥५२३॥

एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतैः ।
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्यं स्वयमेव तु ॥५२४॥

अर्थ : आत्महित में प्रयत्नशील शास्त्रवेत्ताओं को यहाँ (योगसम्बंध में) तटस्थवृत्ति का आश्रय लेकर वस्तुतः स्वयं ही तत्त्व की गवेषणा-पर्यालोचना कर लेनी चाहिये ॥५२४॥

विवेचन : ग्रंथकार ने योगबिन्दु ग्रंथ में सभी दर्शनों-वेदान्त, सांख्य, बौद्ध, जैन, मीमांसक,

वैशेषिक और नैयायिकों की मान्यताएँ अर्थात् आत्मा, कर्म, लोक-परलोक सम्बंधी तथा योग सम्बंधी भिन्न-भिन्न वर्गों की विचारधाराएँ तटस्थ भाव से अभिव्यक्त की है, खोल कर स्पष्ट रखी है। ग्रंथकार को किसी भी मत या पक्ष के प्रति कदाग्रह या हठ नहीं है। ग्रंथकार ने कितना सुन्दर कहा है कि जो आत्मा के हित के लिये सदा प्रयत्नशील हैं, और जो सभी शास्त्रों के तत्त्वों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं, उनको मध्यस्थवृत्ति का आश्रय लेकर स्वयं ही तत्त्व की गवेषणा करनी चाहिये। स्वयं ही परीक्षा करनी चाहिये कि इन सभी मान्यताओं में से कौन सी मान्यता आत्मा को मोक्ष के समीप ले जाने वाली है। ग्रंथकार ने हमेशा बुद्धि स्वातन्त्र्य पर जोर दिया है। इस ग्रंथ के आदि, मध्य और अब अन्त में भी वे यही कहना चाहते हैं कि कोई भी वस्तु, तत्त्व, सिद्धान्त किसी पर लादा-थोपा नहीं जाना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति के बुद्धि के द्वार खुले हैं। सभी को बुद्धि की कसौटी से कसकर ही कोई भी तत्त्व ग्रहण करना चाहिये। 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' नहीं चलता। इस ग्रंथ में भी ग्रंथकार ने सभी दर्शनों की अलग-अलग मान्याताएँ उपस्थित की है, उसमें से बुद्धिशील आत्मार्थी को स्वयं ही तत्त्व की अन्वेषणा करनी चाहिये। ऐसी सलाह ग्रंथकार ने सब को दी है। उनकी यह दिग्दर्शन-कथन कितनी उदारता और विशालता का दर्शन है ॥५२४॥

आत्मीयः परकीयो वा, कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु, युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥५२५॥

अर्थ : विद्वानों के लिये कौन सा सिद्धान्त अपना या कौन सा पराया ? जो दृष्टेष्टाबाधित हो; उसको ग्रहण करना चाहिये ॥५२५॥

विवेचन : जिन्होंने सर्वशास्त्रों का अवगाहन किया है, ज्ञान को जिन्होंने सच्चे अर्थ में समझा है, ऐसे विद्वान पण्डितों को अपना और पराये का भेद नहीं होता। वे विशाल और उदार चित्तवाले होते हैं। संकुचित मनोवृत्ति वाले वे ही लोग होते हैं जो अज्ञानी होते हैं। वे लोग ही यह सिद्धान्त अपना है इसलिये ग्राह्य है, और अमुक सिद्धान्त पराया - शैव, बौद्ध और मीमांसकों का है इसलिये अग्राह्य है — ऐसी तुच्छ संकुचित मनोवृत्ति रखते हैं। परन्तु जो ज्ञानी है उसे अपना और पराये का कोई भेद नहीं होता। वह तो उसी सिद्धान्त को अपना कहता है, उसी को मानता है, जो दृष्ट-प्रत्यक्ष प्रमाणादि से सत्य के समीप हो और जो इष्टाबाधित अर्थात् इष्ट-मोक्ष के लिये जो बाधारूप न हो उसे ही ग्रहण करते हैं। क्योंकि 'युक्तिमत् वचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह', और 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्', विद्वान सतत् सत्य के ग्राही है। जो तत्त्व दृष्ट और इष्टाबाधित हो उसे ही ग्रहण करना चाहिये, ऐसा कह कर ग्रंथ कर्ता ने सारा बोझ विद्वानों के कंधो पर डाल दिया है और स्वयं निर्लेप और अनासक्त योगी बनकर, केवल दर्शक मात्र रह गये है। कितनी निस्पृहता ? ॥५२५॥

स्वल्पमत्यनुकम्पायै, योगशास्त्रमहार्णवात् ।
आचार्यहरिभद्रेण, योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥५२६॥

अर्थ : आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने स्वल्पमति-बालजीवों पर दया लाकर योगशास्त्र रूपी महासमुद्र में से यह योगबिन्दु शास्त्र उद्धृत-प्रकट किया है ॥५२६॥

विवेचन : संसार के अल्पमति भव्य बालजीवों के लिये योगशास्त्र रूपी समुद्र का अवगाहन करना अशक्य है। उनमें इतनी शक्ति-सामर्थ्य नहीं कि वे इतने बड़े योगशास्त्र रूपी समुद्र में डुबकी लगाकर, योग का आनन्द प्राप्त कर सके क्योंकि उनकी मति अति अल्प है। इसलिये ऐसे मुमुक्षु भव्यात्माओं के लिये, दिल में अत्यन्त करुणाभाव लाकर, परम कृपालु भगवान श्रीहरिभद्रसूरिजी ने अनेक योगशास्त्रों रूपी समुद्र का अवगाहन करके उनमें से अच्छे-अच्छे पारमार्थिक वचनरूप बिन्दुओं को इकट्ठा करके, यह योगबिन्दु नामक शास्त्र तैयार किया है-उनमें से उद्धृत किया है। जिससे अल्पमति बालजीवों को भी योग का लाभ उपलब्ध हो सकें, वे भी योग को सुगमता से समझ कर जीवन में योग को स्थान दे सकें। उनके लाभ के लिये यह योगबिन्दु ग्रंथ तैयार किया है ॥५२६॥

समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं, यदेन शुभयोगतः ।
भवान्ध्यविरहात् तेन, जनः स्ताद्योगलोचनः ॥५२७॥

अर्थ : शुभयोग से (योगबिन्दु को) उद्धृत करके मैं ने (हरिभद्रसूरीजी ने) जो यह पुण्य अर्जित किया है उससे (पुण्यप्रताप से) भवरूपी अन्धकार से मुक्त होकर लोग योग रूपी लोचन वाले हों !

विवेचन : 'योगबिन्दु' शास्त्र की पूर्णाहुति में आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी आशीर्वादरूप हार्दिक शुभेच्छा प्रकट करते हैं कि योगरूपी अगाध और अथाह समुद्र का अवगाहन करके मन, वचन और काया के शुभयोगों से मैंने जो शुभ-पुण्यानुबंधी पुण्य उपार्जित किया है अर्थात् योगबिन्दु की रचना करने से मुझे जो भी पुण्य मिले, उसके बदले में या उसके परिणाम स्वरूप मैं यही चाहता हूँ कि इस शास्त्र के अध्येता, आत्मकल्याण इच्छुक, मुमुक्षु, भाविकलोग राग, द्वेष, मोह, विषय, कषायरूप, अन्धकार जो संसार का बीजभूत है उससे मुक्त होकर, योगरूपी लोचन वाले हों तात्पर्य यह है कि वे संसार से उपर उठें और योगरूपी दिव्यदृष्टि उन्हें प्राप्त हो। आनन्दघनजी ने कहा है:-

चर्म नयनकरी मार्ग जोवता रे; भूल्यो सयल संसार ।
जेने नयने करी मार्ग जोइए रे; नयन ते दिव्य विचार ॥
वस्तु विचारे रे दिव्यनयनतणो रे विरह पडयो निरधार ।
पथंड़ो निहालु रे बीजा जिन तणो रे ॥

योग की दिव्यदृष्टि का विरह होने से ही मनुष्य संसार में भटकता है, दुःख भोगता है। इसलिये आचार्यश्री भव्य प्राणियों के लिये योग की ऐसी दिव्यदृष्टि की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि "परोपकाराय सत्तां विभूतयः", "जगा च कल्याणा संताची विभूति"। जगत कल्याण की कामना ही सन्तों की परम विभूति है। कितने समदर्शी, सर्वधर्म समन्वयी, उदार और सत्यान्वेषी सन्त है। शतशः वन्दन हो ऐसे महान् आचार्यश्री को।

देह छतां जेहनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां, हो वन्दन अगणीत ॥ (आत्मसिद्धि-श्रीमद् राजचंद्र)

देहसहित होते हुये भी जिनकी दशा देहातीत वर्तित होती है, ऐसे ज्ञानियों के चरणों में मेरे अगणित वंदन हों ॥५२७॥

★★★

अनुवादक

दिल्ली स्थित विजय वल्लभस्मारक की प्रणेता एवं कांगड़ा तीर्थोद्धारक, जैनभारती महत्तरा साध्वी मृगावतीश्रीजी महाराज की सुशिष्या सुव्रताश्रीजी ने आचार्य हरिभद्रसूरिजी के अत्यन्त किलष्ट ग्रंथ योगबिन्दु का हिन्दी भाषा में सरल व सुबोध शैली में अनुवाद किया है। साध्वीश्री विगत पाँच दशकों से जैनाचार का सुदृढ पालन कर रही हैं। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, पंजाबी आदि भाषाएँ जानती है तथा पंडित बेचरदास दोशी के प्राकृत मार्गोपदेशिका का हिन्दी अनुवाद किया है जो सर्वत्र सम्माननीय बना है। उनका अभी अन्य ग्रंथों पर भी संशोधन कार्य चल रहा है।

संपादक

लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर के निदेशक प्रो. जितेन्द्र बी. शाह भारतीय धर्म एवं दर्शन के विद्वान हैं, आपने एम.ए. एवं पीएच.डी. (भारतीय दर्शन एवं विश्व के धर्म) तथा जैन दर्शन में आचार्य की उपाधियाँ प्राप्त की है। आपका द्वादशारनयचक्र एक समीक्षात्मक अध्ययन सहित दर्शनशास्त्र की विविध शाखाओं में १४ संशोधन परक ग्रंथों, ५० संपादित ग्रंथों तथा लगभग ७० शोधलेखों का भारतीय विद्या के क्षेत्र में योगदान रहा है।

प्रो. शाह १९९८ से बी. एल. इन्स्टिट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली के वाईस-चेयरमेन सहित देश एवं विदेश के एक दर्जन शैक्षणिक एवं सामाजिक संस्थानों में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं।

योगबिन्दु

Pages : 42 + 306
Copies : 1000
Price : Rs. 600/-
ISBN : 978-81-208-4186-4

॥ सत्त्वं लोयम्मि सारभूयं ॥

BHOGILAL LEHERCHAND INSTITUTE OF INDOLOGY

भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय विद्या संस्थान

वल्लभस्मारक, दिल्ली - ११० ०३६